प्रस्तावना

महाभारत के समान रामायण भी हमारे लिए प्रिय एवं पूज्य है। अतः रामायण की कथा का परिचय भी पाठकों के लिए इष्ट ही है। इसीलिए मैंने प्रस्तुत श्रीराम-चरित्र तैयार किया है। इस पुस्तक में पहले उपोद्‌घात के रूप में रामकथा के महत्व का थोड़े में उल्लेख करके आगे वाल्मीकि रामायण में वर्णित रामकथा दी गई है। कथा और वर्णन ठीक मूलग्रन्थ के ही हैं। अपवाद-स्वरूप एक दो स्थानों को छोड़ कर सारी कल्पनाएँ आद्य कवि की ही हैं। बल्कि स्थान, स्थान पर मूलग्रंथ के संस्कृत शब्दों का ज्यों का त्यों उपयोग किया गया है। अतः ग्रंथ पढ़ते समय परिचितों को यही मालूम होगा कि हम मूलग्रन्थ ही पढ़ रहे हैं, और अपरिचितों को महाकवि के उदात्त कवित्व का परिचय होगा। यथासम्भव ग्रन्थ की भाषा को सरस और सरल करने का प्रयत्न किया है। अन्त में एक छोटा सा उपसंहार भी जोड़ दिया है, जिसमें श्रीरामचंद्रजी के समय भारत की स्थिति और रामचरित्र के रहस्य का संक्षिप्त शब्दचित्र चित्रित करने का प्रयत्न किया है। इस पुस्तक में सारे विषय ऐसे लिये गये हैं कि वे बालक, बूढ़े, स्त्रियों और पुरुषों के लिए मनोरञ्जक और बोधप्रद हो सकें। मतलब यह कि इस बात का विशेष प्रयत्न किया है कि प्रस्तुत पुस्तक सब प्रकार से सभी दर्जों और वय के पाठकों के लिए सरस और उपयोगी हो। अब यह निर्णय पाठक करें कि हमारा यह प्रयत्न कहाँ तक सफल हुआ है।

चिंतामणि विनायक वैद्य

लागत का ब्यौरा

कागज़	४७०)
छपाई	४५०)
बाइंडिंग	६०)
लिखाई	५००)
व्यवस्था, विज्ञापन आदि खर्च	३७०)
	१८५०)

प्रतियाँ २०००

एक प्रति का लागत मूल्य ।।।≡)

अनुक्रमणिका

श्रीराम-चरित्र

॥ श्रीराम ॥

श्रीराम-चरित्र

उपोद्‌घात

भारतीय आर्यों के साहित्य में श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण सर्वोत्तम ग्रंथ है। उस ग्रंथ के महत्व का जितना वर्णन किया जाय, उतना थोड़ा ही होगा। यदि उसे 'कोहिनूर' की उपमा दी जावे तो भी अत्युक्ति न होगी। आर्यों की बुद्धि रूपी खान में से निकला हुआ वह एक अमूल्य रत्न है। उसकी किरणें समग्र आर्य-भूमि पर फैली हुई हैं और वे सब के लिए उज्ज्वल नीति की मार्ग-प्रदर्शक हो रही हैं। अतः यदि यह कहा जाय कि रामायण जैसा अपूर्व ग्रंथ किसी देश या किसी भाषा में नहीं है; तो अत्युक्ति न होगी। काव्य के मुख्यतः दो अंग होते हैं—एक तो कवि और दूसरा काव्य में वर्णित नायक। और इन दोनों अंगों की परिपूर्णता को देखते हुए यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि समग्र भूतल पर रामायण के सदृश अन्य कोई ग्रंथ नहीं है! श्रीरामचंद्र के समान अलौकिक सामर्थ्यशाली और उदात्त नीतिमान् पुरुष इतिहास में नहीं दीख पड़ता; और वाल्मीकि जैसा प्रतिभा-संपन्न और उच्च कल्पनाओं वाला कवि भी आज तक नहीं हुआ! पश्चिमीय प्राचीन देश ग्रीस और रोम में होमर और

वर्गिल नामक प्रसिद्ध कवि हो गये हैं और उनके ईलियड् और ईनिड नाम के दो काव्य उन देशों में बड़े आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। इंग्लैंड के कवि मिल्टन का 'पैराडाईज़ लॉस्ट' नामक काव्य भी अच्छा है। पर उन सभी काव्यों की अपेक्षा रामायण कहीं अधिक श्रेष्ठ है। हाँ, शायद होमर आदि कवि की तुलना वाल्मीकि से भले ही की जा सकती हो पर उनके काव्य के नायक आकिलिस, ईनियस या ऍडम् नीति-मत्ता की दृष्टि से श्रीरामचंद्र के सामने बिलकुल क्षुद्र से जान पड़ते हैं। सारांश भारतीय आर्यों को रामायण का इतना अभिमान होना सर्वथा योग्य ही है। वाल्मीकि-रचित रामायण भारतीय आर्यों को अत्यंत प्रिय है; और आज सहस्रों वर्षों से भारतीय आर्य श्रीरामचंद्र के गुणगान कर परमेश्वर के चरणों में लीन होते आ रहे हैं। उसी प्रकार सहस्रों वर्षों से श्री सीताजी का चरित्र भी भारतीय आर्य-स्त्रियों के अंतःकरणों को अपने अनुपम पावित्र्य से पुनीत करता आ रहा है। उनका असीम पतिप्रेम, अटल पातिव्रत्य, पति के साथ रह कर उनके संकटों को सहने की उनकी तैयारी इत्यादि अनेक गुणों के आदर्श हमारी स्त्रियों के सामने रहने के कारण भारतीय स्त्रियाँ, सहस्रों वर्षों से हमारे समाज का भूषण बन रही हैं। सारांश; श्रीराम या सीताजी के नाम से अपरिचित अभागा मनुष्य भारतवर्ष में—और कम से कम आर्यों में तो -आज तक न हुआ न है और न होगा। अतः इस बात को अधिक विस्तार के साथ वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है कि प्रत्येक हिन्दू विद्यार्थी को श्रीराम-चरित्र का कुछ न कुछ ज्ञान होना जरूरी है।

श्रीराम का उदात्त और मनोहर-चरित्र सांसारिक मनुष्यों के

लिए एक महान् नीतिदर्शक निष्कलंक आदर्श है। श्रीराम का नामोच्चारण करते ही हमारे सामने समस्त सद्गुणों की एक मोहक मूर्त्ति उपस्थित हो जाती है। यदि किसी को उत्तम पति, उत्तम पुत्र, उत्तम बंधु, उत्तम मित्र, उत्तम शत्रु और उत्तम राजा का भी आदर्श एक ही स्थान पर देखना हो तो वह श्रीराम के चरित्र को देख ले। एक समय वाल्मीकि ऋषि ने नारद मुनि से प्रश्न किया कि "वर्त्तमान समय में सर्वश्रेष्ठ राजा कौन है?" तब नारद मुनि ने श्रीरामचंद्र का ही नाम लिया। उस समय उन्होंने श्रीराम का जो वर्णन किया है वह बड़ा ही मनोहर है। 'इक्ष्वाकु-कुल के रामचंद्र ने अपने आप को जीत कर अपने पराक्रम से अपने शत्रुओं को भी जीत लिया है। वह बड़ा नीतिमान्, बुद्धिमान्, धर्मज्ञ और सत्य-प्रतिज्ञ है। वह बड़ा उदार और सज्जनों का आश्रयदाता है। साथ ही वह सबको एक ही नज़र से देखता है। वह समुद्र के सदृश गंभीर, हिमालय के सदृश निष्कम्प धैर्यशील, अग्नि के सदृश तीव्र क्रोधी, पृथ्वी के सदृश क्षमाशील, कुबेर के सदृश उदार और धर्म के सदृश सत्यवादी है। और, यही कारण है कि हम सर्वगुणसंपन्न श्रीरामचंद्र को प्रत्यक्ष परमेश्वर का अवतार मानते हैं। एक ही मनुष्य में सभी गुण होना बिना ईश्वरीय अंश के संभवनीय नहीं कहा जा सकता। इसी से जिनमें नीति और तेज का सम्मीलन दीख पड़ता है, उन्हें हम-आर्य लोग ईश्वरीय अंश मानते हैं। यद्यपि छत्रपति शिवाजी को भी महान् ऐश्वर्य प्राप्त हुआ था, पर उससे उनके सद्गुणों में कोई न्यूनता नहीं देख पड़ी। उनकी माता-पिता विषयक भक्ति, पर-स्त्री के विषय में मातृ-भाव, तथा अपूर्व प्रेम और उदारता आदि

गुणों को देख कर लोग यदि उन्हें भी श्री शंकर का अवतार मानें तो उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। फिर श्रीराम ने तो हमें सभी तरह से अत्यंत उदात्त नीति का पाठ पढ़ाया है। अतः यदि हम उन्हें भगवान् विष्णु का अवतार कहें तो क्या यह अनुचित होगा? श्रीराम के चरित्र की अपूर्व-नीतिमत्ता को देखकर प्रत्येक मत का मनुष्य उन्हें अवश्य ही आदर की दृष्टि से देखेगा। अतः भारतीय आर्यों को तो श्रीराम का चरित्र अत्यंत पूज्य और प्रिय होना सर्वथा स्वाभाविक ही है।

वास्तव में श्रीराम का उदात्त चरित्र वाल्मीकि के लोकोत्तर काव्य से अमर हो गया है। वाल्मीकि के रामायण रचनेकी कथा का ज्ञान भी हमारे पाठकों को होना आवश्यक है। उनके कथनानुसार नारदमुनि ने श्रीराम के गुण—गान कर उनका संक्षिप्त चरित वाल्मीकि को सुनाया। पर यह नहीं कहा जा सकता था कि वाल्मीकि को श्रीराम-चरित का ज्ञान ही नहीं था। श्रीराम की प्रिय पत्नी सीताजी उन्हीं के आश्रम में थीं। पर, जिस प्रकार अधिकारी मनुष्य की बात हृदय पर अच्छी तरह प्रतिबिम्बित हो जाती है, उसी प्रकार नारदजी के कहने पर वाल्मीकि के हृदय पर श्रीराम—चरित्र का अधिक प्रभाव पड़ा। श्रीराम-चरित्र का विचार करते हुए ही वे स्नान करने के लिए आश्रम से बाहर निकल पड़े। उनका आश्रम अंतर्वेदी में गंगा और तमसा नदियों के संगम पर था। उस समय उनके हृदय पर श्रीराम-चरित्र का गहरा प्रभाव हो गया था; अतः वे उसी विचार की धुन में तमसा नदी का किनारा तै करते हुए एक निबिड़ बन में घुस गये। इतने में क्रौंच पक्षियों का एक जोड़ा उन्हें दीख पड़ा। वह नदी तीर पर आनन्द

से क्रीड़ा कर रहा था कि इतने में एक शिकारी ने नर पक्षी पर बाण चलाया, जिससे वह पक्षी घायल होकर नीचे गिर पड़ा। मादा अपने-पति को मूर्छित और घायल देखकर शोकाकुल हो जोर जोर से चिल्लाने लगी। वह हृदयद्रावक दृश्य देख कर वाल्मीकि ऋषि का कोमल अन्तःकरण बहुत ही पसीजा और उन्होंने क्रोधित हो व्याध की ओर देखकर कहा कि 'हे निषाद तूने इस काम-मोहित नर पक्षी को निर्दयता से मार डाला है; अतः तुझे इस जगत में सहस्रों वर्ष तक प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं होगी। 'मा निषाद प्रतिष्ठांत्वमगमः शाश्वतीः समाः। यत्क्रौंच मिथुनादेकमवधीः काम मोहितम्' ये शब्द वाल्मीकि के मुख से उस समय इसी तरह छंद-बद्ध हो कर काव्य रूप में निकल पड़े। प्रायः जब कभी मनुष्य का हृदय द्रवीभूत हो जाता है, तब उसके मुख से स्वभावतः ही प्रासादिक लयबद्ध शब्द निकल पड़ते हैं। वाल्मीकि ऋषि पर तो जन्म ही से सरस्वती प्रसन्न थीं; अतः उस समय यदि उनके शोकोद्गार काव्य रूप ही में प्रकट हुए हों तो उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। लौकिक संस्कृत का चतुष्पाद युक्त यह पहला लयबद्ध श्लोक है। उस श्लोक की सुंदर रचना देखकर स्वयं वाल्मीकि को भी बड़ा आश्चर्य हुआ। और, उन्हें शोक के समय भी आनन्द हुआ। तब उनके मन में एकाएक यही विचार आया कि राम-चरित्र विषयक सुंदर श्लोक-युक्त काव्य रचना चाहिए। कल्पना दिल में आते ही स्वयं ब्रह्मदेव वहाँ पर प्रकट हुए और उन्होंने 'आदि कवि' के पद से वाल्मीकि का गौरव किया। तथा यह वर दिया कि 'मेरे प्रसाद से तुम्हें श्रीराम के समग्र चरित्र का ज्ञान फिर चाहे वह प्रत्यक्ष हो या गुप्त—गत हो या भावी

प्रत्यक्ष देखने के सदृश हो जायगा। इस प्रकार ब्रह्मदेव की कृपा से वाल्मीकि को रामचरित्र का समग्र ज्ञान हो जाने पर उन्होंने रसमयी मधुर भाषा और अपूर्व प्रतिभा से रामायण काव्य की रचना की। इस काव्य के छः कांड हैं और एक भविष्य-कथन युक्त उत्तर कांड भी है। काव्य के समग्र श्लोकों की संख्या २४००० थी। इस प्रकार काव्य-रचना हो जाने पर इस बात का ऋषि विचार करने लगे कि सब से पहले वह किसे पढ़ाया जावे! इतने में सीताजी के सुंदर पुत्र उन्हें दीख पड़े। उनकी कुशाग्र बुद्धि और मधुर कंठ को देखकर वाल्मीकि ने उन्हीं को वह काव्य पढ़ाना आरंभ कर दिया! श्रीराम का अपूर्व आदर्श चरित्र, आदि कवि की मनोहर कविता और तिसपर श्रीरामचन्द्र के से सौंदर्य-शाली और मधुर कंठ से गानेवाले उनके पुत्र! इतना अपूर्व संयोग जुड़ जाने पर फिर मोहकता का क्या ठिकाना? जो कोई उन बालकों का गायन सुनता, वह तल्लीन और मग्न हो जाया करता था! एक समय वालमीकि ऋषि श्रीरामचन्द्र का यज्ञ देखने के लिए उन बालकों को अपने साथ अयोध्या ले गये। तब उस काव्य को सुनने के लिए सहस्रों मनुष्य एकत्र होने लगे। अंत में उन बालकों की प्रशंसा श्रीरामचन्द्रजी तक पहुँची। तब उन्होंने वाल्मीकि को, उन बालकों सहित, बुला कर सभी ऋषियों के सन्मुख लव कुश को रामायण काव्य-गान करने की आज्ञा दी। और, बीन, मृदंग आदि वाद्यों के साथ ही साथ उन सुंदर बालकों ने अपने कोमल, और मधुर कंठ से काव्य-गान आरंभ किया। तब श्रीरामचन्द्र सहित सभी सभाजनों की वृत्तियाँ तल्लीन हो सभा चित्र के सदृश निश्चेष्ट हो गईं; (बालकांड, सर्ग १–४) वह कथा यों है।

बालकांड

आर्यावर्त में कोशल नामक एक विस्तीर्ण और समृद्ध देश है जिसमें शरयू नामक एक बड़ी नदी बहती है। सरयू के तट पर उस देश की राजधानी अयोध्या बसी हुई थी। वह नगर स्वयं मनु का बसाया हुआ था। उस नगर में विस्तीर्ण और चौड़े राज-मार्ग थे और उन मार्गों पर प्रतिदिन सुगन्धित जल छिड़का जाता था तथा स्थान-स्थान पर फूलों के बड़े-बड़े गमले रखे जाते थे। प्राचीन काल में मार्गों के मुख्य मुख्य स्थानों पर मुख्यतः चौराहों पर फूलों के हार और गुच्छे रखने की प्रथा थी, जिससे मार्ग बड़े सुहावने लगते थे और सारे शहर में उनकी महक फैल जाती थी। अयोध्या में स्थान स्थान पर बड़े बड़े बाजार थे, जिनमें सब प्रकार की वस्तुएँ बिक्री के लिए संग्रहीत रहती थीं। नगर के प्रायः सभी गृह ऊँचे—सात मंजिल के थे जिनके कारण अयोध्या नगरी बड़ी रमणीय दीख पड़ती थी। नगर के आस पास ऊँची और मजबूत दीवार थी। और शहर के दरवाजों पर तथा प्राकार के मुख्य-मुख्य बुर्जों पर मुख्य सामग्री सर्वदा तैयार रक्खी जाती थी। तट के बाहर पानी से भरी हुई गहरी खाई थी और प्रत्येक दरवाजे के पास खाई को नांघ कर जाने के लिए सरलतापूर्वक उठाने और रखने के योग्य पुल बने हुए थे। नगर के बाहर विस्तीर्ण और रमणीय वाटिकाएँ थीं, जहाँ पर प्रतिदिन संध्या के समय नगर के स्त्री-पुरुष घूमने के लिए जाया करते थे। उस समय विन्ध्य और हिमालय पर्वत से

आये हुए ऊँचे और सजे हुए हाथी इधर-उधर घूमते हुए देख पड़ते थे। साथ ही सिंध, कांबोज बल्क इत्यादि देशों के सैकड़ों सुन्दर घोड़े भी देख पड़ते थे। उन हाथियों और घोड़ों पर बढ़े हुए वीर भी ऐसे न थे अन्यत्र नहीं भी देख पड़ते हों। वे कभी अपने शत्रुओं पर अचानक बाण नहीं छोड़ते थे और न उनका बाण ही कभी खाली जाता था। वे केवल अपनी भुजाओं से ही सिंह जैसे भयंकर जीवों को मार सकते थे। ऐसे शूर क्षत्रियों, विद्वान् ब्राह्मणों और श्रीमान् व्यापारियों से मंडित अयोध्या नामक राजधानी में इक्ष्वाकु-वंशीय राजा दशरथ राज्य करते थे। दशरथ बड़े न्यायी, दूरदर्शी, धर्मशील और प्रजा-प्रिय थे। उन्होंने अपने अपूर्व पराक्रम के बल पर अनेक राजाओं को जीत लिया था, जिससे उनकी कीर्ति जगद्व्यापिनी हो गई थी और सैकड़ों नरेश उनसे मित्रता करने की इच्छा करते थे। उनके अष्ट प्रधान भी बड़े बुद्धिमान् और विश्वासपात्र थे। दशरथ राजा की प्रजा संतुष्ट सुखी, चतुर, शुद्धाचरणी और एकता से रहने वाली थी। उनके राज्य में चोर, दुष्ट, झूठा और व्यभिचारी एक भी न था! सारांश, उनके राज्य-काल में कोशल देश में सभी प्रकार का सुख विराजता था। (बालकांड सर्ग ५—७)

राजा दशरथ को सारी बातें अनुकूल होने पर भी केवल एक ही बात की कमी थी। उनकी तीन पतिव्रता रानियों में से किसी के भी संतान नहीं थी। जिससे राजा सदा दुखित रहते थे। अन्त में उन्होंने सोचा कि संभव है कि अश्वमेध और पुत्र-कामेष्टि यज्ञ करने पर ईश्वर कृपा करें और मुझे पुत्र-प्राप्ति हो।

अतः उन्होंने अपना निश्चय वशिष्ठ गुरु तथा सुमंत्र आदि

मंत्रियों से कहा ।। तब सभी ने राजा के निश्चय का अनुमोदन किया । शीघ्र ही अश्वमेध-यज्ञ की सामग्री एकत्र करने का प्रबंध किया गया । शरयू के तट पर एक विस्तीर्ण यज्ञ-मंडप बना कर यज्ञ के लिए सहस्रों मन अन्न सामग्री एकत्र की गई । तब राजा दशरथ ने अपनी तीनों रानियों को यज्ञ को दीक्षा लेने की आज्ञा दी । संतान न होने से उनके मुख सर्वदा चिंतित और कुम्हलाए हुए रहते थे, अतः राजा की यह आज्ञा सुनते ही उनके मुख कमल से खिल गये । गुरु वसिष्ठ ने राजा दशरथ को उनकी तीनों रानियों सहित यज्ञ-दीक्षा दे कर यज्ञ का घोड़ा छोड़ा । वह घोड़ा बहुत से देश घूमकर और उसके वापिस आने पर ऋत्विजों ने यथा विधि उसका अग्नि को बलि दिया तथा अश्वमेध के संपूर्ण होते ही ऋष्यशृंग ने दशरथ के लिए पुत्रकामेष्टि यज्ञ का आरंभ किया । (बालकांड सर्ग ११)

ऋष्यशृंग को खासकर पुत्र-कामेष्टी के लिए ही निमंत्रित किया था । वे राजा दशरथ के जामाता थे । उनकी कथा बड़ी विचित्र और मनोरंजक है । वे विभाण्डक ऋषि के पुत्र थे और बचपन से उनका अपने पिता के ही निरीक्षण में प्रतिपालन हुआ था । विभाण्डक ऋषि अपने पुत्र को पल भर भी अपनी आँखों की ओट में नहीं जाने देते थे । इस प्रकार से उनका लालन-पालन होने के कारण वे अत्यंत तेजस्वी और विद्वान ब्राह्मण कह-लाने लगे । एक समय राजा दशरथ के मित्र, अंग देश के राजा, लोमपाद के राज में बड़ा अकाल पड़ा, जिससे सारा देश दुखित हुआ और प्रजा बिना अन्न-पानी के भूखों मरने लगी । तब कई लोगों ने राजा लोमपाद को सलाह दी कि यदि आप ऋष्यशृंग

को अपने राज में लावेंगे तो पर्जन्य वृष्टि हो कर प्रजा सुखी होगी, पर, विभाण्डक ऋषि के डर से कोई भी वह कार्य नहीं कर सकता था। तब राजा ने दशरथ की कन्या शान्ता को दत्तक ले कर उस कन्या का विवाह ऋष्यशृंग से करने का निश्चय किया। इस प्रकार विभाण्डक ऋषि के कोप-शमन की युक्ति को सोचकर तथा एक दिन जब कि विभाण्डक ऋषि आश्रम से कहीं बाहर चले गये थे, राजा लोमपाद ऋष्यशृंग को फुसला कर उन्हें अपने राज में ले गये, जिससे पर्जन्य वृष्टि हो कर अंग देश की प्रजा बड़ी सुखी हुई। शीघ्र ही राजा ऋष्यशृंग को अपने घर ले गये और अपनी कन्या शान्ता उन्हें अर्पण कर दी एवं बड़ी धूमधाम से विवाहोत्सव आरंभ किया। उधर आश्रम में पुत्र को न देख कर विभाण्डक ऋषि बड़े दुःखित हुए और वे उनकी खोज में निकल पड़े। उनके क्रोध-शमन करने की युक्ति तो राजा लोमपाद ने पहले ही से सोच रक्खी थी। अतः ज्यों ही विभाण्डक ऋषि ने अंग देश में प्रवेश कर उसके अधिपति का नाम पूछा त्यों ही प्रजा ने उसे ऋष्यशृंग का देश बतलाया! और जब उन्होंने चंपा-नगरी में प्रवेश किया तो देखा कि जिधर-तिधर विवाहोत्सव हो रहा है। ऋषि के उत्सव का कारण पूछने पर उन्हें कहा गया कि ऋष्यशृंग का विवाहोत्सव हो रहा है। पुत्र के विवाह समाचार सुनकर तो उनका आधा क्रोध गायब हो गया। अन्त में राज-महल में प्रवेश करने पर और वहाँ पर अपने पुत्र और पुत्रवधू को देख कर उन्हें परमानन्द हुआ और उन्हें आशीर्वाद दे वे अपने आश्रम को लौट गये। ऋष्यशृंग, राजा लोमपाद और राजा दश-रथ के जामाता होने की यही मनोरंजक कथा है। विद्यार्थी दशा में

संसार से अलिप्त रहने से मनुष्य कैसा तेजस्वी और सामर्थ्यशाली हो सकता है; इसका चित्र इस कथा में अच्छी तरह से अंकित किया गया है। (बालकांड सर्ग ९—१०) अस्तु।

ऋष्यशृंग ने दशरथ के लिए पुत्रेष्टि यज्ञ का आरंभ किया और वे अथर्वशीर्ष में कथित मंत्रों से पवित्र किये हुए हविर्भाग अग्नि को समर्पण करने लगे। अन्त में यज्ञ समाप्ति का अवसर आ पहुँचा, तब अग्नि में से एकाएक एक दिव्य पुरुष प्रकट हुआ। उसका रंग काला था और वह लाल रंग के वस्त्र पहिने था। रत्न भूषण धारण किये हुए वह सूर्य के सदृश दैदीप्यमान था। उसके हाथ में दिव्य पायस भरा हुआ एक सुवर्ण पात्र था। उसने दशरथ से कहा, 'राजा, मैं प्राजापत्य पुरुष तेरे यज्ञ से संतुष्ट हो कर, तेरी इच्छा पूर्ण करने के लिए यहाँ आया हूँ। यह देवताओं का तैयार किया हुआ पायस तू अपनी रानियों को पिला दे, जिससे उन्हें देवताओं के सदृश पुत्र होंगे। तब राजा दशरथ ने उस दिव्य पुरुष को साष्टांग दंडवत कर बड़े नम्र भाव से उससे वह सुवर्ण-पात्र ले लिया, और वह दिव्य पुरुष अग्नि में गुप्त हो गया। दशरथ ने बड़े प्रेम से वह अपनी रानियों को दिया। सब से पहिले ज्येष्ठ रानी कौशल्या जी को आधा हिस्सा दिया और शेष आधे में से आधा दूसरी रानी सुमित्रा जी को तथा बचा हुआ भाग कैकेयी को दिया। पर, फिर से कुछ सोच कर कैकेयी के भाग में से आधा सुमित्रा जी को और भी दिया। इस प्रकार उस पायस के बाँट देने पर तीनों रानियों ने उसे बड़ी भक्ति और आनंद से प्राशन किया। यज्ञ समाप्त हो जाने पर राजा ने ऋत्विजों को असंख्य द्रव्य दक्षिणा रूप में दिया, ब्राह्मणों को

अन्न दान दिया और सेवकों को बहुमूल्य वस्त्र प्रदान किये। योग्य समय पर तीनों रानियाँ गर्भवती हुईं, जिससे प्रजा को बड़ा आनंद हुआ। बारह मास पूर्ण होने पर चैत्र शुक्ल नवमी को ठीक मध्याह्न समय को, जब पुनर्वसु नक्षत्र पर पांच ग्रह उच्च स्थान पर तथा गुरु और चंद्र कर्क लग्न में थे, श्री कौशल्या जी की कोख से परम वंदनीय, जगत्पति, श्रीरामचंद्रजी ने श्री विष्णु के आधे अंश से जन्म ले कर इक्ष्वाकु-कुल को पवित्र किया। दूसरे दिन कैकेयी के उदर से भरतजी ने जन्म लिया; और तीसरे दिन सुमित्रा के उदर से विष्णु अंशधारी लक्ष्मण अवतीर्ण हुए। पुष्य नक्षत्र पर मीन लग्न में भरत का जन्म हुआ और आश्लेषा नक्षत्र पर कुलीर अर्थात् कर्क लग्न में लक्ष्मण-शत्रुघ्न का जन्म हुआ था। सारांश: श्रीरामचंद्र जी सब से बड़े थे। उनसे छोटे भरत, भरत से छोटे लक्ष्मण और लक्ष्मण से छोटे शत्रुघ्न थे।

प्राचीन काल में छोटा भाई बड़े भ्राता का पिता की तरह आदर करना और उनकी सेवा भी करता था। तदनुसार वे तीनों छोटे छोटे भाई श्रीरामचंद्र जी का बड़ा आदर करते और उनकी सेवा भी करते थे, पर श्रीरामचंद्र जी का विशेष कर लक्ष्मणजी पर अधिक प्रेम था और वे भी उनकी बहुत सेवा करते थे। शत्रुघ्न का प्रेम भरत पर अधिक था और वे भरत की सेवा करते थे, जिससे राम-लक्ष्मण और भरत शत्रुघ्न की जोड़ियां अच्छी देख पड़ती थीं बल्कि अब भी उनका नाम निर्देश उसी तरह से किया जाता है। अस्तु, पुत्र जन्म होते ही राजा दशरथ के महलों और समग्र राज्य में असीम आनंद की घटाएँ उमड आईं। राजा ने इस आनंद के उपलक्ष्य में सहस्रों गौएँ दान दीं, बंदिजनों को

इनाम दिये और इष्ट मित्रों को मांगलिक उपहार भेंट किये। बारहवें दिन गुरु वसिष्ठ जी ने बालकों के नाम राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न रक्खे। वे बालक शुक्ल पक्ष के चंद्रमा की नाईं बढ़ने लगे और यथा समय उनके यज्ञोपवीत, विद्याध्ययन आदि संस्कार किये गए। श्रीरामचंद्र जी बड़े बुद्धिमान, तेजस्वी और बलवान् थे। उनके सद्गुण, बुद्धिमता और मोहकता को देखते हुए उनका नाम रामचंद्र यथार्थ था। पूर्णिमा के चंद्रमा की नांईं श्रीरामचंद्र जी को देखकर उन्हें देखने वालों की दृष्टि नहीं अघाती थी। वे चारों राजपुत्र घोड़े और हाथी पर बैठने, धनुष-बाण चलाने आदि क्षात्र-विद्या में तथा शनैः शनैः वेद विद्या में भी निपुण हो गये। विद्याध्ययन करने की दशा में भी उन चारों बालकों ने अपने माता-पिता की सेवा करने में कोई बात उठा न रक्खी। लक्ष्मणजी अपने भ्राता श्रीरामचंद्रजी की सेवा बड़े प्रेम और भक्ति से करते थे। जब श्रीरामचंद्र जी घोड़े पर बैठ कर बन में मृगया के लिए जाते तब लक्ष्मण जी भी धनुष्य लिये पैदल ही उनके साथ-साथ हो लेते थे। इस प्रकार वे चारों राजपुत्र अपने सौजन्य, विद्या और मनोहर रूप से सर्व जनता को अत्यंत प्रिय हो गये; और महाराजा दशरथ को उन गुणी और सुंदर पुत्रों को देखकर जो सुख और आनन्द होता था उसके आगे तो स्वर्ग सुख भी तुच्छ जान पड़ता था। (बाल-सर्ग १५—१८)

एक दिन महाराजा दशरथ अपने मंत्रियों सहित राजपुत्रों के विवाह की चर्चा कर रहे थे कि इतने में एकाएक विश्वामित्र ऋषि वहाँ पर उपस्थित हुए। उनके आगमन के समाचार सुनते ही महाराजा दशरथ बड़े भक्तिभाव से उनकी मधुपर्क से पूजा कर

उन्हें सभा में लिवा लाये और एक सुंदर आसन पर बैठा कर हाथ जोड़ कर प्रार्थना की 'मुनिराज आपके अकल्पित आगमन से मुझे जो आनन्द हुआ है, वह वर्णनातीत है। आप जैसे महर्षि स्वयं ही मेरे यहाँ पर उपस्थित हुए हैं; अतएव मैं अपने को बड़-भागी समझता हूँ। आपकी जो कुछ इच्छा हो कहिए। आपको जिस चीज की जरूरत होगी मैं वह आपको अवश्य ही दूंगा। आप निःशंक हो मुझे आज्ञा दीजिए।' दशरथ जी के उन प्रेम भरे वाक्यों को सुनकर विश्वामित्र बोले, 'राजन्! इक्ष्वाकु-कुल में तुम्हारा जन्म हुआ है और तुम्हारे गुरु ऋषिवर्य वसिष्ठजी हैं। भला ऐसी प्रेममयी वाणी और विनय अन्यत्र कहाँ हो सकते हैं? तुम अपने वचनानुसार मेरी प्रार्थना अवश्य ही मान्य करोगे। मैं यज्ञ करना चाहता हूँ। किन्तु मारीच और सुबाहु नाम के दो राक्षस मेरे कार्य में सर्वदा विघ्न उपस्थित करते हैं। मेरे यज्ञ का आरंभ होते ही वे वेदी पर रक्त, मांस आदि अमंगल वस्तुएँ ला-ला कर डाल देते हैं। यद्यपि मैं स्वयं उनका नाश कर सकता हूँ; पर अत्यंत परिश्रम से संपादित तपोवन को मैं नष्ट नहीं करना चाहता। अतएव मेरे यज्ञ की रक्षा के प्रीत्यर्थ तुम अपने पुत्र श्री-रामचन्द्र को मेरे साथ भेज दो। तुम्हारा यह पुत्र छोटा तो है किन्तु यह महान् पराक्रमी है और मेरी संरक्षकता में उसपर किसी प्रकार का भी संकट नहीं आ सकेगा। इसलिए तुम्हें उसके विषय में जरा भी चिंता न करनी चाहिए। मेरी कृपा से श्रीरामचन्द्र का भी बहुत कल्याण होगा। शीघ्र ही यज्ञ का आरंभ करने की मेरी इच्छा है, अतः श्रीरामचन्द्र को दस दिन के लिए मेरे साथ अवश्य भेज दो।" विश्वामित्र ऋषि के इन वाक्यों को सुनते ही

महाराजा दशरथ पर मानो एक संकट का पहाड़ सा आन पड़ा। वे स्तब्ध हो गये। पर शीघ्र ही अपने आपको संभाल कर वे अत्यंत व्याकुलता पूर्वक बोले, ऋषिवर! अभी श्रीरामचन्द्र की आयु पूरी सोलह वर्ष की भी नहीं है; अतः वह अभी राक्षसों से युद्ध करने योग्य नहीं हैं; फिर आप उसे अपने साथ कैसे ले जा रहे हैं? यदि आप चाहें तो स्वयं मैं आप के साथ एक अक्षौहिणी सेना सहित चलने को तैयार हूँ। और, वचन देता हूँ कि जब तक मुझ में ज़रा भी शक्ति बच रहेगी, सेना को आगे लेकर मैं राक्षसों से जूझता रहूँगा। परन्तु आप श्रीराम को अपने साथ न ले जाइए। अभी वह कम उम्र है, न उसने अस्त्रविद्या का अध्ययन किया है और न उसे युद्ध का ही अनुभव है। राक्षस कपट-विद्या में बड़े चतुर होते हैं, और श्रीराम को उनके दाँव-पेंचों का ज़रा भी ज्ञान नहीं है। सुन्दोपसुन्द के पुत्र मारीच और सुबाहु बड़े ही पराक्रमी और काल के सदृश भयंकर हैं। अतः उनसे युद्ध करने के लिए श्रीराम को न ले जावें। और यदि आप किसी प्रकार मेरी प्रार्थना को स्वीकार न कर सकते हों तो श्रीरामके साथ-साथ मुझे भी आपके साथ चलने की आज्ञा दें।

श्रीराम के बिना मुझे एक पल भर भी चैन नहीं पड़ेगी। हे ऋषीश्वर! क्षमा कीजिए! मैं अकेले श्रीराम को आपके साथ नहीं भेज सकता।" दशरथ के इन वाक्यों को सुनकर विश्वामित्र कुछ क्रुद्ध हो कर बोले "राजा! पहले वचन दे कर अब तुम मेरी प्रार्थना को नहीं मानते; यह तुम्हारे कुल के लिए बड़े कलंक की बात है। अस्तु, यदि तुम श्रीराम को नहीं दे सकते तो मैं जाता हूँ।" यों कह कर विश्वामित्र तो चलने को उठ खड़े हुए। चारों ओर हाहाकार मच

गया, और पृथ्वी काँपने लगी ! तब गुरु वसिष्ट राजा दशरथ से बो
'राजा ! इक्ष्वाकु-कुल में जन्म धारण करके वचन भंग करना तुम्हें शोभा न
देता।' श्रीरामचन्द्र अस्त्र-विद्या जानते हों या उन्हें उसका किंचिन्मा
भी ज्ञान न हो, परन्तु तुम निश्चय पूर्वक जान लो कि उन्हें कोई राक्ष
हानि नहीं पहुँचा सकता। तिस पर भी ऋषि विश्वामित्र श्रीरा
के संरक्षक हैं ही। वे महान् तपस्वी-प्रत्यक्ष धर्म तो हैं ही। प
साथ ही अत्यंत पराक्रमी वीर भी हैं। वर्तमान समय में इन
सदृश अस्त्र विद्या जानने वाला कोई नहीं है और न भविष्य
कोई होगा। अतः उनके साथ श्रीराम को भेजने से उनका ज़र
भी अकल्याण न होगा; उलटे उनका बहुत भारी हित ही होगा
इसलिए तुम निःशंक हो कर श्रीराम को ऋषिवर के साथ भेज
दो। वसिष्ठ गुरु का उपदेश सुनकर राजा को अपनी उलटी
समझ पर पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने शीघ्र ही श्रीराम और
लक्ष्मण को बुला कर बड़े आनन्द से उन्हें विश्वामित्र ऋषि के
साथ विदा कर दिया (बाल० सर्ग १८-२१)

वसिष्ठ ऋषि ने विश्वामित्र की जो प्रशंसा की, वह यथार्थ ही
थी। ऋषि विश्वामित्र जन्म से क्षत्रिय होने पर भी अपने तप के
बल पर ब्राह्मण कहलाये थे। आर्यों के परम-पूजनीय सात
ऋषियों में विश्वामित्र की गणना की जाती है तथा आर्यों के
परम वंदनीय गायत्री मंत्र के ऋषि भी वे ही हैं। विश्वामित्र के
क्षत्रिय से ब्राह्मण बनने की कथा बड़ी ही शिक्षाप्रद है। ब्रह्मदेव
के पुत्र कुश के पांच पुत्र थे। उन पांचों में से कुशनाभ के गाधि
नामक पुत्र हुआ और गाधि के पुत्र का ही नाम विश्वामित्र था।
इसीलिए विश्वामित्र को कुश के पौत्र कौशिक और गाधि के पुत्र

के नाते गाधिज भी कहते हैं। विश्वामित्र ने अपने परम्परागत कनोज के राज्य का प्रबंध वर्षों तक सुव्यवस्थित रीति से चलाया। एक दिन जब वे अपनी सेना-सहित बन में शिकार खेलने को गये तो वहाँ पर उन्हें वसिष्ठ ऋषि का आश्रम दिखाई दिया। वसिष्ठ जी ने उनका बड़े आदर से स्वागत करके उन्हें अपने ही आश्रम में ठहराया। उनके पास शबला नाम की एक कामधेनु थी जो ऋषिवर को इच्छित पदार्थ दिया करती थी। विश्वामित्र का आदरातिथ्य करने के लिये ज्यों ही वसिष्ठजी ने शबला से सामग्री माँगी त्योंही उसने उन्हें दिव्य सामग्री दे दी। अब क्या था। वसिष्ठजी ने उस सामग्री से बड़े ठाट-बाट के साथ विश्वामित्र का भोजनादि आतिथ्य-सत्कार किया, जो राजा-महाराजाओं से भी न बन पड़ता। आश्रम में कोई सामग्री न होते हुए भी इतने ठाट बाट से किये सत्कार को देखकर राजा बड़े आश्चर्य चकित हुए। पर, जब उन्होंने ऋषि वसिष्ठजी की कामधेनु के अपूर्व सामर्थ्य के समाचार सुने, तब उस कामधेनु को प्राप्त करने की एक दुर्दम-नीय इच्छा ने उन्हें धर दबाया। वे वसिष्ठजी को उस कामधेनु के बदले में और तो क्या अपना राज्य भी देने के लिए तैयार हो गये। परन्तु वसिष्ठ ने उनकी प्रार्थना को स्वीकार नहीं किया। एक क्षुद्र ब्राह्मण को अपने सदृश साम्राज्य-सत्ताधारी की इस प्रकार अवहेलना करते देखकर विश्वामित्र बड़े कुपित हुए और उन्होंने अपनी सत्ता के मद में चूर हो उस कामधेनु को जबरन ही ले जाने की आज्ञा अपने सैनिकों को दी। जब वे सैनिक शबला को ले जाने लगे, तब उन्हें एक ओर ढकेल कर दुखित हो शबला वसिष्ठ के पास आई और उसने ऋषि से पूछा, 'आप मेरा त्याग

क्यो करते हैं ? वसिष्ठजी ने उसे समझा कर कहा कि 'मैं तेरा त्याग नहीं करता, राजा ही तुझे जबरन लिये जा रहा है। इतने पर भी यदि तेरी इच्छा हो तो तू यहीं पर रह।' वसिष्ठजी के ये वाक्य सुनते ही शबला ने क्रुद्ध होकर अपने बालों से लाखों "यवन" वीर उत्पन्न किये और उन वीरों ने विश्वामित्र की सेना को परास्त कर दिया।

विश्वामित्र ने देखा कि वसिष्ठ ने बैठे ही बैठे यवनों द्वारा मेरी सेना को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और वे बहुत लज्जित हुए। चुप-चाप अपना सा मुंह लेकर अपनी राजधानी को लौट गये और अपने पुत्र को राज्याधिकारी बनाकर, वसिष्ठजी का बदला लेने के उद्देश्य से वे तप करने के लिए हिमालय की ओर चल दिये। शीघ्र ही अपनी कठिन तपश्चर्या से उन्होंने भगवान् शंकरजी को प्रसन्न कर उनसे संपूर्ण धनुर्विद्या और अस्त्र-विद्या प्राप्त कर ली। इस प्रकार युद्ध का सामर्थ्य प्राप्त करते ही उन्होंने फिर वसिष्ठ के आश्रम पर चढ़ाई की और अपनी अस्त्र-विद्या के बल पर उनका आश्रम नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। तब वसिष्ठ ऋषि ने भी विवश हो अपने ब्रह्मदण्ड से विश्वामित्र का सामना किया। विश्वामित्र ने अनेक अस्त्र वसिष्ठ पर छोड़े, पर उनके उस ब्रह्मदण्ड के आगे उनकी एक भी नहीं चली। अन्त में उन्होंने ब्रह्मास्त्र का उपयोग किया, किन्तु उनका वह प्रयत्न भी सफल न हुआ। तब तो वे चकित हो गये। सहसा उनके मुँह से निकल पड़ा—'धिग्बलं क्षत्रिय-बलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्' और वे ब्रह्मत्व की प्राप्ति का निश्चय कर फिर से तपश्चर्या करने के लिए जंगल में चल दिये। ज्ञान-बल के मुकाबले में शारीरिक बल जैसे अन्य बल व्यर्थ हैं; यह एक अमिट

सिद्धान्त है। इसीलिए बुद्धिमान् लोग ज्ञान की महिमा गाते हैं और उसकी प्राप्ति की चिन्ता में सर्वदा लगे रहते हैं।

विश्वामित्रजी ने ब्रह्मत्व की प्राप्ति के लिए सहस्त्रों वर्ष तक कठिन तपश्चर्या की; पर तो भी ब्रह्मदेवजी ने उन्हें 'राजर्षि' पद की अपेक्षा अधिक सम्मानित नहीं किया। आखिर विश्वामित्र ने ब्रह्मदेव से पूछा, कि 'आप मुझे ब्रह्मर्षि' क्यों नहीं कहते? ब्रह्माजी ने उत्तर दिया 'अभी तुम जितेंद्रिय नहीं हुए हो'। अर्थात् केवल ज्ञान-प्राप्ति से ही आदमी ब्राह्मण नहीं कहलाता, वरन् ज्ञान के अनुसार आचरण भी शुद्ध होना आवश्यक है। विश्वामित्रजी को ब्रह्माजी के उक्त कथन की सत्यता भी शीघ्र ही मालूम हो गई।

त्रिशंकु नाम का एक राजा अयोध्या में राज्य करता था। उसे अपने देह-सहित स्वर्ग को जाने की इच्छा हुई और उसने कुलगुरु वसिष्ठजी से अपनी इच्छा की पूर्ति करने के प्रीत्यर्थ यज्ञ करने की प्रार्थना की। पर, यह असंभव जानकर वसिष्ठ ने त्रिशंकु के कथन का निषेध किया। राजा ने सोचा "सम्भवतः वसिष्ठ के शत्रु विश्वामित्र मेरी इच्छा को तृप्त कर सकेंगे" अतः उसने विश्वामित्रजी से अपनी इच्छा सुनाई। तब उन्होंने राजा की प्रार्थना को मान कर अपने तप के बल पर उसे सदेह स्वर्ग को भेज दिया। पर, इन्द्र को यह पसंद न हुआ; अतः उन्होंने त्रिशंकु को स्वर्ग से नीचे ढकेल दिया। यह देख कर विश्वामित्र ने अपने तप के बल पर 'तिष्ठ तिष्ठ' कह कर उसे आकाश ही में रोक दिया! आज भी नीचे को सिर किया हुआ त्रिशंकु का तारा दक्षिण आकाश में चमकता हुआ दिखाई देता है! इस प्रकार जब विश्वामित्र ने, वसिष्ठजी से डाह कर के, त्रिशंकु के

लिए अपना सारा तपोबल खर्च कर डाला, तब उन्हें फिर से तप करना पड़ा। इस बार इन्द्र ने विघ्न किया। उनका तप भंग करने के लिए उसने मेनका नामक एक अप्सरा को भेजा। मेनका को विश्वामित्र से शकुंतला उत्पन्न हुई, तब उन्हें पुनः पश्चात्ताप हुआ और, उन्होंने मेनका का त्याग कर फिर से पांचवीं बार तप करना आरंभ किया! अबकी बार इन्द्र ने रंभा को भेजा और विश्वामित्र ने गुस्सा होकर उसे शाप दे दिया। तपस्या विफल! किन्तु फिर से तपश्चर्या प्रारंभ की गई। इस प्रकार अनेक विघ्नों के आने पर भी विश्वामित्र अपने उद्देश्य से विमुख नहीं हुए। अन्त में जब सभी इन्द्रियों को वश में करके सहस्रों वर्षों तक उन्होंने तप किया, तब ब्रह्मदेव ने प्रसन्न हो उन्हें 'ब्रह्मर्षि' का पद प्रदान किया। विश्वामित्रजी ने ब्रह्मदेव से ऋषि वसिष्ठ द्वारा 'ब्रह्मर्षि' कहलाने की प्रार्थना की, तब वसिष्ठजी ने वहाँ आकर 'ब्रह्मर्षि' कह कर विश्वामित्रजी का गौरव बढ़ाया और ब्रह्माजी ने उन दोनों महर्षियों की मित्रता करा दी। इस प्रकार विश्वामित्र क्षत्रिय से ब्राह्मण हुए। श्रीशंकरजी के प्रसाद से उन्हें अस्त्र-विद्या तो पहले ही प्राप्त हो चुकी थी। अतः विश्वामित्रजी अपने तपोबल पर 'शापादपि शरादपि' तेजस्वी हुए। (बाल० सर्ग ५१–६५) अस्तु।

राजा दशरथ ने गुरु वसिष्ठजी की आज्ञा को मानकर राम-लक्ष्मण को विश्वामित्रजी को सौंप दिया, तब माता कौशल्याजी ने भी बड़े प्रेम से उन्हें आशीर्वाद दे बिदा किया। आगे आगे विश्वामित्रजी चलते थे और उनके पीछे श्रीराम और लक्ष्मणजी हो लिए। शीघ्र ही वे शरयू नदी पर पहुँचे। शरयू पर आते ही विश्वामित्रजी ने श्रीरामचंद्रजी को बड़े प्रेम से अपने पास बुला

कर, कहा—"श्रीराम, आओ बच्चा, हाथ में जल लो, आओ, अब मैं तुमको 'बला' और 'अतिबला' विद्याएँ सिखला दूँ। इन मंत्रों के बल से तुम्हें परिश्रम कभी असह्य नहीं मालूम देंगे, ज्वर भी नहीं आवेगा और न तुम्हारा स्वरूप ही फीका पड़ेगा, भूख-प्यास की पीड़ा भी नहीं होगी और तुम्हारे निद्रितावस्था की असावधानता में कोई राक्षस तुम पर चढ़ाई भी नहीं कर सकेगा। सारांश तुम्हारे सदृश वीर न कोई इस समय है और न भविष्य में होगा। अतः तुम इन मंत्रों को ग्रहण करो।" विश्वामित्रजी के इन प्रेम-पगे वचनों को सुनते ही श्रीराम ने हाथ में पानी लेकर उनसे वे विद्याएँ प्राप्त कर लीं। उस समय रामचंद्रजी के मुखमंडल पर अपूर्व तेज चमकने लगा। अनन्तर उन उभय राजपुत्रों ने विश्वामित्रजी की सेवा कर तीनों के लिए सूखे पत्तों की शय्या तैयार की और तीनों ने वह रात शरयू के तीर पर ही बिताई।

दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही विश्वामित्र जी ने राम लक्ष्मण को निद्रा से सचेत किया। तब उन्होंने प्रातर्विधि से निवृत्त हो शरयू नदी में स्नान किया और आगे को चलने की तैयारी करके विश्वामित्र जी के पास आ उन्हें नमस्कार किया और वे तीनों राह चलने लगे। उस दिन संध्या के समय वे शरयू और गंगा नदी के संगम पर जा पहुँचे। वहाँ पर बहुत से ऋषियों के आश्रम थे; अतः उन ऋषियों ने आये हुए अतिथियों का स्वागत कर उन्हें, उस रात को, वहीं पर ठहरा लिया। दूसरे दिन प्रातःकाल को नित्य कर्मों से छुट्टी पा नौका पर सवार हो शरयू और गंगा के संगम के मार्ग से वे गंगा नदी को पार कर गये। अनंतर वे उन दोनों नदियो को नमस्कार कर अपना मार्ग तय करने लगे। अब

उन्हें एक भयावने अरण्य में होकर जाना पड़ा। उस अरण्य में घने जंगली वृक्ष थे और वे इतने ऊंचे बढ़ गये थे कि मानों वे आकाश को थाम रहे हों वृक्षों पर चारों ओर से बेलें तन गई थीं। चारों ओर कंटीले वृक्ष होने के कारण प्रायः मार्ग रुक गये थे। और, उनकी डालियों में बाघ, सिंह, चीते, रीछ जैसे भयंकर वन्यपशु रहते थे और बारम्बार उनकी भयदायी गर्जनाएँ सुन पड़ती थीं। चारों ओर से सांय सांय की एक सी आवाज़ आ रही थी तथा स्थान-स्थान पर सर्पों के भयंकर फूत्कार भी सुनाई देते थे। यदि आकाश की ओर दृष्टि फेंकते तो भी प्रचंड क्रूर पक्षी मंडराते हुए दिखाई देते थे। उस घोर अरण्य को देखकर श्रीरामजी ने विश्वामित्र जी से पूछा 'यहाँ पर इतना घना जंगल क्यों बढ़ गया है? विश्वामित्र ने कहा 'पहले यह मलदकारूष नामक एक बड़ा ही उर्वर प्रदेश था। पर जब से यहाँ पर सुंद की पत्नी ताड़का नामक यक्षिणी घूमने लगी है, तबसे यह देश निर्जन होकर इस प्रकार का भयंकर अरण्य रह गया है। उस यक्षिणी से इस देश की मुक्ति कराने के ही उद्देश्य से मैं तुमको यहाँ पर लाया हूँ; अतः उसका वध करके इस देश को सुखी करो। स्त्री-हत्या के दोष की आशंका भी मन में न लाओ। (संसार को दुःख देने वाली स्त्रियों का वध करने में कोई पाप नहीं है)। जब भृगुऋषि की स्त्री अर्थात् शुक्र की माता इंद्र का नाश करने को तैयार हुई, तब शीघ्र ही श्रीविष्णु ने उसे मार डाला। उसी प्रकार जब विरोचन की कन्या मंथरा समग्र पृथ्वी का द्रोह करने लगी, तो इन्द्र को विवश हो उसका वध करना पड़ा। सारांश, दुष्टा स्त्री का वध करने में दोष नहीं है; चलो सावधान हो जाओ। इसका कहीं ठिकाना नहीं, कि वह

कब आकर तुम पर आक्रमण कर दे। अतः सावधान रहो।' यह सुनते ही रामचन्द्रजी ने अपने धनुष की प्रत्यंचा की आवाज़ से दशों दिशाएँ गुंजा दीं। इतने में सामने एक तूफान सा दिखाई दिया और एक क्षण भर ही में वह राक्षसी धूल उड़ाती और पत्थर फेंकती हुई श्रीराम पर चढ़ आई। उसे देखते ही श्रीराम ने निशाना ताक कर उसकी छाती में इतने जोर से एक बाण मारा कि वह वज्र तुल्य बाण उसकी देह को छेद बाहर निकल गया! देखते ही देखते वह राक्षसी मृत हो पृथ्वी पर गिर पड़ी। इस प्रकार श्रीराम के प्रसंगावधान, सामर्थ्य और अचूक शर-संधान-शैली को देख कर विश्वामित्रजी बड़े आनंदित हुए। उन्होंने उनके धैर्य और पराक्रम की बहुत प्रशंसा की और कहा:—"श्रीराम सचमुच तुम्हारे जैसा लोकोत्तर बलधारी वीर मैंने आज तक नहीं देखा। मुझसे अस्त्रविद्या सीखने के लिये तुम ही सर्वथा योग्य हो; अतः मुझे जितनी भी अस्त्रविद्या याद है, वह मैं तुम्हें आज ही सिखला देता हूँ।" अनंतर उन तीनों ने वहीं पर निवास किया और विश्वामित्रजी ने नाना प्रकार के अस्त्र, उनके मंत्रों सहित, श्रीराम को सिखलाये तथा उन अस्त्रों की 'संग्रहण-विद्या' अर्थात् उनका उपयोग करने पर उन्हें वापिस लेने की क्रिया भी उन्हें दे-दी। (बालकांड सर्ग ३३—३७)

दूसरे दिन प्रातःकाल से चल कर उन्होंने उस अरण्य का शेष मार्ग भी तय कर लिया। और शीघ्र ही उन्हें विश्वामित्रजी का रमणीय सिद्धाश्रम दिखाई देने लगा। नदी के तट पर के नाना तरह के वृक्ष तथा फूलों से खिली हुई सुहावनी—वाटिकाएँ भी उन्हें दिखाई देने लगीं। उसी प्रकार अनेक प्रकार के धान्यादि से

हरे-भरे खेत भी उन्हें दीख पड़े। श्रीविष्णु ने, वामन का अवतार लेकर बलि को पाताल का राज सौंप, उसी सिद्धाश्रम में तप किया था। उस पुण्य और रमणीय आश्रम को देख कर वे राजपुत्र बोले, "मुनिवर्य, सम्भवतः वह आपका ही सिद्धाश्रम दिखाई देता है; अहा धन्य है यह स्थान!" विश्वामित्रजी ने कहा "नहीं, यह मेरा नहीं, तुम्हारा ही आश्रम है। आज से इस आश्रम की राक्षसों से रक्षा करना तुम्हारा काम है। क्योंकि मैं आज यज्ञकी दीक्षा लेने वाला हूँ।" ऋषि विश्वामित्र यह वाक्य कह ही रहे थे कि इतने में आश्रम के सभी ऋषि उनके अगवानी के लिए आये और बड़ी उत्सुकता से उन राजपुत्रों का उन्होंने आदरातिथ्य किया। अनंतर उन्होंने शीघ्र ही यज्ञ की तैयारी कर के विश्वामित्रजी को दीक्षित किया। छः दिन तक यज्ञ बराबर होता रहा और श्रीराम-लक्ष्मण ने रात दिन बड़ी सावधानी से आश्रम और यज्ञ की रक्षा की। सातवें दिन एकाएक राक्षसों की सेना, काले मेघ के समूह की नाईं उस आश्रम पर चढ़ आई। सुबाहु, मारीच तथा उनकी सेना को देखते ही श्रीराम ने लक्ष्मण को होशियार किया और अपना धनुष भी तैयार किया। सबसे पहले उन्होंने मारीच पर मानवास्त्र का प्रयोग किया और उस अस्त्र की सामर्थ्य से वह सौ योजन दूर समुद्र में जा गिरा। अब सुबाहु पर अग्न्यास्त्र छोड़ कर श्रीराम ने उसे परलोक भेजा और सेना पर वाय्वस्त्र छोड़ कर उसे तितर-बितर कर डाला। इस प्रकार उन दोनों दशरथ-पुत्रों ने शत्रु सेना का नाश कर और सब विघ्नों को मिटा कर उस यज्ञ की सिद्धि में अपूर्व सहायता की। विश्वामित्र ने राम-लक्ष्मण को अपने हृदय से लगा कर उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा

की और बड़े आनंद से सब ऋषि गण सहित यज्ञ की समाप्ति की। (बालकांड सर्ग २८—३४)

विश्वामित्र ने सोचा, श्रीराम ने सुबाहु और मारीच जैसे बलवान् राक्षसों को सहज ही में परास्त कर दिया, अतः जरूर ही वे जनक राजा का धनुष्य भी सरलता पूर्वक उठा सकेंगे और उनकी कन्या भी श्रीराम ही के योग्य पत्नी है; अतः यज्ञ समाप्त होते ही, विश्वामित्र ऋषि, उन दोनों राजपुत्रों तथा ऋषिगण सहित जनक का यज्ञ देखने के बहाने चल दिये। उन्हें मार्ग में कई देश, नगर और नदियाँ तै करनी पड़ीं; अतः विश्वामित्र ऋषि उनका इतिहास भी श्रीरामचन्द्रजी से कहते गये। उन्होंने प्रथमतः शोण नदी को पार करके मगध देश में प्रवेश किया। मगध देश की राजधानी गिरिव्रज चार पर्वतों के बीच में बहने वाली एक नदी पर बसी थी। उस गिरिव्रज से होते हुए यह अपूर्व यात्री-समूह जान्हवी अर्थात् भागीरथी नदी पर पहुँचा। भागीरथी का रम्य, पवित्र और विस्तीर्ण पात्र देख कर वे सब बहुत ही आनन्दित हुए। उन्होंने हंस, सारस इत्यादि पक्षियों तथा नाना प्रकार के कमलों से सुशोभित जान्हवी के तट पर उस दिन निवास कर स्नान अग्निहोमादि कर्म करके पितृदेवताओं का तर्पण किया और भोजन के अनंतर भागीरथी के निर्मल और मधुर जल का यथेच्छ पान किया। भोजन के बाद सब मंडली विश्वामित्र के आसपास बैठी हुई थी, तब श्रीरामचन्द्र ने विश्वामित्र से जान्हवी (भागीरथी) गंगा का इतिहास पूंछा। तब विश्वामित्र ने उस पुनीत कथा को यों कहना शुरु किया—श्रीराम सुनो, हिमालय पर्वत के मेरु-कन्या मैना नामक स्त्री से दो कन्याएँ

हुईं,—एक गंगा और दूसरी उमा अर्थात् पार्वती। देवताओं के हिमालय से गंगा के पाने की इच्छा करने पर उसने गंगा को देवताओं के समर्पण कर दिया। और वे स्वर्ग को पावन करने के लिए उसे स्वर्ग को ले गये। वहाँ पर वह आकाश-गंगा के रूप में अभी तक दिखाई देती है, इसीसे उसे सुर नदी अथवा स्वर्णदी भी कहते हैं। गंगा के स्वर्ग को चले जाने से पृथ्वी और पाताल लोक उसको पाकर अतृप्त रहे। अस्तु समय पाकर इक्ष्वाकु वंश में सगर नामक एक महान् बलशाली राजा, तुम्हारा पूर्वज, हुआ। उसके दो पत्नियाँ थीं। उन्होंने पुत्र प्राप्ति की इच्छा से भृगु ऋषि की आराधना की; तब ऋषिवर ने प्रसन्न होकर कहा कि "तुम्हारे मनोरथ शीघ्र ही पूर्ण होंगे। एक को तो एक ही पुत्र होगा, पर वह अपना वंशधारी होगा और दूसरी को साठ हज़ार बलवान् और प्रतापी पुत्र होंगे। इन दोनों में से जिसे जिस बात की इच्छा हो, वह अभी माँग ले।" तब केशिनी रानी ने वंशधर एक ही पुत्र मांग लिया, और दूसरी रानी सुमतिने जो सुपर्णा की भगिनी और अरिष्टनेमी की लड़की थी, साठ सहस्र पुत्र पाने की इच्छा की। इस प्रकार सगर की उन दोनों पत्नियों को पुत्र हुए। जेष्ठ पुत्र असमंजस बड़ा दुष्ट था। वह दूसरों के बालकों को उठाकर शरयू में डाल देता और जब वे हाथ-पांव हिलाते हुए, तड़पते हुए डूब जाते तब वह खूब आनन्द मनाता! इस प्रकार वह दुष्ट राजपुत्र अपनी प्रजा के प्राणों से ही खेलता था! अतः राजा सगर ने, उसे अपने राज्य की सीमा के बाहर निकाल कर, उसके पुत्र अंशुमान् को युवराज बना दिया। शीघ्र ही राजा ने अश्वमेध यज्ञ करने का निश्चय किया। हिमालय और विन्ध्य पर्वतों के

बीच के विस्तीर्ण प्रदेश में उसने अश्वमेध यज्ञ का आरंभ किया, और यज्ञ के अश्व को छोड़ कर उसकी रक्षा के लिए उसके साथ अंशुमान को भी भेजा। सगर के उस अश्वमेध से इन्द्र भयभीत हो गया और वह यज्ञ के अश्व को छिपा कर पाताल में ले गया और वहां उसे छोड़ दिया। तब यज्ञ का घोड़ा अकस्मात् अदृश हो जाने से अंशुमान् बड़ा दुखित हुआ। उसने लौट कर अश्व के गुम जाने के समाचार राजा से जाकर कहे। यज्ञ की क्रिया करने वाले ऋत्विज और अन्य सभी लोग उस घटना को बड़ा अपशगुन समझने लगे, तब सगर ने क्रुद्ध हो अपने साठ सहस्त्र पुत्रों को आज्ञा दी कि पृथ्वी पर जहाँ कहीं वह अश्व हो, उसे ढूंढ़ लाओ। यदि वहां पृथ्वी पर कहीं न मिले तो पृथ्वी को खोद कर पाताल को भी ढूंढ़ डालो। पिता की आज्ञानुसार उन साठ सहस्त्र पुत्रों ने समग्र पृथ्वी को ढूंढ़ मारा पर कहीं घोड़े का पता न चला। तब प्रत्येक ने एक एक योजन गहरी पृथ्वी को खोदा और सब के सब रसातल को पहुँचे। वहाँ पर उन्हें चारों दिशाओं में चार दिग्गज दिखाई दिये और उन्हें नमस्कार कर वे आगे को बढ़े तो उन्हें श्रीविष्णु कपिल का अवतार लेकर पृथ्वी का भार अपने मस्तक पर धारण किये वहाँ पर बैठे हुए दिखाई दिये और वह यज्ञाश्व भी उन्हीं के पास चरता हुआ दिखाई दिया। उन्होंने श्री विष्णु को ही यज्ञ के अश्व को चुरानेवाला अपराधी जान कर उन्हें बुरी-भली बातें कहकर शस्त्रों से उनपर प्रहार भी किया। कपिल महामुनि ने क्रोध से अपनी आँखें खोल कर राजपुत्रों की ओर देखा और उनका निषेध किया, जिससे वे साठ सहस्त्र सगर-पुत्र जल कर भस्म हो गये!

उधर राजा सगर अपने पुत्रों की राह देखते-देखते बड़े दुखित हुए, तब उन्होंने अपने पौत्र को आज्ञा दी कि तुम मेरे पुत्रों के बनाये हुए मार्ग से रसातल में पहुँच कर अश्व और पुत्रों का पता चलाओ। अंशुमान अपने दादा की आज्ञानुसार शीघ्र ही रसातल को पहुँचा, और दिग्गजों को नमस्कार कर के उन साठ सहस्र पुत्रों के समाचार उनसे पूछे। उन्होंने उसे आशीर्वाद देकर आगे बढ़ने के लिए कहा। आगे बढ़ते ही साठों सहस्र पितरों की भस्म-राशि उसे दिखाई दी और उसके पास ही यज्ञ का घोड़ा भी। यह दृश्य देख कर अंशुमान् अत्यन्त शोकाकुल हुआ और अपने पितरों को मोक्षप्राप्ति मिलने की इच्छा से भस्म के ढेर पर छिड़कने के लिये वहाँ पर पानी ढूँढ़ने लगा, पर वहाँ उसे पानी न मिला। इतने में सुपर्ण अर्थात् गरुड़ (उन पितरों के मामा) से उसकी भेंट हुई। सुपर्ण ने अंशुमान से कहा, "अंशुमान! तेरे ये पितर विष्णु के शाप से जल गये हैं; अतः यदि तुझे उनका उद्धार करना है तो स्वर्णदी गंगा के जल से ही उनका उद्धार होगा। यदि तुझमें इतनी सामर्थ्य हो तो जा और माता गंगा को यहाँ पर ले आ। इस समय तो तू इस अश्व को राजा सगर के पास ले जा, जिसमें उसके यज्ञ की समाप्ति हो जाय।" इस प्रकार गरुड़ का उपदेश सुनकर अंशुमान् उस अश्व को पृथ्वी पर ले आया और राजा सगर का यज्ञ समाप्त हुआ। अब सगर को यह चिंता हुई कि स्वर्ग से गंगा को कैसे लाया जाय पर यह कार्य उससे साध्य नहीं हो सका। राजा सगर के स्वर्गवासी हो जाने पर अंशुमान् गद्दी पर बैठा। पर उससे वह गुरुतम कार्य भी नहीं हुआ। अंशुमान् के अनन्तर उसका पुत्र दिलीप गद्दी पर बैठा। उसने भी

प्रयत्न किया, किन्तु अपने पितरों का उद्धार वह भी न कर सका। दिलीप के अनन्तर उसका पुत्र भगीरथ गद्दी पर बैठा। भगीरथ महान् पराक्रमी और दृढ़ निश्चयी पुरुष था। एक सहस्र वर्षतक उसने कठिन तप करके ब्रह्मदेव को प्रसन्न कर लिया और उनसे वर माँग लिया कि गंगा नदी पाताल से आकर उसके पितरों का उद्धार कर दे। ब्रह्मदेव की आज्ञानुसार गंगानदी स्वर्ग से पाताल को जाने को तैयार हुई, पर उसके वेग को सिवा शंकर के और कोई सह ही न सकता था; अतः भगीरथ ने फिर से तप करके भगवान शंकर को भी प्रसन्न कर लिया। उन्होंने गंगा के वेग को अपने मस्तक पर धारण करना मान्य कर लिया। तब गंगाजी आकाश से शंकर के मस्तक पर गिरने लगीं। पर इसी समय गंगा को गर्व ने आ घेरा। उसने सोचा "मैं अपने वेग-बल से शंकर को भी पाताल में लुढ़काती हुई ले जाऊँगी। पर देवादिकों का अभिमान भी नहीं टिक सका है। गंगा ने अभिमान वश अपने वेग को तीव्र कर लिया पर, शंकर भी उसके मन की बात को वेग के ज़ोर को देखकर जान गये। भगवान् शंकर ने उसका अभिमान हरने के लिये अपनी जटा के भीतर ही उसके समस्त वेग को रोक लिया। जब शंकर की जटा से बाहर निकलने के लिये गंगाजी को मार्ग न मिला, तब भगीरथ ने फिर से शंकर को प्रसन्न किया। अपने कोरे अभिमान से लज्जित होती हुई गंगा शंकर की जटा से बाहर निकली, उस समय उसकी सात धाराएँ हुईं। ल्हादिनी, पावनी और नलिनी नामक तीन धाराएँ पूर्व दिशा में बहने लगीं; सुचक्षु, सीता और सिंधु नामक तीन धाराएँ पश्चिम की ओर तथा सातवीं मुख्य धारा भगीरथ के पीछे की ओर बहने लगी। राजा

भगीरथ दिव्य रथ में आगे की ओर बढ़े और पीछे से मछलियाँ, कछुए, मगर इत्यादि जलचरों से युक्त तथा गंभीर शब्द करनेवाला श्वेत पानी का प्रचंड प्रवाह बहने लगा। उस अद्भुत दृश्य को देखने के लिये देव, ऋषि, मनुष्य, नाग, यक्ष, राक्षस तथा गंधर्व अपने-अपने विमानों में बैठ कर आकाश में तथा पृथ्वी पर एकत्रित हुए। उन्होंने राजा भगीरथ पर पुष्पवृष्टि की तथा वे भी उस बहाव के साथ चलने लगे। श्रीशंकर की जटा से निकली हुई गंगा को अधिक पवित्र मानकर, स्वर्गच्युत अनेक जन उसमें स्नान कर के फिर से स्वर्ग को जाने लगे तथा सहस्रों मनुष्य पवित्र गंगाजी के दर्शन कर, स्नान करके और जल पानकर तृप्त होने लगे। इस प्रकार देव तथा मनुष्यगण सहित गंगाजी का वह पावन प्रवाह बहता हुआ वहाँ पहुँचा जहाँ राजा जन्हु यज्ञ कर रहे थे। उन्हें केवल साधारण मनुष्य समझ कर श्रीगंगाजी ने गर्व वश उनकी यज्ञभूमि को डुबो दिया। यह देख कर जन्हु राजा बड़े क्रुद्ध हुए और उन्होंने गंगाजी के सारे प्रवाह को ही पी लिया। उनके उस अपूर्व सामर्थ्य को देखकर देवादिकों ने उनकी बहुत स्तुति की तथा तीनों लोक को पावन करनेवाली गंगाजी के प्रवाह को पुनः पूर्ववत् बहा देने के लिए उनसे प्रार्थना की। तब कहीं उन्होंने अपने कान से गंगा के प्रवाह को छोड़ दिया। इस प्रकार गंगा जन्हु राजा की पुत्री हुई, इसीसे उसे जान्हवि भी कहते हैं। अस्तु।

राजा भगीरथ के साथ गंगाजी सगर-पुत्रों के बताए हुए मार्ग से, सागर में से पाताल को पहुँची और उसने अपने पवित्र उदक से उन साठ सहस्र भस्म-राशियों को पवित्र किया। यह देख कर राजा को जो आनंद हुआ, वह केवल अवर्णनीय है! भगीरथ ने

अनेक बाधाओं को दूर करके अपने दीर्घ उद्योग से अपनी प्रतिज्ञा पूरी की, यह देख कर ब्रह्मदेव ने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दे उनकी स्तुति की:—"सगर, अंशुमान तथा दिलीप जैसे तुम्हारे पूर्वजों को भी जो कार्य-सिद्धि नहीं हुई, उसी को तुमने अपने दीर्घ उद्योग से साध्य किया; अतः तुम्हें इस लोक में अक्षय कीर्त्ति प्राप्त होगी तथा गंगा तुम्हारी पुत्री के रूप से 'भागीरथी' कहलायगी। केवल तुम्हारे ही प्रयत्न से यह 'त्रिपथगा' अर्थात् तीनों लोक में भ्रमण करने वाली कही जायगी और जब तक सागर अर्थात् महासमुद्र स्थित हैं, तब तक ये तुम्हारे पितर, सगर के पुत्र, स्वर्गलोक का सुख भोगेंगे। यह वर देकर ब्रह्मदेव अंतर्धान हुए। फिर भगीरथ ने गंगोदक से अपने पितरों की क्रिया करके उन्हें पवित्र किया और अपने कुल व्रत का पालन किया। इस प्रकार गंगावतरण की पुण्य-कथा सुन कर राम-लक्ष्मण को बड़ा आनंद हुआ। उन्होंने सोचा अपने कुल में कैसे कैसे प्रतापी, दीर्घोद्योगी, भगीरथ प्रयत्न करने वाले तथा धर्मशील राजा हो गये हैं। अतः हमें भी अपने पूर्वजों की तरह कार्य करने चाहिये; इस बात का निश्चय करके उन्होंने वह रात जान्हवी के तीर पर ही बिताई। (बाल. स. ३५–४४)

दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही नित्य नियमानुसार स्नान-संध्यादि कर्मों से निवृत्त होकर ऋषि विश्वामित्र उन दोनों राजपुत्रों तथा अन्य ऋषियों सहित गंगाजी के तट पर आकर, सुंदर नौकाओं पर चढ़ कर गंगा पार हुए। गंगा के तट पर बसी हुई विशाला नगरी के राजा ने उन सब का आदरातिथ्य किया, तथा उन दोनों सुंदर राजपुत्रों को देख कर अत्यंत आनंद प्रदर्शित

किया। बाद में वे सब राह चलने लगे। संध्या के समय वे मिथिला के पास जा पहुँचे। पास ही उन्हें एक शांत और सुंदर आश्रम दिखाई दिया। उसकी शोभा तथा साथ ही वहाँ की शून्यता को देख कर रामचंद्र बड़े आश्चर्य चकित हुए। उन्होंने विश्वामित्र से पूछा, 'भगवन् यह किसका आश्रम है तथा यह इतना शून्य क्यों कर दिखाई देता है?' तब उन्होंने गौतम ऋषि तथा उनकी पत्नी अहिल्या की नीचे लिखी कथा सुनाई। ऋषियों ने कहा—एक समय इंद्र ने गौतम का रूप धारण कर उनकी सुंदर स्त्री अहल्या को बहुत बुरी तरह धोखा दिया। पापी इंद्र चोर की तरह छिपते हुए आश्रम से बाहर निकल ही रहा था कि गौतम ऋषि भी आ पहुँचे। कष्ट से अपना रूप धारण करने वाले इन्द्र पर ऋषि बहुत ही बिगड़े और जब उन्हें अंतर्ज्ञान से सच्ची घटना का ज्ञान हो गया, तब तो उन्होंने क्रुद्ध होकर इंद्र को शाप तक दे डाला। इधर ऋषि के आश्रम में प्रवेश करते ही अहल्या मारे डर के काँपती हुई हाथ जोड़कर सामने खड़ी हुई। ऋषि ने उसे भी शाप दे दिया कि तू सहस्रों वर्षों तक अदृश्य रूप, निराहार तथा दुख भागी होकर शिला के रूप में यहाँ पड़ी रहेगी। परन्तु फिर ऋषि ने शीघ्र ही अपनी स्त्री को यह उःशाप दे दिया कि 'जब रामचन्द्रजी इस मार्ग से निकलेंगे, तब तू शाप मुक्त होगी और उनका आदरातिथ्य करने से पवित्र होने पर मैं तेरा अंगीकार करूँगा।' देखो, वह बेचारी अहिल्या अभी तक अदृश्य हो पृथ्वी पर शिला के रूप में पड़ी है। गौतमऋषि भी यहीं पर तप कर रहे हैं; इसीसे यह रमणीय आश्रम शून्य और भयावना सा दिखाई दे रहा है। यदि तुम्हारे आगमन ही से वह हतभागिनी

अहल्या शापमुक्त होनेवाली है; तो चलो न, सब मिलकर भीतर ही चलें।" यों कहकर विश्वामित्रजी ने राम-लक्ष्मण को अपने साथ लेकर आश्रम में प्रवेश किया और वहाँ पहुँचे, जहाँ अहल्या शिला-रूप में पड़ी थी। श्रीरामचन्द्र के चरणरज के स्पर्श से अकस्मात् अहल्या शाप-मुक्त हो कर वहाँ पर प्रकट हो गई, तब उन दोनों राजपुत्रों ने बड़े आदर से उसे प्रणाम किया। इतने में गौतमऋषि भी अपनी समाधि का विसर्जन करके वहाँ पर आ पहुँचे। कभी कभी मनुष्य से एकआध पाप हो ही जाता है। परन्तु यदि उसे अपने किये का पश्चात्ताप हो कर वह उसके बदले दीर्घ काल तक प्रायश्चित्त कर ले तो वह मनुष्य पवित्र बल्कि वंदनीय भी हो जाता है: यह सोचकर गौतमऋषि ने बड़े प्रेम से अहल्या का स्वीकार किया। अनंतर उन दोनों ने बड़े आनन्द से राम, लक्ष्मण और विश्वामित्र का पूजन किया और उस दिन उन सब को अपने ही आश्रम पर रख लिया। कहना न होगा कि उस दिन वह उपवन आनन्द से खिल गया। [बाल० स० ४५-४९]।

दूसरे दिन विश्वामित्र राम लक्ष्मण को अपने साथ ले कर राजा जनक के यहाँ जाने के लिए चल पड़े। राजा को उनके आगमन की खबर पहले ही से लग गई थी। अतः ऋषि के यज्ञमंडप के निकट आते ही राजा ने अपने पुरोहित तथा आमात्य सहित उनकी आगवानी की और बड़े गौरव से उन्हें उत्तम आसन दे कर उनकी यथाशास्त्र पूजा की। अनंतर वे बोले:—ऋषिवर! आपके आगमन से मैं पवित्र हो गया हूँ और यह मेरा यज्ञ भी कृतार्थ हुआ। किस उद्देश्य से आपका यहाँ पर आगमन हुआ है। और ये दोनों तेजस्वी, वीर्यवान तथा तरुण राजपुत्र कौन हैं, तथा किस

उद्देश से यहाँ आये हैं; यह जानने की मेरी बड़ी इच्छा है। इन्हें देख कर यह आभास होता है मानों स्वर्ग से देव, अश्विनी कुमार हो पृथ्वी पर पधारे हैं! इनका सौंदर्य, सामर्थ्य तथा कोमल शरीर देखकर मुझे बड़ा मोह उत्पन्न होता है। अतः कृपा कर विस्तारपूर्वक कहिए कि ये कौन हैं और आप इन्हें यहाँ क्यों लाये हैं"? यह सुन विश्वामित्र ने कहा राजन्, ये अयोध्या के राजा दशरथ के पुत्र राम और लक्ष्मण हैं। साथ ही विश्वामित्र ने खर-दूषण सुबाहु और मारीच से युद्ध तथा अहल्या के उद्धार की कथा भी राजा जनक से कह सुनाई। वह सब सुनकर जनक बड़े आश्चर्य-चकित हुए। विश्वामित्र फिर बोले "राजन् तुम्हारी कन्या सीताजी सुर-लोक की देव कन्याओं के सदृश अत्यन्त सुंदर हैं और मैंने सुना है कि शंकर का धनुष उठाने वाले के साथ ही उनका विवाह करने की तुमने प्रतिज्ञा की है। यद्यपि तुम्हारी प्रतिज्ञा बड़ी कठिन है, तथापि मुझे विश्वास है कि श्रीरामचंद्र उसको पूरी करेंगे। अतः वह कार्य और तुम्हारा यज्ञ देखने की इच्छा से ही मैं यहाँ पर आया हूँ।' विश्वामित्र के वचन सुनकर राजा जनक बड़े आनंदित हुए। उन्होंने शीघ्र ही अपने सेवकों को उस संदूक को वहाँ लाने की आज्ञा दी जिसमें धनुष रक्खा था। आज्ञा सुनते ही आमात्य दौड़े और शहर में जा कर पांच सौ मजदूरों को ले कर एक बड़े आठ-पहिये के गाड़े पर वह संदूक रखवा कर वहाँ ले आये। किन्तु जनक ने डर कर बड़े दुःख-पूर्वक विश्वामित्रजी से कहाः— 'यह महान् धनुष दक्ष प्रजापति के यज्ञ के समय भगवान् शंकर ने देवताओं को दण्ड देने के लिए उठाया था। पर जब सब देवताओं ने मिल कर

शंकरजी से क्षमा प्रार्थना की, तब उन्होंने उसे मेरे पुरखाओं को सौंप दिया और तभी से यह हमारे पास है। मुनिवर! जब मैंने यज्ञ का क्षेत्र जोता, तब मुझे उसमें एक अयोनिजा सुंदर कन्या मिली। वह मुझे क्षेत्र में मिली, इसलिये मैंने उसका नाम सीता रखा। जब मेरी वह प्राणप्रिय कन्या शुक्लचंद्र की नाईं बढ़ने लगी, तो उसके विवाह की मुझे चिंता हुई, और उसी समय मैंने यह प्रतिज्ञा की कि जो कोई वीर पुरुष हमारे यहाँ के इस शिव-धनुष को उठा सकेगा, उसी के साथ मैं अपनी कन्या का विवाह करूँगा। अबतक अनेकों राजा उसके साथ विवाह करने की इच्छा से यहाँ पर आये, किन्तु शिव धनुष को न उठा सकने के कारण लज्जित हो कर के वापिस चले गये। अंत में सभी राजाओं ने मिलकर ईर्ष्यावश मिथिला को आ घेरा, पर मैंने अपने तप के बल पर देवताओं से अस्त्र प्राप्त करके उनको मार भगाया। इस धनुष और मेरी प्रतिज्ञा की ऐसी स्थिति होते हुए कहा नहीं जा सकता कि कौन वीर इसे उठा कर मेरी प्रतिज्ञा की पूर्ति करेगा। अहा, यदि ये सुंदर और तरुण दशरथ-पुत्र इस धनुष के उठाने में सफल हो जाय तो इस दुनिया में मेरे समान भाग्यशाली पुरुष कोई भी नहीं कहलाएगा। मुनिवर! ज्ञात होता है कि मुझे उपकृत करने के लिए ही आपका यहाँ आगमन हुआ है।" राजा जनक के मुख से ये शब्द निकल रहे थे कि इतने में आमात्यों ने यज्ञ-मंडप में उस सन्दूक को ला कर खोला। तब विश्वामित्र ऋषि उस सन्दूक के पास जा कर और उस धनुष को देख कर श्रीरामचन्द्रजी से बोले;—"रामचन्द्र! मुझे पूर्ण आशा है कि तुम इस धनुष को

शीघ्र ही उठा लोगे । तुम्हें उसमें किसी बात की कठिनता नहीं होगी । इसलिए आओ और धनुष को उठा कर राजा जनक की प्रतिज्ञा पूरी करो ।" उक्त वाक्य सुनते ही श्रीरामचन्द्रजी सिंह-गति से उस संदूक के पास पहुँचे और उन्होंने सहज ही में अपने बांये हाथ से उस धनुष को संदूक से उठा लिया और ज्यों ही दाहिने हाथ से उसकी प्रत्यंचा (डोरी) चढ़ा कर खिंची, त्यों ही उस पुराने धनुष के टुकड़े-टुकड़े हो गये ! उस समय उस धनुष के टूटने से, इतना भयंकर शब्द हुआ कि मानो भूकंप से कोई पर्वतशृङ्ग टूट कर गिर पड़ा हो । उस भयंकर शब्द को सुन कर राजा जनक, विश्वामित्र और राम लक्ष्मण के अतिरिक्त वहां पर उपस्थित सभी लोग मूर्छित हो गये ! थोड़ी देर के बाद सब के सावधान हो जाने पर राजा ने विश्वामित्रजी से हाथ जोड़ कर कहा, मुनिवर ! आपके प्रसाद से मैं आज अपनी कठोर प्रतिज्ञा से मुक्त हो गया हूँ । श्रीरामचन्द्रजी के समान अलौकिक सामर्थ्य-शाली वीर इस धरातल पर ढूँढे न मिलेगा। इस प्रचंड धनुष के उठाने का उनका अपूर्व कार्य मैंने स्वयं अपनी आँखों देखा है । अतः श्रीराम के सदृश सुंदर, बलवान् और अपूर्व सामर्थ्यशाली पति पा कर मेरी कन्या सीता हमारे कुल की कीर्ति फैलाएगी इसमें बिलकुल सन्देह नहीं है । अतः अब देर न कीजिए शीघ्र ही श्रीरामचन्द्रजी के इस आश्चर्यकारक कार्य के आनन्ददायी समाचार राजा दशरथ के पास पहुँचा कर विवाह की तैयारी करके शीघ्र यहाँ पर चले आने के लिये उनसे प्रार्थना करिए । मेरे यहां यज्ञ की समाप्ति अब होने को है, इसलिए आप भी यहीं पर रह कर मेरे जीवन के इस अत्यन्त आनन्ददायक कार्य को निर्विघ्न समाप्त

कर दें।" यह सुनते ही विश्वामित्रजी ने अपनी स्वीकृति दर्शाई और शीघ्र ही कई राजदूत यह आनन्द पूर्ण सन्देश ले कर अयोध्या को रवाना हुए। (बाल० स० ५०, ६६,६७)

वे दूत अपने जानवरों के प्राणों की भी परवा न करके इतने जल्दी चले कि दो ही दिन में अयोध्या आ पहुँचे और उन्होंने राजा दशरथजी से ऋषि विश्वामित्रजी का वह आनन्ददायी सन्देश जा सुनाना। यह समाचार सुन कर राजा दशरथ बड़े आनन्दित हुए। वसिष्ठ गुरु, अपनी स्त्रियों और मित्र कुटुंबियों सहित मिथिला की ओर वे रवाना हुए और चार दिन में वहाँ जा पहुँचे। राजा जनक ने उनका यथोचित सीमांत पूजन किया और आनंदित होकर कहा:—'धन्य मेरे भाग्य! आज मेरे घर श्रीमान् राजा दशरथ अपने पुत्रों सहित मेरी कन्या का अंगीकार करने के लिए पधारे हैं, तथा परमपूज्य वशिष्ठ ऋषि के चरणस्पर्श से मेरी नगरी पवित्र हो रही है। आज राजा रघु के वीरश्रेष्ठ कुल से मेरे कुल का संबन्ध होता है; अतः मैं अपने भाग्य को जितना भी सराहूँ उतना थोड़ा ही होगा। मैंने सीता के विवाह के विषय में अत्यन्त कठिन प्रतिज्ञा की थी, पर श्रीराम ने अपने अपूर्व सामर्थ्य के बल पर उसे निबाह दिया। श्रीरामचन्द्रजी को तो मैं अपनी कन्या सीताजी अर्पण कर ही चुका हूँ, पर लक्ष्मणजी को भी मैं अपनी दूसरी कन्या उर्मिला अर्पण करता हूँ।" राजा जनक के ये उद्गार सुन कर विश्वामित्रजी ने वशिष्ठजी से एकान्त में कुछ बात-चीत करके जनक से कहा:—"राजन्! तुम्हारे दोनों कुलों का यह सम्बन्ध अत्यन्त प्रशंसनीय हुआ है। रघुकुल और जनक कुल की कुलीनता, धार्मिकता और बल में

कोई भी समता नहीं रख सकता; अतः राम सीता और लक्ष्मण ऊर्मिला का विवाह बड़ा ही अभिनन्दनीय है। मुझे एक और प्रस्ताव करना है, जिससे आशा है कि उभय कुलों का सम्बन्ध और भी अधिक दृढ़ हो जायगा। तुम्हारे छोटे भाई कुशध्वज की दोनों कन्याएँ विवाह के योग्य हैं; अतः हम उन्हें भरत और शत्रुघ्न के लिए पसंद करते हैं। हमारे पुत्र भरत और शत्रुघ्न भी राम लक्ष्मण की तरह सर्व-गुण-सम्पन्न, बलवान्, तरुण और सुंदर हैं; अतः इनका विवाह-सम्बन्ध हो जाने से रघु-जनक-कुलों का संबंध और भी अधिक दृढ़ हो जायगा। ऋषि के उक्त उद्‌गार सुन कर राजा जनक की आँखों में आनन्दाश्रु उमड़ आये और उन्होंने हाथ जोड़ कर कहा, "आप दोनों महर्षि मुझसे जिस बात की याचना कर रहे हैं, उससे मेरा ही भला होगा। वास्तव में मेरे समान भाग्यवान् इस भूतल पर और कोई नहीं है। आपके कथनानुसार भरत-शत्रुघ्न को मैं अपने भ्राता की कन्याएँ अर्पण करने के लिए तैयार हूँ। इन चारों राजपुत्रों के विवाह एक ही दिन होने चाहिए। और ये चारों देवता के समान गुणश्रेष्ठ बन्धु मेरी चारों कन्याओं का पाणिग्रहण परसों उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के सुअवसर पर करें। मेरा विश्वास है कि वह दिन बड़ा शुभ है।" विश्वामित्र, वसिष्ठ तथा अन्य ऋषियों ने भी राजा की बात मान ली। इस प्रकार निश्चित हो जाने पर दो दिन में दोनों तरफ विवाह की तैयारियाँ हो गईं। राजा दशरथ ने पहले श्राद्धादि कार्य करके अनेक ब्राह्मणों को सहस्रों गौएँ दान दीं। अनन्तर सुमुहूर्त देख कर रामचन्द्र और उनके तीनों बन्धु अर्थात् चारों वरों को बरातियों सहित राजा

जनक अपने यहाँ पर, बड़े ठाट बाट से, विवाह-मंडप में लिवा लाये। उस समय का उत्सव, आनन्द और दोनों ओर के ऐश्वर्य का महत्त्व अवर्णनीय था ! राजा जनक के पुरोहित गौतमपुत्र शतानंद, दशरथ के पुरोहित ऋषि वसिष्ट तथा उभय पक्ष के अभिमानी मध्यस्थ विश्वामित्र जहाँ पर हों वहाँ सुख-संपत्ति की क्या कमी ? राजा जनक ने नाना प्रकार के अलंकार और उत्तम वस्त्रों से सुशोभित अपनी कन्या सीता को श्रीरामचन्द्रजी के सामने खड़ी करके कहा—"रामचन्द्रजी ! आपके योग्य और अनुरूप मेरी यह कन्या सीता आज आपकी सहधर्मचारिणी हो रही है, अतः आप इसका पाणिग्रहण कीजिए।" यह कह कर जनक ने सीता का हाथ रामचन्द्रजी के हाथ में दे दिया। उस समय अनेक मंगल वाद्य बजने लगे तथा सब ऋषियों और लोगों ने अक्षता बरसा कर दोनों को आशीर्वाद दिये और शुभ कामनाएँ कीं। अनन्तर जनक ने उर्मिला को लक्ष्मण के सामने खड़ी करके उस-का पाणिग्रहण करवाया, और इसी प्रकार मांडवी का भरत से तथा श्रुतकीर्ति का शत्रुघ्न से पाणिग्रहण करवाया। इस प्रकार चारों राजपुत्रों के विवाह का उत्सव देख कर वृद्ध राजा दशरथ और उनकी रानियों के आनन्दाश्रु उभड़ आये। अब उन्हें प्रत्यक्ष रूप से ज्ञात हुआ कि ऋषि विश्वामित्र रामचन्द्र को हमारे कुल के कल्याण के ही लिए ले गये थे; अतः उन्होंने विश्वामित्रजी का बड़ा गौरव किया। (बाल० स० ६८-७३)

दोनों कुलों के वैभव के अनुसार चार दिन तक विवाहोत्सव हो जाने पर विश्वामित्र ऋषि दोनों नरेशों से बिदा मांग कर हिमालय पर तप करने के उद्देश से उत्तर की ओर चल दिये। राजा दशरथ

ने भी अपनी पुत्र-वधुओं सहित अयोध्या की ओर जाने के लिए प्रयाण किया। तब राजा जनक ने अपने ऐश्वर्य से भी अधिक उन्हें विदाई दी। अपने जामाताओं और कन्याओं को उन्होंने सैंकड़ों दास-दासियां, अलंकार और वस्त्र दहेज में दिये, तथा बड़े प्रेम और दुःख से उन्हें बिदा किया। राजा दशरथ कृतार्थ हो कर अपनी सेना, गुरुवर और कुटुम्बियों सहित धीरे धीरे मार्ग चलने लगे। राह में एक दिन अकस्मात् अंधकार छा गया, अनेक अप-शकुन होने लगे और दशों दिशाएँ धुँध हो गईं। तब राजा दशरथ ने वसिष्ठजी से उसका कारण पूछा। पर इतने ही में भयानक आँधी उठी, वृक्ष उड़ने लगे, भूमि काँपने लगी, सूर्य ढँक गया और सारी सेना पर भस्म के सदृश धूल फैल गईं। ऐसे विचित्र समय एकाएक जामदग्न्य की विराट और भयंकर मूर्ति सभी को दिखाई दी। सिर जटाओं से लदा था, लाल आँखें, एक कंधे पर भारी परशु तथा दूसरे कंधे पर एक प्रचंड धनुष लटका हुआ था और हाथ में बाण लिये काल के सदृश उस भयंकर मूर्ति को अपनी ओर आती हुई देख कर वसिष्ठजी को आशंका हुई कि जामदग्न्य राम तो सब क्षत्रियों का नाश करने के अनन्तर, शस्त्रों को त्याग करके, तप करने के लिये चले गये थे; क्या वही तो फिर से नहीं कुपित हुए? कहीं उन्होंने फिर से तो क्षत्रियों के नाश करने का निश्चय नहीं किया? वे इस प्रकार विचार कर ही रहे थे कि इतने में जामदग्न्य ठेठ उनके पास आ पहुँचे। तब उन्होंने उनका स्वागत करके उनकी पूजा की। उसका ग्रहण करके जामदग्न्य राम ने दाशरथी राम से कहा—'दाशरथे रामचन्द्र! तुम्हारे अद्भुत पराक्रम की चर्चा मैं बहुत सुन चुका हूँ। तुमने शिव-धनुष को उठा लिया

केवल यही नहीं वरन् उसे तोड़ भी डाला। तुम्हारे उस अपूर्व पराक्रम को सुन कर के ही मैं यह एक और धनुष ले आया हूं; देखूं जरा इसे तो उठाओ और इसकी डोरी तान कर बाण तो चलाओ। मैं तुम्हारे बल की परीक्षा ही लेने के लिए यहाँ पर आया हूँ। यदि तुम मेरी इस कसौटी को पार कर जाओगे तब फिर मैं स्वयं तुमसे घोर युद्ध करूंगा; क्योंकि मुझे आज तक मेरे समान कोई योद्धा नहीं मिला है। इसलिए आओ और इस धनुष को उठाओ।' परशुरामजी के मुँह से ये वाक्य सुन कर राजा दशरथ दीन-वदन हो, हाथ जोड़ कर बोले—"महाराज, क्षत्रियों का संहार करके आप तृप्त हो चुके हैं, और तिस पर भी स्मरण रहे, आप शम-प्रधान ब्राह्मण हैं। नाथ, मैं प्रार्थना करता हूं कि आप मेरे इन प्रिय पुत्रों को अभय-दान दें। आप इन्द्र से प्रतिज्ञा कर चुके हैं कि मैं अब शस्त्र न उठाऊँगा। समस्त पृथ्वी को जीत कर, उसे ब्राह्मणों को दान करके, आप तो महेन्द्र पर्वत पर तपस्या करने के लिए चल दिये थे न? भगवन्, बताइए फिर आप मेरे दुर्भाग्य से पुनः यहां क्यों आये हैं? हे मुनीश्वर अपने प्रण की और मेरे कुल की रक्षा कीजिए। मेरे ये पुत्र मुझे अपने प्राणों से भी अधिक प्यारे हैं; आप इनको छोड़ देवें।' पर, जामदग्न्य ने राजा दशरथ की प्रार्थना की ओर ध्यान नहीं दिया। और वे दाशरथी राम से बोले, "ये दो दिव्य धनुष तीनों लोक में प्रसिद्ध हैं। इन्हें स्वयं विश्वकर्मा ने बनाया है। इनमें से शिवधनुष को तो तुमने तोड़ ही डाला है, पर यह दूसरा वैष्णव धनुष भी उसीके सदृश भारी और दृढ़ है।" यह कहकर उन्होंने वह धनुष रामचन्द्रजी को दिया। उसे ले कर श्रीराम

बोले; "मैंने भी तुम्हारी करतूतों की बहुतसी बातें सुनी है और केवल अपने पिता के आदर के प्रीत्यर्थ मैं उन्हें अभी मान लेता हूँ। तुम मुझे मामूली क्षत्रियों के सदृश बलहीन न समझना। यह लो, मैं भी तुम्हें अपने बल का परिचय करा देता हूँ। यों कहकर उन्होंने धनुष की डोरी खींचकर बाण लगाया और कोपाविष्ट होकर बोले:—"तुम्हें केवल ब्राह्मण समझ कर मैं पूज्य मानता हूँ, अतः तुमपर यह प्राण-हारक बाण नहीं छोड़ना चाहता। पर, यह वैष्णव बाण व्यर्थ नहीं जा सकता। इसलिए तुमने अपने तप के बल पर जो लोक प्राप्त किये हैं, उनपर ये बाण छोड़कर तुम्हारा सारा पुण्य भस्म कर डालता हूँ।" यों कहकर श्रीरामचन्द्रजी ने वह बाण आकाश में छोड़ दिया। यह देखकर जामदग्न्य राम निर्वीर्य और निश्चेष्ट से हो गये। अंत में उन्होंने दाशरथी राम से कहा, "तुम्हारे बाण छोड़ने के इस पराक्रम से मैंने तुम्हें पहिचान लिया है। तुम सब देवताओं में श्रेष्ठ, मधु दैत्य का नाश करने वाले प्रत्यक्ष श्री विष्णु भगवान् हो, तुम्हारा जयजयकार हो! तुमने इस प्रकार मेरा जो पराभव किया है; उसपर अफसोस न करना। मैं फिर से महेन्द्र पर्वत पर तप करने के लिए जाता हूँ।" यों कहकर जामदग्न्य राम वहां से चल दिये। तब कहीं दशरथ तथा अन्य लोगों की जान में जान आई। पुनः चारों ओर प्रसन्नता और शान्ति दिखाई देने लगी; दिशाएँ रमणीय दीखने लगीं और धूल नष्ट हो कर आकाश भी स्वच्छ हो गया! (बाल० स० ७४–७५)

राजा दशरथ अत्यंत आनंदित हो कर सपरिवार धीरे धीरे मार्ग को तै करने लगे और अयोध्याजी जा पहुँचे। अयोध्या के नागरिकों ने नगर को बड़ा ही सजाया था। मार्गों पर सुगंधित

जल छिड़क कर स्थान स्थान पर फूलों के दरवाजे बनाये गये थे। जहां तहां ध्वजा-पताकाएँ फहराने लगीं और नगर के सभी निवासी सुन्दर वस्त्र पहन कर राजा दशरथ, उनके पुत्र और पतोहुओं का स्वागत करने के लिये अगवानी के लिए आये। तब उन सब के आशीर्वाद स्वीकार करके राजा दशरथ ने बधू-वरों सहित बड़े ठाट-बाट के साथ राज-महल में प्रवेश किया। अप्सराओं के नृत्य और बंदीजनों के स्तुतिपाठ से राज-महल गूंज उठा। राजा ने सब का सत्कार किया और वसिष्ठ ऋषि ने नव-वधुओं के गृहप्रवेशोत्सव की मंगल विधि की। अनन्तर चारों बन्धुओं ने गुरुजनों के चरण छू कर अंतःपुर में प्रवेश किया। कहना न होगा कि उस दिन सारे नगर में अपूर्व आनन्दोत्सव मनाया गया।

इस प्रकार उन चारों राजपुत्रों के विवाह योग्य स्त्रियों से हो कर वे चारों बधूवर आनन्द और सुख से रहने लगे। श्रीरामचन्द्र-जी का सीताजी पर प्रेम दिन प्रति दिन बढ़ने लगा। उसका मुख्य कारण उनके अलौकिक रूप से भी बढ़ कर उन देवी की गुण-सम्पत्ति थी। उन्होंने अपने गुण, पति-प्रेम और निष्काम भक्ति से श्रीरामचन्द्रजी को इतना अपने वश में कर लिया कि उन्हें सीताजी प्राण से भी अधिक प्रिय हो गई। पर, उससे रामचन्द्रजी की अपने माता-पिता और प्रजा की सेवा में जरा भी न्यूनता नहीं पाई गई। उन्होंने अपने सौभाग्य, बुद्धि, शौर्य और प्रेम से सभी का चित्त अपनी ओर आकर्षित कर लिया। इस विवाह के बाद वर्षों तक वे दम्प-तियां, वे माता-पिता और पुत्र-बहु, राजा और प्रजा अयोध्या में परमानन्द का अनुभव करने लगे। (बाल० स० ७७)

अयोध्या कांड

संसार परिवर्तनशील है। आनन्द और सुख के दिन तो कभी एकसे नहीं रहते। यह एक घूमता हुआ चक्र है। इस संसार में मनुष्य सुख और दुःख से बन्धा हुआ है। हम राजा हों या रंक, विद्वान् हों या मूर्ख, श्रीमान् हों अथवा दरिद्री पर हमें इस सिद्धांत को कभी न भूलना चाहिए कि संकट और दुःख का भी उपयोग किया जा सकता है; क्योंकि सच्चे सद्गुण और धैर्य की परीक्षा उसी समय होती है! इसलिए समय के बदल जाने पर भी मनुष्य को अपना नीति और धर्म का त्याग नहीं करना चाहिए। अर्थात् क्या सम्पन्नावस्था और क्या—विपन्नावस्था दोनों में मनुष्य को अपना कर्त्तव्य नहीं भूलना चाहिए। प्रायः देखा गया है कि मनुष्य दुःख से घबरा कर अक्सर कुमार्ग का अनुसरण करने लग जाता है। पर वास्तव में ऐसे ही समय अपने मन को वश में रख कर उसे सत्कार्य की राह पर ले चलना चाहिए। संकट में अच्छे मनुष्य को भी दुष्टता, कुविचार, अनीति आदि सूझते हैं और बुरे मनुष्यों को तो अनीति के मार्ग ही सर्वदा अच्छे लगते हैं। चाहें वे कितने ही बलवान् हों, या संपन्न हों तो भी बुरी वासनाएँ ही उन्हें प्रिय बनी रहती हैं। प्रायः लोग यह समझे बैठे हैं कि संकट के समय झूठ बोलने, पर-द्रव्यापहार करने अथवा एक आध पाप करने से हम सहज ही में संकट से मुक्त हो जावेंगे। पर वास्तव में ऐसे समय ही सत्पुरुषों की सच्ची परीक्षा होती है। महानुभाव पुरुष ऐसे समय भी सन्मार्ग से नहीं डिगते। इस-

लिए यदि यह कहा गया कि उक्त सिद्धांत का आदर्श खड़ा करने के लिए ही श्रीरामचन्द्र पर भी आगे लिखे हुए कई संकट आये, तो अत्युक्ति नहीं होगी। अस्तु।

श्रीरामचन्द्रजी का विवाह हो कर बारह वर्ष बीत जाने पर एक दिन राजा दशरथ से सोचा कि अब मैं वृद्ध हो गया हूँ; अतः रामचन्द्र को युवराज बना कर उन्हींपर राज्य का सारा कारोबार छोड़ दूँ; क्योंकि वे भी आयु अनुभव, बल और शिक्षा आदि सब बातों में राज काज को चलाने के योग्य हो गये हैं। यह सोच कर राजा दशरथ ने अपने राज्य के विद्वान, ब्राह्मणों, सामन्तों, मंत्रियों और जन साधारण को बुलाया। सभा भर जाने पर राजा दशरथ गंभीर और आनन्ददायी शब्दों में बोले; "सभ्यो! आज तक मैंने आपकी रक्षा की है। आपके हित-साधन के लिए परिश्रम करते करते इस श्वेतछत्र की छाया में वृद्ध हो गया हूँ। अतः अब मैं चाहता हूँ कि इस जीर्ण शरीर को विश्रांति दूँ। इन्द्रियों के दुर्वल हो जाने पर प्रजा की रक्षा का दायित्व पूरा करना अत्यन्त कठिन कार्य है। यदि आपकी अनुमति हो, तो मैं अपने ज्येष्ठ पुत्र रामचन्द्र को युवराज बनाकर उनपर राजभार सौंपने का विचार करता हूँ। रामचन्द्र गुण-सम्पन्न; वीर्यवान और इन्द्र के सदृश पराक्रमी होने के कारण युवराज बनने के सर्वथा योग्य है। मेरा विश्वास है कि यदि वह आपका राजा होगा तो वह आपको मुझ से भी अधिक सुखी करेगा। मैं चाहता हूँ कि कल ही उसे युवराज पद पर प्रतिष्ठित करा दूँ; अतः आप इस विषय में अपनी इच्छा प्रकट करो। पुत्र-स्नेह के कारण रामचन्द्र के गुणों को वास्तविकता से अधिक तो मैं नहीं देख रहा हूँ? मुझे

क्या करना चाहिए ? आप अच्छी तरह सोचकर मुझे अपनी राय दीजिए। राजा दशरथ के उक्त आनन्ददायी वचन सुनकर सब लोगों ने बड़े उत्साह से उनका अभिनन्दन किया। जिस प्रकार मोर अरण्य को अपनी केकाओं से गुँजा देते हैं, उसी प्रकार सभी सभाजनों के मुख से "सर्वथा योग्य है, योग्य है," की स्निग्ध और गंभीर ध्वनि निकल पड़ी जिससे सारा सभागृह गूंज उठा। चारों ओर शांति हो जाने पर नेता ब्राह्मण सभी सभाजनों की ओर से बोले "महाराज, आपके ज्येष्ठ पुत्र के गुणों का वर्णन हम कहां तक करें। यदि संक्षेप में कहा जाय तो आज तक इक्ष्वाकु–वंश में रामचन्द्र के सदृश पराक्रमी और श्रेष्ठ राज पुत्र कोई नहीं हुआ। रामचन्द्र सुशील, सत्यभाषी, शांत असूया रहित और जितेन्द्रिय हैं तथा वृद्ध और विद्वान् ब्राह्मणों की अपने वैभव के अनुसार पूजा करते हैं, जिससे उनकी कीर्ति सारे राज में फैल गई है। उनका सामर्थ्य और पराक्रम इन्द्र के सदृश हैं। वे सभी शस्त्रास्त्रों के ज्ञाता हैं। वेदों का अध्ययन कर गृहस्थाश्रम का भी अब वे यथाशक्ति पालन कर रहे हैं। अयोध्या तथा अन्य नगरों के निवासियों को अपने कुटुम्बियों की तरह समझकर उनकी तथा उनके बालबच्चों, शिष्यों तथा सेवकों की उन्हें सर्वदा चिंता रहती है। सारांश, श्रीरामचन्द्रजी तीनों लोक का राज करने के लिए समर्थ और योग्य हैं; फिर इस पृथ्वी के राज्य की तो बात ही क्या ? हम भी तुम्हारे उन ज्येष्ठ और श्रेष्ठ पुत्र का यौवराज्याभिषेक देखने के लिए आतुर हैं; अतः हमारी उस इच्छा को आप पूरी करें।" यों कह कर सब लोगों ने राजा को प्रणाम किया। उनकी उक्त प्रकार की उत्कंठा और संमति सुनकर राजा बड़े आनन्दित

हो कर बोले, "यह जान कर मुझे बड़ा सन्तोष हुआ कि आप सभी मेरे ज्येष्ठ पुत्र को युवराज-पद पर देखने के लिए आतुर हो गये हैं; यह चैत्र-मास है और जिधर उधर बन और उद्यान पुष्पों से प्रफुल्लित हो उठे हैं। मैंने इसी रमणीय मास में, पुष्य नक्षत्र के सु-अवसर पर, कल श्रीरामचन्द्र को यौवराज्याभिषेक करने का निश्चय किया है।" यों कह कर राजा ने वसिष्ठ महामुनि से कहा, "गुरुदेव, श्रीरामचन्द्रजी के राज्याभिषेक के लिए जिस जिस सामग्री की आपको आवश्यकता हो, मुझे आज्ञा दीजिए। आपकी आज्ञा के अनुसार वह शीघ्र ही इकट्ठी हो जायगी।" तब वसिष्ठजी ने श्वेतपुष्प, मधु, घृत, नये शुभ्र-वस्त्र, सर्वायुध-युक्त रथ, चतुरंग सेना, उत्तम-लक्षण युक्त हाथी, शुभ्रछत्र, चामर, व्यजन और ध्वजाएँ, अग्नि के सदृश चमकने वाले सौ सुवर्ण कलश, सोने से मढ़ा हुआ सींग, छिद्ररहित व्याघ्र का चर्म तथा हवन-सामग्री, आदि सब दूसरे दिन प्रातः राजा की अग्निशाला में सिद्ध रखने की सचिवों को आज्ञा दे दी। साथ ही नगर तथा अन्तःपुर के द्वार आनंद-युक्त सुगंधित फूलों वाली पुष्पमालाओं से सजाने, धूपित करने, चारों ओर ध्वजा पताकाएँ खड़ी करने और मार्गों का छिड़क कर सारे नगर को सजाने की भी आज्ञा दी। इसके बाद राजा ने श्री रामचन्द्रजी को सभा में लाने के लिए सुमंत्र से कहा। सुमंत्र उसी समय महल में गये और रामचंद्रजी को राजाज्ञा सुना कर उन्हें रथ में बिठला कर शीघ्र ही राज-सभा में ले आये। रामचंद्रजी के सभा में प्रवेश करते ही सिंह के सदृश उनकी गति, चंद्रमा के सदृश अत्यंत चित्ताकर्षक मुख तथा शांत और सुशील स्वभाव देखकर सारी प्रजा प्रेम और आनन्द से पुलकित हो गई।

उनके वृद्ध पिता की तो उनकी ओर अनिमेष देखते रहने पर भी तृप्ति नहीं होती थी। रामचन्द्रजी ने आते ही सिंहासन के निकट जा कर अपने पिताजी को प्रणाम किया। रामचन्द्रजी को विनय से हाथ जोड़े पास खड़े देख कर राजा ने उन्हें बड़े प्रेम से अपने हृदय से लगा लिया और कहा, "बेटा रामचन्द्र! तुम मेरी ज्येष्ठ पत्नी की कोख से जाये हुए ज्येष्ठ और मेरे अत्यन्त प्रिय पुत्र हो। तुम्हारी आयु, विनय तथा गुण को देखते हुए अब तुम राज-काज करने में योग्य हो गये हो। इसलिए मैंने तुम्हें युवराज बना कर राज्य का सारा कारोबार तुम पर सौंपने का आज निश्चय कर लिया है। इस कार्य में सारी प्रजा का भी अनुमोदन है। इसलिए मैंने महर्षि वशिष्ठजी की सम्मति से यह निश्चय कर लिया कि कल ही सुबह तुम्हें यौवराज्यभिषेक भी कर दूं। तुम स्वयं बुद्धिमान्, सुशील और सुशिक्षित हो; अतः तुम्हें इस समय कुछ भी अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। तो भी पुत्र-प्रेम के कारण मैं तुम्हें कुछ कहता हूँ। तुम्हें कुछ अनुभव सिद्ध उपदेश की बातें कहे बिना मुझ से नहीं रहा जाता। राजा को अत्यंत विनय-शील वृत्ति से रहना चाहिए। उसे अपनी इन्द्रियों को अपने अधीन करके काम क्रोधादि को अपने पैरों के नीचे दबा देना चाहिए। काम-क्रोधादि से उत्पन्न होने वाले संकट बड़े ही भयंकर होते हैं। प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रीति से प्रजा के सुख-दुःखों की जाँच करके उन पर पुत्रवत् प्रेम रखना चाहिए। बेटा, अपने कर्मचारियों को सर्वदा संतुष्ट और अनुरक्त रखना, जिससे तुम्हें तथा तुम्हारे मित्रों देवताओं को अमृत-प्राप्ति से जितना आनन्द हुआ, उससे अधिक आनन्द होगा। तुम्हें इससे अधिक और कुछ भी

कहने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए अब तुम जाओ और कल तक सीताजी सहित उपवास और व्रती रहो।" इस आज्ञा को सुनते ही दूतों ने वे आनन्द-समाचार महारानी कौशल्या जी से जा कर कह सुनाये। उन्हें तो यह सुनकर अवर्णनीय आनंद हुआ! उन्होंने इस शुभ संदेश के सुनाने वाले दूतों को वस्त्र-आभूषण आदि इनाम देकर संतुष्ट किया। इधर पिताजी की आज्ञा को सुनकर रामचंद्र जी ने भी बड़ी नम्रता पूर्वक उन्हें प्रणाम किया और माता कौशल्याजी से मिलने के लिए चल दिये। वहाँ पर सुमित्राजी, लक्ष्मण तथा सीताजी, भी उन समाचारों को सुनकर, पहले ही से आ पहुँची थीं। वे सब आनंद से फूले नहीं समाते थे। माताजी से मिलकर और उनके आशीर्वाद ले कर रामचन्द्रजी अपने महल को गये। इधर सभा में उपस्थित प्रजाजन भी, राजा दशरथ की आज्ञा पा कर, आनंदित हो अपने-अपने घर को गये। चारों ओर उत्सव की तैयारियाँ होने लगीं, समस्त नगरी में एक अपूर्व उत्सव का आनंद छा गया। (अयो० स० १-६)

संध्या का समय था। रानी कैकेयी की दासी मंथरा जो नैहर से उनके साथ आई थी योंहीं अटारी पर चढ़ी तो उसने देखा कि समस्त नगरी में एक अपूर्व शोभा छाई हुई है। राजमार्गों पर सुगंधित जल छिड़का गया है; चारों ओर ध्वजा-पताकाएं फहरा रही हैं; स्थान-स्थान पर कमल वगैरह फूलों के हार लटके हुए हैं; नगर के द्वार सजाये जा रहे हैं; कोई देवालयों के द्वारों पर रंग चढ़ा रहे हैं, तो कोई घर-घर नक्कारे आदि मंगल वाद्य बजा रहे हैं, सभी मनुष्य शिरः स्नात हो सुंदर वस्त्र पहिन कर घूमने के लिए निकल पड़े हैं। सारांश, सारी अयोध्या नगरी आनंद और

उत्सव मनाने में मग्न हो गई है। उधर प्रासाद-प्रान्त में भी, महारानी कौशल्या के महलों में, ध्वजा-पताकाएँ फहरा रही हैं, मंगल वाद्य बज रहे हैं तथा सहस्रों ब्राह्मण दान लेकर अपने-अपने घर को जा रहे हैं। इस प्रकार चारों ओर आनंद के बादल उमड़ रहे हैं। मंथरा के पास कैकेयी की वृद्धादाई भी खड़ी हुई थी उससे मंथरा ने पूछा अरी दाई, आज यह इतना आनंदोत्सव किस बात का है? राम की माता कौशल्या ब्राह्मणों को इतना दान क्यों दे रही है और नगर में भी चारों ओर यह उत्सव की धूम कैसे मची हुई है?" दाई ने उत्तर दिया "अरे, क्या तुझे मालूम नहीं कि राजा दशरथ कल श्रीरामचंद्र जी को यौवराज्याभिषेक करने वाले हैं? ये आनंद समाचार चारों ओर फैल गये पर अभी तक वे तुझको कैसे नहीं मालूम हुए?" उस निष्कपट वृद्धा स्त्री के उद्गार दुष्ट मंथरा को क्यों अच्छे लगने चले! वह अपनी भौंहें टेढ़ी करके बोली, "अरी बूढ़ी क्या ये आनंद के समाचार हैं? यह तो एक महान् संकट ही उपस्थित हुआ है। यदि हो सका तो मुझे अभी से उसके निवारण की कोशिश में लग जाना चाहिए। "यों कह कर वह अटारी से नीचे उतर कर अपनी स्वामिनी कैकेयी के पास गई—जो पलंग पर लेटी हुई थी, और बोली "अरी बावली कैकेयी, तू इस प्रकार आनंद से चुपचाप कैसे पड़ी हुई है? क्या तुझे पता नहीं कि तुझपर एक महान् संकट आ रहा है? तुझे अपने सौभाग्य और ऐश्वर्य का बड़ा भारी घमंड है न? ले अब वह तेरा भाग्य, ग्रीष्म ऋतु के नाले के समान शीघ्र ही सूख जायगा। हे देवी, राजा दशरथ कल तेरे चिरस्थायी दुःख की नींव डालने वाले हैं। अरी, कल रामचन्द्रजी को यौवराज्याभिषेक होने वाला

है। अधिक क्या कहूँ ? मेरे शरीर में तो सिर से पैर तक, आग धधक उठी है और मैं तुम्हारे हित के लिए–तुम्हारी आँखें खोलने के लिए यहाँपर दौड़ी हुई आई हूँ।" मंथरा के उद्‌गार सुनकर कैकेयी तो आनंद से उठ बैठी और बोली 'तू बक क्या रही है ? इसमें दुःख की कौन बात है ? मुझे तो भरत ही के समान राम भी प्यारे हैं। भरत के ही सदृश राम भी मेरी सेवा करते हैं और मैं तो राम को भरत से भी अधिक प्यार करती हूँ। बड़े आनंद की बात है कि उन्हें महाराज युवराज बनाने वाले हैं।' "यह सुनकर मंथरा ने कैकेयी से कहा, "मूर्ख कैकेयी, तू तो बिलकुल ही भोली-भाली है। क्या बात है कि अश्वपति के राजकुल में जन्म लेने पर भी तू राजनीति से इतनी अछूती है ? इसीलिए 'प्रिया' 'लाड़िली' आदि मीठे मीठे शब्दों से तुझे रिझाकर राजा कौशल्या का ही सच्चा मतलब करता रहता है। तभी तो भरत को ननिहाल में भेजकर राजा दशरथ ने अकस्मात् राम को राज्याभिषेक करने का निश्चय किया है। पर राजा की यह धूर्तता तेरे ख्याल में नहीं आई ? शिव, शिव, यह राजा दशरथ पति के रूप में तेरा परम शत्रु ही है। यदि अपना भला चाहे तो अब भी संभल कर अपनी तथा अपने पुत्र की इस भावी संकट से रक्षा कर।" जब इतना जहरीला भाषण सुन कर भी कैकेयी का आनंद कम न हुआ, तब मंथरा ने फिर से कहा, "कैकेयी, बड़े आश्चर्य की बात है कि शोकसागर में ढकेली जाने पर भी तू आनंदित हो रही हो ! कल कौशल्या के पुत्र को पुष्य नक्षत्र के मुहूर्त पर ब्राह्मण लोग यौवराज्याभिषेक करेंगे और फिर कौशल्या सचमुच ही धन्य होगी; क्योंकि कल ही से उस समस्त पृथ्वी के अधिपति श्रीराम की माता के सामने दासी की

समान हाथ जोड़ कर खड़े रहने की नौबत तुझपर आवेगी और तेरे साथ साथ वही संकट हम पर भी आवेगा। तुम्हारा पुत्र भी राम के सामने गुलाम की तरह हाथ जोड़ कर खड़ा रहेगा। अब से भरत-वंश हमेशा के लिए राज्य से भ्रष्ट होगा और केवल राम का ही बेटा राज्य करेगा। राम का क्या ठिकाना? इस समय तो वह तुम से कितनी ही चिकनी चुपड़ी बातें बनाता है, पर युवराज होते ही वह भरत को अपनी राज सीमा से और शायद इस लोक से भी बिदा कर देगा! कैकेयी, तू इतनी अंधी न बन; कोई उपाय तो सोच, जिससे राम को यौवराज्याभिषेक न होने पावे। न हो तो बारह-चौदह वर्ष के लिए उसे वन को ही भिजवा दे। मुझे तो यही उचित जँचता है। उठ; जरा तू भी सोच ले अबतक अपने सौन्दर्य, ऐश्वर्य और अपने पति के प्रेम के बल पर तूने जिस कौशल्या का अनेक बार अपमान किया है; वही कौशल्या—अरी वही तेरी सौत राम के युवराज होते ही तेरे सारे किये का जरूर बदला चुकावेगी।" ये शब्द सुनते ही कैकेयी की मनोवृत्ति पलट गई। सौतिया डाह की आग उसके दिल में जोरों से धधक उठी। अत्यंत क्रोधित हो कर वह बोली "क्या मेरे पुत्र को ननिहाल भेज कर महाराज ने सचमुच कौशल्या के पुत्र को युवराज बनाने का निश्चय किया है? देखती हूँ, वह यह कार्य कैसे करते हैं? राम को बन भेजकर भरत को राजतिलक कराऊंगी तभी सच्ची कैकेयी कहलाऊंगी? मंथरा, इसके लिए कोई सरलसा उपाय तो बतला? छिः! मैं कौशल्या के आगे कभी हाथ जोड़े नहीं खड़ी रहूँगी!" मंथरा ने जरा देर तक सोचकर कहा; "हाँ: सुन मुझे एक युक्ति सूझी है। क्या तुझे याद नहीं कि राजा दशरथ ने तुझे दो वर दिये थे? बहुत पुरानी बात है।

देवताओं का दैत्यों से युद्ध हुआ था और दक्षिण में शम्बरासुर के वैजयन्त नगर पर देवताओं की सहायता करने के लिए राजा दशरथ ने चढ़ाई की थी; उस समय दंडकारण्य में भयङ्कर युद्ध हुआ। राक्षसगण रात को सोये हुए वीरों का भी संहार करने लगे। उस घोर युद्ध में तू भी राजा के साथ गई थी और उनके सारथी का काम करती थी। जब राजा दशरथ युद्ध में घायल हो कर अचेत हो कर गिर गये तब तूने ही तो युक्ति से उन्हें युद्ध भूमि से हटाकर उनके प्राणों की रक्षा की थी। तेरे प्रसंगावधान से उस समय खुश होकर राजा ने तुझे दो वर मांगने के लिए कहा था, पर तू ने कहा था मैं फिर कभी मांग लूंगी। अब उनको माँग लेने का अच्छा अवसर है। अतः एक वर से तो राम के लिए चौदह वर्ष का वनवास मांग ले और दूसरे वर से भरत को युवराज बना ले। इतनी लंबी अवधि में राम दक्षिण के राक्षसों से बचकर कदापि नहीं लौट सकते और यदि आ भी जावें तो तब तक भरत का प्रभाव स्थिर हो जाने पर यहाँ उनकी दाल नहीं गल पायगी। इसलिए जल्दी उठ, महाराज के आने का समय हो गया है। उनके आने के पहले ही तू क्रोधागार में जा बैठ। अपने सिर के बाल खोल कर और मैले वस्त्र पहिन कर पृथ्वी पर लेटी रह। राजा दशरथ का तुझपर बड़ा प्रेम है और उन्होंने दो वर माँग लेने के लिए तुझ से कहा भी है। सो वे तुझे अवश्य ही देंगे। पर, जरा सँभल कर काम करना। देखना कहीं महाराज की मीठी बातों में फँस मत जाना। वे नाना प्रकार के रत्न, आभूषण अथवा राज्य भी देने को कहेंगे तो भी तू अपनी बात को न छोड़ना। इस प्रकार उस दुष्टा दासी का उपदेश सुनकर वह

सौन्दर्य की मूर्ति और डाह से जलती हुई दुष्टा कैकेयी क्रोधागार में गई। उसने अपने गले के मुक्ताहार को तोड़कर, सारे अलंकार जमीन पर अस्त-व्यस्त फेंक दिये और मैले वस्त्र पहिन कर 'हाय! भगवान मैं कैसी अभागिनी हूँ इत्यादि दुःखोद्गार प्रकट करती हुई पृथ्वी पर लेट गई (अयो० स० ७-९)

नित्य नियमानुसार राजा दशरथ संध्या के समय अन्तःपुर में कैकेयी के महल की ओर गये। वे आनन्द पूर्ण विचारों में मग्न थे। उन्हें विश्वास था कि कल श्रीराम को यौवराज्याभिषेक होगा, यह प्रिय संदेश सुनकर कैकेयी बहुत आनन्दित होगी। राज-ज्योतिषी के कथनानुसार अरिष्ट सूचक ग्रह जन्म-नक्षत्र पर आ जाने से उनके शरीर को कष्ट होने की संभावना थी, इसीसे उन्होंने अकस्मात् रामचन्द्रजी को युवराज बनाने का निश्चय कर लिया था। इतना अवकाश भी नहीं था कि ननिहाल गये हुए भरत-शत्रुघ्न को बुलवा लेते। प्रायः इसी संकोच के कारण राजा ने अपने विचार पहले ही से कैकेयी पर प्रकट नहीं किये थे। पर उन्हें यह स्वप्न में भी ख्याल नहीं था कि इस छोटी सी ग़लती का भविष्य में ऐसा भयंकर परिणाम होगा। रामचन्द्रजी सब को प्रिय थे और कैकेयी का भी उन पर निश्छल प्रेम था। अस्तु। 'मैं कैकेयी से अकस्मात् ये आनन्द समाचार कहूँगा' यों सोचते हुए राजा दशरथ अन्तःपुर के उद्यान में से जा रहे थे। मोर, तोता, मैना, हँस आदि पक्षियों के मधुर शब्द सुनते हुए, पल्लवों से आच्छादित लतागृहों की शोभा देखते हुए, चंपक, अशोक, बकुल आदि सुंदर वृक्षों की छाया में से हो कर, नाना प्रकार के चित्र विचित्र पत्थरों से जड़े

हुए और हाथी दाँत, सोना तथा चाँदी से चित्रित की हुई सीढ़ियों पर से, फव्वारे, पुष्पकारिणी, वापी, छोटे सरोवर इत्यादि के सुगन्धित जल की भीनी वायु का सेवन करते हुए राजा दशरथ कैकेयी के महल में पहुँचे। पर, उस दिन नित्य नियमानुसार कैकेयी ने उनका स्वागत नहीं किया। कैकेयी ने वह अवसर कभी नहीं टाला था। पर आज तो वह अपनी शय्या पर भी नहीं थी, यह देखकर राजा बड़े आश्चर्य चकित हुए। इतने में प्रतीहारी ने हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि 'आज रानी साहिबा रूठ क्रोधागार में चली गई हैं।' ये शब्द सुनकर राजा और भी अधिक आश्चर्य चकित हुए और बड़े दुःख से उन्होंने क्रोधागार की ओर अपना पैर बढ़ाया। भीतर जाते ही उन्होंने देखा कि कैकेयी पृथ्वी पर लेटी हुई है। अपनी प्रिय पत्नी को इस प्रकार शोक-मग्न देखकर वृद्ध राजा बड़े दुःखित हुए और उन्होंने कैकेयी के मुँह पर हाथ फेर कर कहा, "प्रिये! बताओ तो, तुम्हारी इस नाराज़ी का क्या कारण है? मुझे तो अपने किसी अपराध का स्मरण नहीं है। क्या किसी ने तुम्हारा अपमान किया है? किसी ने तुमसे रूखी बातें तो नहीं कहीं? मेरा यह समृद्धिशाली सारा राज्य तुम्हारी सेवा के लिए तैयार होने पर भी तुम्हें किसने दुःख दिया? तुम्हें जिस किसी बात की आवश्यकता हो, वह मुझसे कहो।" यह सुनकर कैकेयी बोली, 'मुझे न तो किसी ने कोई दुःख दिया है और न किसी ने मेरा अपमान ही किया है। यदि आप मेरी इच्छा-पूर्ति का वचन दें तो मैं अपनी इच्छा आप पर प्रकट करूंगी।" राजा भला क्यों गहरे सोच-विचार में पड़ने लगे। उनके दिल में कोई पाप तो था नहीं। इसलिए उन्हें यह ख्याल

छू तक नहीं गया कि कुछ बुरा होने को है। वे बोले, "कैकेयी, मुझे राम के अतिरिक्त कोई भी तुमसे अधिक प्रिय नहीं है; अतः उनकी शपथ ले कर कहता हूँ कि तुम जो कुछ मांगोगी, वही मैं तुम्हें दूँगा। तुम्हारी जो कुछ भी इच्छा हो, वह मुझ से कहो। मेरे विषय में किसी प्रकार का व्यर्थ संदेह अपने मन में न लाओ।" राजा के ये शब्द सुनकर कैकेयी बड़ी आनन्दित हुई और उसने अपनी भयंकर इच्छाएँ पूरी करने का निश्चय कर लिया। वह बोली, "महाराज, अपने राम की शपथ खा कर मुझे इच्छित वर देने की प्रतिज्ञा की है, अतः सुनिए। इन्द्र, सूर्य, दिन रात-भूलोक और भुवर्लोक इन सब को साक्षी रखकर मैं कहती हूँ। सत्य प्रतिज्ञ- धार्मिक और धर्मज्ञ राजा दशरथ ने मुझे इच्छित वर देने को कहा है; इसलिए अब मैं यही माँगती हूँ कि रामचन्द्र के अभिषेक के लिए जो सामग्री एकत्रित की गई है, उसका उपयोग मेरे भरत के यौवराज्याभिषेक के लिए किया जाय और राम वल्कल पहिन कर १४ वर्ष तक दण्डकारण्य में रहें, जिससे भरत का राज्य निष्कंटक हो जावे। यही इच्छा और प्रार्थना है। मुझे आपने पहले ही से दो वर दे रक्खे हैं; इसीसे मैंने ये वर माँगे हैं। नया कुछ नहीं माँगती हूँ। इसलिए उठो; राम को आज ही बन को भेजो; तभी मेरा क्रोध शान्त होगा।" ज्योंही कैकेयी के मुख से ये भयंकर शब्द निकले; त्योंही राजा पर मानों बिजली गिर गई। एक मुहूर्त तक राजा चिंतातुर हो बैठ रहे। उनके हृदय में शोक का दावानल धधक उठा। सांप को लकड़ी मारने पर वह जिस तरह जोर-जोर से फूत्कार करता है उसी प्रकार राजा भी

क्रुद्ध होकर गहरी साँस ले लेकर कैकेयी को धिक्कारने लगे और दुःख-शोक के आवेग से मूर्च्छित हो वे पृथ्वी पर गिर पड़े । पुनः कुछ देर में सचेत हो कर वे बोले: —"दुष्टा; पापिनी; कुलविध्वंसिनी ! राम ने तेरा क्या बिगाड़ा है; जिसके कारण तू उसे इस बुरी तरह छलने को तैयार हो गई है ? वह तो तुझे सगी माता के सदृश प्यार करता है । फिर तू उसका बुरा क्यों सोच रही है ? तू प्रत्यक्ष कालसर्पिणी है और मैंने मानों अपने नाश ही के लिए मूर्खता वश तुझे अपने घर में रख छोड़ा है । सहस्रों मनुष्य बल्कि सारा जगत् रामचन्द्र के गुण गाता है, अतः उन्हें मैं किस अपराध पर बन को भेजूं ? मुझे राम से अधिक प्यारा कुछ भी नहीं है । मैं अपना सारा राज्य नहीं,—अपने प्राण भी उसके लिए त्याग दूँगा, पर उसका त्याग नहीं कर सकता । सूर्य के बिना पृथ्वी शायद रह सकेगी पर राम के बिना मैं एक पल भी जीवित नहीं रह सकता । इसलिए हे चांडालिनी ! अपने इस हठ को छोड़ दे । मैं तेरे पैरों पर गिरता हूँ । मुझपर दया कर । इक्ष्वाकु कुल पर यह भयंकर समय उपस्थित हुआ है । तेरी वह सरल और न्यायी बुद्धि कैसे नष्ट हो गई ? आज तक तूने ऐसी अप्रिय बात कभी नहीं कही अथवा कोई बुरी इच्छा भी प्रकट नहीं की थी । फिर आज ही तेरी बुद्धि कैसे भ्रष्ट हो गई ? नौ और पाँच-चौदह वर्ष तक प्यारा राम बन में कैसे रह सकेगा ? राज-सुख और वैभव में जो छोटे से बड़ा हुआ उस मेरे सुकुमार राम को तुम बन को भेजने के लिए कैसे तैयार हो गई ? प्रिये कैकेयी, मेरी वृद्धावस्था की ओर तो जरा देख ! मैं दीन हो कर तुझसे यह करुणा की भीख माँग रहा हूँ । मेरा कहा मान ले । संसार में

जितनी भी उत्तमोत्तम वस्तुएँ होंगी वे सभी मैं तुझे देने के लिए तैयार हूँ। पर इस मरणतुल्य संकट में मुझे न डाल।" इस प्रकार अनेक तरह से शोकाविष्ट राजा ने कैकेयी को समझाया। पर, वह दुष्टा टस से मस न हुई। अन्त में उसने एक ही उत्तर दे दिया, "एक बार तो आपने मुझे वर दे दिया और अब आप उसे टाल रहे हैं; यह आपकी धार्मिकता नहीं दांभिकता ही है, जगत् के सभी लोक तुम्हें अपराधी समझेंगे और सब धर्मज्ञ राजर्षि तुम्हारी निन्दा करेंगे। शिबि राजा ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार श्येन पक्षि को अपने शरीर का मांस तक काटकर दे दिया और अलर्क ने तो अपनी आँखे निकाल कर ब्राह्मण को दे दी थीं। समुद्र भी प्रतिज्ञा का भंग करके अपनी मर्यादा को नहीं त्यागता। इसीलिए आप भी अपने वचन का भंग करके अपनी कीर्ति को कलंकित न कीजिए। यदि आप वचन-भंग करके राम को राज्य दे कर कौशल्या सहित सुखोपभोग करना चाहें तो आप वह शौक से कर सकते हैं। पर यदि कहीं राम को राज्याभिषेक हो गया तो मैं सच कहती हूँ कि, मैं आपके सामने विष पी कर अपने प्राण त्याग दूँगी फिर आप चाहे सो करते रहें। मैं आपकी तथा भरत की शपथ ले कर कहती हूँ कि बिना राम को बन को भेजे अन्य किसी बात से मेरी तृप्ति नहीं होगी। इससे अधिक और अब क्या कहूँ?" ये दारुण वचन कहकर वह मौन बैठ रही। राजा दशरथ ने उसे बहुत प्रकार से समझाया तो भी वह कुछ न बोली। उसका निश्चय देख कर राम का भावी वनवास तथा भरत का भावी वैभव राजा की आँखों के सामने खड़ा हो गया और वे कुछ देर तक उस बिखरे हुए बालों वाली राक्षसी की ओर

टकटकी लगाये देखते रहे तथा अंत में कुल्हाड़ी से काटे हुए वृक्ष की तरह पृथ्वी पर गिर पड़े। फिर सचेत हो कर उन्होंने बड़ी दीनता पूर्वक कैकेयी से कहा, "आज सहस्रों मनुष्य अनेक नगरों से राम का अभिषेकोत्सव देखने के लिए आये हुए हैं। हे कैकेयी अब में उनसे क्या कहूँगा? पराजित सेना की तरह उन्हें चारों ओर बिखरे हुए मैं कैसे देख सकूँगा? और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि प्रजा मुझे क्या कहेगी? "इस वृद्ध राजा की तो अक़ल मारी गई है। कहाँ तो यह अभी राम को राज्याभिषेक करने वाला था और कहाँ यह उन्हें अब बन को भेज रहा है? यह राजा पागल तो नहीं हो गया"? आदि शब्दों से लोग मेरा धिक्कार करेंगे। राम को बन में जाते हुए देखकर आर्य लोग यह कह कर मेरी निन्दा करेंगे कि पुत्र-विक्रय करने वाला; यह अनार्य है और जिस प्रकार 'मद्य पीने वाले ब्राह्मण पर राह में कूड़ा कर्कट डाला जाता है' उसी प्रकार लोग मेरी दुर्गति करेंगे। अरी दुष्टा। तेरा सच्चा स्वरूप न पहिचान कर मैंने तुझे व्यर्थ ही आज तक अपने घर में फाँसी की डोर की तरह रख छोड़ा था। अरी पापिनी; क्या तू मुझे; कौशल्या और सुमित्रा को नर्क में ढकेल कर सुखी बनना चाहती है? राम के बन को चले जाने पर मैं कभी जीवित नहीं रह सकता। फिर विधवा होकर तू बड़े आनन्द से पुत्र सहित राज-सुख भोगियो। अरी चांडालिनी! जरा विचार कर। बिना राम के मेरे प्राण नहीं रह सकते। मैं तेरे पैरों पड़ता हूँ। तू अपना हठ छोड़।" यों कहकर कैकेयी के फैलाये हुए पाँवों को पकड़ने के लिए राजा आगे की ओर बढ़े; पर कैकेयी के पैर समेट लेने से वे पृथ्वी पर गिर पड़े। (अयो० स० १०–१२)

सूर्यास्त के बाद अब तो संध्या काल भी बीत चुका था और रात हो कर चंद्रमा की आल्हाद-जनक चाँदनी चारों ओर छिटक गई थी। पर कैकयी के महल में तो आनंद के बदले घोर भीषणता दिखाई दे रही थी। राजा दशरथ शोकाकुल हो कर अश्रु बहा रहे थे। वे बारम्बार उस दुष्ट स्त्री को धिक्कारते और उसकी प्रार्थना भी करते थे, पर उसने अपना हठ नहीं छोड़ा। जब तक स्त्रियाँ मर्यादा के भीतर रहती हैं तब तक सब कुछ ठीक होता है, पर एकबार उनके मर्यादा छोड़ते ही ब्रह्मा भी उन्हें नहीं समझा सकते। बारंबार दीर्घ और उष्ण श्वास निकालते हुए कभी आस्मान की ओर टकटकी लगाते तथा कभी क्रोध से सर्पिणी के सदृश फूत्कार करने वाली उस स्त्री की ओर देखते हुए राजा ने वह शोक पूर्ण रात बिताई तो भी उनकी कष्टावस्था का अंत नहीं हुआ।

प्रातः काल के समय वसिष्ठ ऋषि शीघ्र ही स्नानादि कर्मों से निवृत्त हो कर शिष्यगणों सहित अपने आश्रम से चले। नगर में प्रवेश करते ही उन्हें चारों ओर आनंद का साम्राज्य दिखाई दिया। मुख्य मार्ग साफ और छिड़के हुए हैं; तोरण-पताकाएँ फहरा रहीं हैं, मार्गों पर आनंदमग्न लोगों के झुंड के झुंड दिखाई देते हैं और चारों ओर बाजार में भीड़ लगी हुई है। उस शोभा को देखकर वसिष्ठ जी बहुत संतुष्ट हुए। वे शीघ्रही सजाये हुए महल में पहुँचे और यज्ञशाला में जाकर अभिषेक की तैयारी करने लगे। उन्होंने सुमंत्र को आज्ञा दी कि राजा दशरथ को उठाओ और उन्हें न्हिला कर मेरे आने की सूचना दे दो। पुष्य नक्षत्र पर चन्द्रमा आ पहुँचा है। इस सुमुहूर्त पर रामराज्याभिषेक हो ही जाना चाहिए। ऐसा न हो कि यह शुभ मुहूर्त हाथ

से चला जाय।" इस प्रकार वसिष्ठजी की आज्ञा होते ही सुमंत्र; कैकेयी के महल में पहुँचे। पर राजा के निद्रित होने के समाचार पाकर; 'सूत' के नाते राजा की प्रार्थना करने लगे। प्राचीन काल में राजाओं को सूत; मागध और बंदीजन प्रातःकाल के समय उनके तथा उनके कुल के गुणों का गान कर जगाया करते थे। उसी प्रकार सुमंत्र सूत राजा के गुण गाने लगे। पर; राजा को उनका वह गुणगान ऐसा लगा मानो कोई छुरी भोंक रहा हो। वे बोले; "सुमंत्र, मैं जगता हूँ; तुम्हारे शब्द मुझे भाले की सदृश चुभते हैं। यह गुणगान बन्द करो। राजा के वे दीन उद्गार सुनकर और उनका शोकाकुल बदन तथा दुःख-विलाप और नींद न आने के कारण लाल लाल आँखें देख कर सुमंत्र अत्यन्त दुखित हुए और वे हाथ जोड़कर, कुछ पीछे की ओर हटकर, खड़े हो गये। राजा ने उनकी ओर देखा, पर वे कुछ भी न बोल सके। तब वह बेहया कैकयी बोली, "राम को राज्याभिषेक होगा इस हर्ष में राजा को रात में नींद भी नहीं आई, जिससे उन्हें बड़ी ग्लानि मालूम हो रही है। इसलिए तुम अभी जा कर रामचन्द्रजी को यहां पर ले आओ। किसी बात का संदेह न करो सुमंत्र ने प्रार्थना की, "देवी बिना महाराज की आज्ञा के मैं कैसे जाऊं?" तब राजा बोले, "सुमंत्र जाओ, मेरे लाड़ले राम को यहां पर ले आओ।" राजा की आज्ञा होते ही उनका संदेह दूर हो गया और वे शीघ्र ही अन्तःपुर से निकल कर, राम के महल को गये। श्रीरामजी स्नानादि कर्मों से निवृत्त हो उत्तम वस्त्र पहिनकर सुवर्ण-पर्यंक पर विराजे हुए थे और पास ही श्री सीतादेवी हाथ में छोटा सा चंदन का पंखा लेकर

खडे खडे श्रीरामचंद्रजी को हवा कर रही थीं। उन्हें देखते ही सूत ने झुक कर प्रणाम किया और हाथ जोड़कर प्रार्थना की:—"माता कौशल्याजी को धन्य हो। महाराज, महारानी कैकयी सहित आपसे मिलना चाहते हैं। इसलिए शीघ्र ही चलिए।" रामचन्द्र जी शीघ्र ही उठकर खड़े हुए और उन्होंने सीताजी से कहा, "देवी अवश्य ही महाराज और माता कैकयी जी मेरे अभिषेक के विषय में किसी बात का विचार कर रही हैं। इसलिए मैं अभी वहाँ हो आता हूँ। तुम परिवार सहित यहीं पर रहो।" यों कहकर वे चल दिये, सीताजी को कुछ संदेह हुआ, पर वे मन ही मन रामचन्द्रजी के कल्याण की कामना कर, द्वार तक उन्हें पहुँचा कर लौट गईं। राह में रामचन्द्रजी के साथ सैंकड़ों मनुष्य; मित्र पौर-जन और दास हो लिए। उन सबको बड़े सौजन्य से वहीं रोक कर रामचन्द्रजी ने अन्तःपुर में प्रवेश किया और कैकेयी के महलों में पहुँचे। वहाँ पर उन्हें चारों ओर उदासीनता देख पड़ी। भीतर जा कर देखा तो एक आसन पर दीन और म्लान बदन किये हुए पिता और उनके पास ही बाल फैलाकर क्रोध से लाल मुँह किये, मैला वस्त्र पहिने सौतेली माता कैकेयी पृथ्वी पर लेटी हुई उन्हें दिखाई दी। माता पिता को उस स्थिति में देखकर रामचन्द्रजी का भी मुँह और कंठ सूख गया। पर, उन्होंने आगे को बढ़कर नित्य नियमानुसार पहले पिताजी के चरणों पर मस्तक रक्खा और फिर कैकेयी को प्रणाम किया। राजा के मुख से केवल 'राम' ही शब्द निकल पाये। शोक के कारण वे बोल तक नहीं सकते थे। आँखों में अश्रुधाराएँ इस तरह आ रही थीं कि वे उनकी ओर देख भी नहीं सकते थे। दशरथजी की इस

भयंकर स्थिति को देखकर रामचन्द्रजी भयभीत हो गये। असीम शोक के कारण वे एक ही रात में मानों सूखकर काँटा हो गये थे। बार बार दीर्घ साँस खींचने वाले और दुःख से व्याकुल राजा ग्रहण लगे हुए सूर्य की तरह अथवा असत्य भाषण करने वाले ऋषि के समान तेज रहित दिखाई देने लगे। उनका दुःखी और क्षुब्ध अन्तःकरण देखकर रामचन्द्रजी को भी पूर्णिमा के समुद्र की तरह दुःख उमड़ आया और उन्होंने शोक के कारण आर्त स्वर से अपनी माता से कहा, "देवी कैकेयी, क्या मेरे किसी अपराध से तो महाराज क्रोधित नहीं हुए ? माताजी, आप मेरी ओर से महाराज को प्रसन्न करो। क्या कोई मानसिक या शारीरिक ताप तो महाराज को नहीं हुआ ? क्योंकि, सुखपूर्ण स्थिति सर्वदा एकसी नहीं बनी रहती। मेरे प्रिय भाई भरत के विषय के तो कोई बुरे समाचार नहीं आये हैं ? अथवा शत्रुघ्न या मेरी माताजी का तो कोई अशुभ नहीं हुआ ?" रामचन्द्रजी के उक्त उद्गार सुनकर वह बेहया औरत बोली, "रामचन्द्र, महाराज तुमपर नाराज नहीं हुए हैं, बल्कि तुम्हारे भय के कारण वे अपने मन की बात कहने को हिचकते हैं। अपने लाड़ले पुत्र को राजा कोई बुरी बात नहीं कह सकते। इसलिए मैं ही तुम से वह बात कहे देती हूँ। तुम उस कार्य को अवश्य करोगे; इसमें बिलकुल सन्देह नहीं है। देखो न, राजा पहले मुझे वर दे चुके हैं और अब उसके लिए पछताते हैं। पहले किसी चीज को देने का वादा करके फिर वादे पर पछताना ठीक पानी के निकल जाने पर बांध बनाने के समान है। तुम और सभी सत्पुरुष जानते हैं कि समस्त धर्मों का आधार सत्य है। और मेरा तो विश्वास है कि राजा तुम्हारे लिए सत्य

का त्याग करने को तैयार नहीं होंगे। कैकेयी के ये बचन सुनकर रामचन्द्र बड़े दुःखित हुए और वे राजा के सामने कैकेयी से बोले "हे देवी! यदि मैं राजा की आज्ञा का पालन न करूँ तो मुझे धिक्कार है। मेरे विषय में तुम ऐसा संदेह न करो। यदि महाराज की आज्ञा होगी तो मैं आग में भी कूद पड़ूँगा। इसलिए मुझसे कहो कि महाराज की क्या आज्ञा है? रामचन्द्र एक बचनी है।" उस आर्य राजपुत्र के ये निश्चयात्मक शब्द सुनकर अनार्या कैकेयी फिर इस तरह भयंकर बचन कहने लगी। वह बोली, "रामचन्द्र, पहले जब देव और असुरों में युद्ध हुआ था, तब तुम्हारे पिता भी देवताओं की सहायतार्थ गये थे। वे उस युद्ध में घायल हो कर गिर पड़े। उस समय मैं उनके सारथी का काम कर रही थी, मैंने फौरन युक्ति पूर्वक युद्ध भूमि से रथ को हटाकर तुम्हारे पिता की रक्षा कर ली। उस समय उन्होंने मुझ से दो वर माँग लेने को कहे, पर मैंने कहा फिर कभी माँग लूँगी। वही दो वर आज मैंने तुम्हारे पिता से मांगे हैं। एक वर में भरत के लिए यौवराज्याभिषेक माँग लिया है और दूसरे में १४ वर्ष तक तुम्हारे दंडकारण्य में चले जाने की इच्छा प्रकट की है। इसलिए यदि तुम्हें अपने पिता की प्रतिज्ञा को सत्य करना है तथा अपने भी बचन को निभाना हो तो पिता की आज्ञा का पालन करो और इस व्यर्थके उत्सव को छोड़कर अभी बल्कल पहिनकर बन को चले जाओ। जाओ, मेरा प्यारा भरत इस पृथ्वी का राज्य करेगा। शायद इसी कारण राजा को तुम्हारे विषय में करुणा आ रही है और शायद इसी लिए वे तुम से कुछ कह भी नहीं सकते। पर, तुम राजा की प्रतिज्ञा को पूरी करके उन्हें इस

संकट से छुड़ाओ।" कैकेयी के ये मृत्यु तुल्य भयंकर उद्गार सुनकर रामचन्द्रजी जरा भी दुःखित नहीं हुए, वरन् शांतिपूर्वक बोले; "यदि यही बात है तो कोई चिंता की बात नहीं। तुम्हारा कहना मुझे मान्य है। मैं बड़े आनन्द से राजा की प्रतिज्ञा पूरी करूँगा और अभी वल्कल पहिन कर बन को चला जाऊँगा। माताजी, तुम किसी बात का दुख न करो। मैं अवश्य ही बन को जाता हूँ। क्या यह कभी संभव है कि मैं अपने राजा, पिता, गुरू तथा आज तक भला चाहने वालों की आज्ञा को न मानूँ? पर, देवी एक बात मुझे खटकती है। राजा ने अभी तक अपने श्रीमुख से यह नहीं कहा कि 'मैं भरत को राज्याभिषेक करने के लिए तैयार हूँ।' यदि राजा की वह इच्छा हो, तो मैं उसे शिरोधार्य कर उसपर अमल करूँगा। इसलिए तुम महाराज को जरा समझाओ। राजा की आंखों से मंद मंद आंसू गिर रहे हैं; इसका मुझे कोई कारण नहीं मालूम होता। शीघ्र ही एक अश्वारोही दूत भरत को बुलाने के लिए भेजो, और मैं भी राजाज्ञा के अनुसार, जरा भी दुःख न मानकर चौदह वर्ष के लिए वन को जाता हूं।" श्रीरामचन्द्रजी के वचन सुनकर कैकेयी को बड़ा आनन्द हुआ और उनको शीघ्र ही वन भेजने के दुष्ट उद्देश से वह बोली:—"रामचन्द्र, तुम्हारे पिता लज्जावश तुमसे कुछ नहीं कह रहे हैं। पर, मैं हां तुम से कहती हूं न कि जब तक तुम बन को नहीं चले जाओगे तुम्हारे पिता न तो स्नान करेंगे और न अन्न ही ग्रहण करेंगे।" ये बचन सुनकर राजा दशरथ 'धिक् धिक्' करके लंबी साँस लेकर अपने पर्यंक पर मूर्छित हो कर गिर पड़े! राजा को अचेत देखकर रामचंद्रजी ने शीघ्र ही उन्हें अपनी भुजाओं में

उठाकर बैठाया और जिस प्रकार किसी तेज, बलवान घोड़े की पीठ पर चाबुक का प्रहार होते ही वह तेजी से दौड़ने लग जाता है उसी प्रकार कैकेयी के कटु संभाषण के प्रहारों से ज़रा गरम हो कर वे बोले, "देवी कैकेयी, मुझे तुम साधारण मनुष्यों की तरह अर्थ-लुब्ध न समझो," मैं ऋषियों के सदृश अपने धर्म पर अटल हू । माता पिता की सेवा करने और उनके वचन का पालन करने के अतिरिक्त मैं अपना और कोई धर्म नहीं समझता । कैकेयी, वास्तव में तुम मुझे गुणवान् नहीं मानती; क्योंकि यदि तुम वैसा मानती तो सब तरह से मेरी स्वामिनी होने पर भी, तुम्हींने मुझे बन को जाने की आज्ञा क्यों न दी ? महाराज को भी क्यों व्यर्थ इतना कष्ट दिया ? अस्तु । तुम्हारी और महाराज की आज्ञा मुझे मान्य है । मैं माताजी से बिदा माँग कर और सीता को समझा कर अभी बन को जाता हूं । भरतजी राज काज देख कर महाराज की शुश्रूषा करते रहें और तुम भी उनकी देख भाल करते रहना । क्योंकि यही हम सब का परमधर्म है ।" श्रीरामचन्द्रजी के ये वचन सुन कर राजा दशरथ बड़े दुखित हुए । पर, वे कुछ भी बोल न सकते थे; इससे फूट-फूट कर रोने लगे ? (अयो० स० १४-१९)

आखिर यह सोचकर कि इस दुखदाई प्रसंग से किसी प्रकार बाहर निकलना ही चाहिए, श्रीरामचन्द्र अपने अचेत पिता के चरणों की वंदना कर तथा माताजी के भी चरण छू और दोनों की परिक्रमा करके वहाँ से चल दिये । वहाँ से बाहर निकलते ही उन्हें उनके मित्रगण दीख पड़े । सभी के नेत्रों से आँसू बह रहे थे । उन्हें समझा बुझा करके और अभिषेक-सामग्री की वंदना करके धीरे-धीरे वे कौशल्याजी के महल की ओर चल दिये । भावी

संकट की छाया से उनकी तेजोमयी रम्य कांति में ज़रा भी फर्क नहीं आया था। छत्र-चामरादि राजचिह्नों का निषेध कर और पीछे पीछे आने वाले मित्रों और नगर-निवासियों के समूह को वापिस भेज कर केवल लक्ष्मणजी सहित वे महारानी कौशल्याजी के महल में पहुँचे। वह माता बड़े हर्ष से व्रतस्थ रह कर उस समय अग्नि-पूजा कर रही थी। बहुमूल्य वस्त्रालंकारों से युक्त अपनी माता के चरणों का बंदन करते ही कौशल्याजी ने उन्हें अपने गले से लगा लिया और उनके मस्तक को सूंघ कर बड़े प्रेम से आशीर्वाद दिया। "बेटा, तुम महान् धर्मशील राजर्षियों की पंक्ति को सुशोभित करोगे" यों भी रामचन्द्रजी बड़े विनयसंपन्न पुरुष थे, पर उस समय तो कौशल्याजी की उस अज्ञात स्थिति में और भी विनय के साथ बोले, माँ, मुझपर एक ऐसा संकट आया है, जिस की तुम्हें अभी तक खबर नहीं है। मुझ पर, सीता पर तथा लक्ष्मण पर एक महान् भय आ रहा है। माताजी, मैं आज ही १४ वर्ष के लिये बन को जा रहा हूं। महाराज दशरथ भरत को यौवराज्य दे रहे हैं। और मझे १४ वर्ष का वनवास।" इन शब्दों के सुनते ही—कुल्हाड़ी के एकही घाव से कदली-वृक्ष जैसे एकाएक टूट पड़ते हैं,—उसी प्रकार एकाएक वह हतभागिनी दीन माता मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी। सावधानीपूर्वक वैसे ही उन्हें सम्भाल कर रामचन्द्रजी ने उन्हें सचेत किया और उस मूर्छा के कारण उनके शरीर पर जो धूल लग गई थी उसे साफ कर दिया। होश में आते ही कौशल्याजी बोली, "बेटा बांझ स्त्री को तो केवल यही एक दुख होता है कि मुझे पुत्र नहीं है, पर पुत्रवती को बारंबार दुख होता है। अब तक मुझे कोई सुख नहीं मिला। मुझे आशा थी

कि अब तुम्हारे युवराज होजाने पर मैं खूब सुखी होऊंगी। पर अब तो मेरी और भी बुरी हालत होगी। सब में बड़ी होने पर भी, अब मुझे सौत के पहले से भी अधिक भयंकर शब्द सुनने पड़ेंगे। तुम्हारे यहाँ होने पर जब किसी ने मेरी सुधि नहीं ली, फिर तुम्हारे बन को चले जाने पर तो मेरा जीवन ही संकटापन्न हो जावेगा। सचमुच मेरा, हृदय वज्र से भी अधिक कठोर है। इस भयंकर समाचार को सुनकर भी उसके टुकड़े टुकड़े क्यों नहीं हो गये!' इत्यादि विलाप करती हुई वे पुनः बोलीं:—"बेटा श्रीराम, पिता की तरह माता की भी आज्ञा तुम्हें माननी चाहिए। इसलिए मैं तुमसे कहती हूँ कि तुम बन को न जाओ और यदि तुम्हें जाना ही हो तो मुझे भी अपने साथ ले चलो! तुम्हारे बिना मैं पल भर भी कैसे जी सकूँगी?" पर, रामचन्द्रजी ने धर्म की अनेक बातें कहकर माताजी को समझाया। "सभी ऋषियों का कथन है कि पिता की आज्ञा मानना परम धर्म है। जामदग्न्य राम ने पिता की आज्ञा ही से स्वयं अपनी माता का शिरच्छेद कर डाला था। सगर के पुत्रों ने पिता की आज्ञा पा कर पृथ्वी को खोद डाला और अपने प्राण दे दिये। अतः जैसे राजा और पिता की आज्ञा मुझे मान्य है, वैसे ही तुम्हें भी पति की आज्ञा मान्य होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त पति को छोड़कर कहीं जाना पतिव्रता स्त्रियों का धर्म भी तो नहीं है। मेरे बन को चले जाने पर यदि तुम भी राजा का त्याग कर दोगी तो सचमुच ही मेरे प्रिय पिता जीवित नहीं रह सकेंगे। इसलिए तुम यहीं रहकर मेरे पिता की सेवा करो· यही मेरा और तुम्हारा परमधर्म है। इसलिए हे माताजी, मुझे बिदा होने की आज्ञा और आशीर्वाद दो। १४ वर्ष

वन में रह कर मैं अवश्य ही पुनः दर्शन के लिए लौटूँगा। किसी प्रकार की चिंता न करो।" रामचन्द्रजी के वचन सुनकर माता कौशल्या ने शांति पूर्वक कहा, "यदि दशरथ और कौशल्या का पुत्र इस प्रकार धर्मरत रहे तो इसमें कौन आश्चर्य की बात है। रामचन्द्र तुम्हारे वन को जाने के निश्चय को मैं कभी नहीं पलटा सकती। बेटा, तुम निःशक हो कर वन को जाओ। तुम्हारा सदा सर्वदा कल्याण होगा। पर जब तक तुम्हें भला चंगा वापिस लौटा हुआ नहीं देख लूंगी, मुझे निद्रा नहीं आवेगी। जब मैं तुम्हें पिता की प्रतिज्ञा को पूरी कर बनवास से वापिस लौटा हुआ यहाँ पर देखूंगी, तभी मेरे हृदय का शोक नष्ट होगा। जिस धर्म का तुम इतने प्रेम और निश्चय से पालन कर रहे हो; वही वन में भी तुम्हारी रक्षा करे। विश्वामित्रजी ने जो दिव्य अस्त्र तुम्हें दिये हैं, वे भी तुम्हारी रक्षा करें। तुम्हारी मातृभक्ति, पितृभक्ति और शील वन में तुम्हारी रक्षा करें और तुम कुशल पूर्वक लौट आओगे। वन के राक्षस, वृक्ष, भूत, पिशाच आदि से तुम्हें किसी प्रकार का भय न हो।" इस प्रकार आशीर्वाद देकर और उत्तम सुगंध युक्त पुष्प देवताओं पर से उतार कर उन्होंने रामचन्द्रजी को दिये और अश्रुयुक्त नेत्रों से उनकी ओर प्रेम से देखकर उन्हें फिर से अपने हृदय से लगा लिया। रामचन्द्रजी ने अपनी माता के चरण अपने हाथों से बार बार दबाकर उनकी वंदना की और अंतिम बिदा माँगी। (अयो० स० २०–२५)

कौशल्याजी से बिदा माँगकर रामचन्द्रजी वैसे ही अपने महल की ओर चल दिये। बेचारी सीता को उस समय तक स्वप्न में भी ख्याल नहीं था कि अपने भविष्य में क्या

क्या लिखा है। वे भक्तिपूर्ण अन्तःकरण से देव-पूजा करके रामचन्द्रजी की राह देख रही थीं। रामचंद्रजी को देखते ही वे अपने आसन पर से उठ बैठीं और उनका स्वागत करने के लिए आगे को बढ़ीं। पर, श्रीराम का वदन चिंता से व्याकुल देखकर वे एकदम घबरा गईं और उनके हाथ पाँव काँपने लगे। अब तक तो रामचन्द्रजी ने अपने आपको किसी प्रकार संभाल रक्खा था। किन्तु ज्यों ही उन्होंने अपनी प्रिय पत्नी को देखा, त्यों ही उनका सारा धैर्य गायब हो गया और उनके हृदय का दुख मुखमंडल पर छा गया। उनके फीके और खेदयुक्त वदन की ओर देखकर सीता ने आर्तस्वर से पूछा, "नाथ कोई नई दुर्घटना तो नहीं हुई? ऐसे पुष्ययुक्त बार्हस्पत्य सुमुहूर्त पर आप इतने दुखित क्यों हैं? आपके छत्र-चामरादि राजचिन्ह कहाँ गये? सूत, मगध तथा बन्दिजन नित्य नियमानुसार आज आपका स्तुति-गान क्यों नहीं करते? क्या बात है? आज तक आपका मुख कभी ऐसा चिंतायुक्त नहीं दिखाई दिया फिर वह आज क्यों इस तरह दीख पड़ता है? कृपा करके इसका कारण शीघ्र ही कहिए।" रामचन्द्रजी ने उत्तर दिया "प्रिये, मेरे परमपूज्य पिताजी आज मुझे वन को भेज रहे हैं। इस घटना के एकाएक होने का कारण भी तुम सुन लो। मेरे सत्यभाषी पिता ने माता केकैयी-को पहले किसी युद्ध के समय दो वर दिये थे। वही वर केकैयी माँ ने आज मेरे राज्याभिषेक के अवसर पर महाराज से माँगे हैं। एक वर से तो भरत को राज्याभिषेक, और दूसरे से मुझे दंडकारण्य में भेजने की उनकी इच्छा है। इसलिए वन को जाने के पहले मैं तुमसे बिदा माँगने के लिए यहाँ पर आया हूँ। तुम

भरत की आज्ञा का कभी उल्लंघन न करना और न उनके सामने मेरे गुणगान ही करना क्योंकि वैभवशाली पुरुषों को औरों की प्रशंसा अच्छी नहीं लगती। मैं पिताजी की प्रतिज्ञा को पूरी करने के लिए आज ही वन को जाता हूँ। मेरे पश्चात् तुम तटस्थ रहकर बड़ी सावधानी से रहना। नित्य प्रातःकाल देवताओं की पूजा करने, मेरे पूज्य पिता की वंदना करके मेरी दुःखित माताजी को भी समझाया करना। मेरी दूसरी माताओं की भी सेवा करके अपना आचरण ऐसा ही रखना, जो भरत को अच्छा लगे। क्योंकि अब वे ही हमारे देश और कुल के स्वामी होने वाले हैं। अच्छा, तो अब मैं जाता हूँ। तुम व्रत-परायण रहकर सदा भरत की आज्ञा का पालन करती रहियो।" श्रीरामचन्द्रजी के उक्त दुःखोद्गारों को सुनकर सीताजी ने कहा, वीरों, क्षत्रियों और शस्त्रास्त्र विद्या जानने वालों को न फबने वाले अयशस्कर शब्दों का उच्चारण आप क्यों कर रहे हैं? महाराज, माता पिता, बन्धु और पुत्र आदि सभी अपने-अपने आपके अधिकारी हैं और अपने पुण्य के अनुसार फल भोगते हैं पर, भार्या तो अपने पति के ही भाग्य को भोगने वाली होती है। इसलिए आपके वनवास में मैं भी सहकारिणी हूँ, और अपने को वन को जाने के योग्य समझती हूँ। स्त्रियों का तो पति ही मुख्य आधार होता है—उन्हें पिता, माता, पुत्र, सखी और स्वयं उनकी आत्मा का भी आधार नहीं होता। केवल पति ही उनका तो मुख्य आधार है। अतः यदि आप आज ही वन को जाते हों तो मैं आपके आगे चल कर, मार्ग के कांटों को अपने पैरों-तले दबाकर, आपका मार्ग साफ कर दूँगी। हे वीर-श्रेष्ठ, अपने मन की ईर्ष्या और रोष

को निकालकर, मुझ पर विश्वास रख के मुझे भी अपने साथ ले, चलो। मैं बिलकुल पाप-रहित हूँ। मैं भीषण अरण्यों में—जहाँ पर नाना प्रकार के भयंकर व्याघ्रादि हिंस्र पशु होंगे वहाँ भी--आपके साथ चलूंगी। पिता के घर की अपेक्षा भी अधिक आनन्द से वन में आपके साथ रहूंगी; किसी बात की इच्छा नहीं करूँगी। सदा सर्वदा आपकी सेवा करके व्रत-नियम करती हुई बड़े आनंद से मधुर सुगंध युक्त भिन्न भिन्न वनों में आप के साथ विचरण करूँगी। आप वन में सैकडों लोगों की रक्षा कर सकते हैं, फिर मेरी चिन्ता आपको हो ही कैसे सकती है? वन में मैं आपको किसी बात का दुख न होने दूँगी। सदा आपके आगे चलूंगी, आपको भोजन कराने पर मैं भोजन करूंगी। आपके आधार से निर्भीक होकर पर्वत, अरण्य, नदो, सरोवर आदि देखने की मुझे बड़ी इच्छा है। इसलिए, हे आर्यपुत्र, मुझे अपने साथ ले चलो। यदि आप मुझे अपने साथ नहीं ले चलेंगे तो मैंने मरने का निश्चय कर लिया है। मेरी प्रार्थना मान्य करने में कोई हानि नहीं है। "यों कहते कहते सीता जी की आँखों से आँसू टपकने लगे। (अयो० स० २६—२७)

इस प्रकार देवी सीता जी ने अनेक प्रकार से श्रीराम जी को समझाने का प्रयत्न किया, पर वनवास के कष्टों के विचार से वे उन्हें अपने साथ ले जाने के लिए तैयार नही हुए। उनकी आँखें पोंछकर तथा समझाते हुए श्रीराम बोले "सीते प्रिये, राजा जनक के अत्यंत पवित्र कुल में तुम्हारा जन्म हुआ है, और तुम पहले ही से धर्माचरण कर रही हो। अतः यहीं पर रह कर तुम्हें धर्मानुसार आचरण रखना कष्टप्रद नहीं होगा। और ऐसा करने

ही से मुझे भी आनंद होगा। वन के कष्टों का कहाँ तक वर्णन किया जावे ? पर्वत की गुफाओं में रहने वाले सिंहों की गर्जनाओं की प्रतिध्वनि से वन डरावने मालूम होते हैं और उन्हें अपने कानों से सुनना भी कठिन हो जाता है। प्रायः इसीसे वनवास बड़ा दुखदायी होता है। नदियों में बड़े बड़े मगर होते हैं और उनके किनारों पर बहुत कीचड़ होने से मदमस्त हाथियों को भी तै कर जाना कठिन होता है, फिर मनुष्यों की तो बात ही क्या है ? मार्ग में अनेक कंटक युक्त वृक्ष और बेलें होती हैं और उनमें से भी भयंकर जन्तुओं के शब्द सुन पड़ते हैं। कोसों तक पीने को पानी नहीं मिलता और मार्ग का आक्रमण करना कठिन हो जाता है। इस लिये तुम वन को चलने का आग्रह न करो। पृथ्वी को अपने हाथ से साफ करके उस पर पत्ते बिछा कर उन पर सोना पडता है, इसीसे वन का रहना अत्यंत कष्टकर है। जितने फल मिल जावें, उतने ही खा कर दिन-रात गुजर करनी पडती है, इस लिए तुम बन को चलने का आग्रह न करो। नाना प्रकार के भयंकर और विषैले सांप मार्ग पर घूमते रहते हैं। सीता जी, वन अत्यंत दुखदायी होता है, इस लिए तुम वहाँ चलने का विचार छोड़ दो। वायु और धूप सहनी पड़ती है, भूख प्यास के कष्ट उठाने पड़ते हैं तथा सैकड़ों अन्य भय उपस्थित होते हैं। इसी से बन को चलने का हठ छोड़ो। बहुत कुछ सोच-विचार करने पर भी मुझे यही विश्वास होता है कि तुम वन के कष्ट सहने के योग्य नहीं हो।" यह सुनकर सीताजी ने गद्गद हो उत्तर दिया "महाराज, आपके सुखद सहवास के आगे वन के जिन कष्टों का आपने वर्णन किया है, वे मुझे बिलकुल तुच्छ मालूम होते हैं।

व्याघ्र, सिंह और हाथी तो आपसे भयभीत, हो भागते फिरेंगे, अतः उनसे मुझे कोई कष्ट नहीं हो सकता। हां; उलटे मुझे उनका वास्तविक स्वरूप दिखाई देगा। पिता के घर होते हुए एक ज्योतिषी ने मुझ से कहा था कि पति के साथ तुम्हें बन को जाना पड़ेगा। इसीसे मैं वन को जाने की राह देख रही हूँ। पिता जब से अपनी कन्या का दान कर देता है तभी से वह पति की हो जाती है फिर वह सुखी, दुखी या मृत भी क्यों न हो गया हो! ऐसी दशा में, मैं सब तरह आपकी होने पर भी, आप अपनी पतिव्रता पत्नी को अपने साथ ले जाने के लिये क्यों इनकार करते हैं? द्युमत्सेन के लड़के सत्यवान् पर सावित्री का जैसा प्रेम था वैसा ही मेरा निश्चयात्मक प्रेम आप पर है। इसलिए आप मुझे वन को ले चलें। भयंकर बन में तृण पर कुश का बिछौना बिछाकर मैं बड़े आनन्द से सोऊँगी। उससे अधिक मुझे कौनसा सुख हो सकता है? अधिक क्या कहूँ? महाराज, मुझे आपके सहवास ही में स्वर्ग-सुख होगा और आपके वियोग में नरक के सदृश दुःख। अतः मेरे प्रेम को पहिचान करके मुझे अपने साथ ले चलिए। मैं आप का वियोग एक पल भर भी नहीं सह सकूँगी फिर चौदह वर्ष का दीर्घ वियोग कैसे सहूँगी?" यों कह कर शोक से पीड़ित हो वे श्रीरामचन्द्रजी के गले से लिपट गईं और उन्होंने अपनी अश्रुधारा से उनका वक्षःस्थल भिगो दिया। तब तो श्रीरामचन्द्रजी ने उनका अपार प्रेम देखकर उन्हें समझा कर कहा, "प्रिये, यदि तुमने यही निश्चय कर लिया है तो मेरे साथ चलो। मैं तुम्हारे धैर्य और निश्चय की परीक्षा लेना चाहता था। तुम्हें दुःखित करके मुझे स्वर्ग-सुख भी अच्छा न लगेगा। तुम्हारे साथ

बिना विचार किये मैं तुम्हें वन को चलने के लिए नहीं कह सकता था। तुम्हारी रक्षा करने की मुझ में पूर्ण सामर्थ्य है, इसीलिए उठो और बन को चलने की तैयारी करो। अपनी सखी-जनों, सेवकों और ब्राह्मणों को ये सुन्दर वस्त्र तथा आभूषण दे डालो और मेरे साथ चलो।" इस प्रकार पति की आज्ञा होते ही सीताजी को बहुत आनन्द हुआ। उन्होंने बिलकुल दुःख न मान कर अपनी सारी सम्पत्ति सखियों, ब्राह्मणों और सेवकों को दान कर दी और अपने पति के साथ बन को जाने के लिए तैयार हो गईं। लक्ष्मण भी सारी घटनाएँ देख रहे थे। उस दम्पती को वन की तैयारी करते देखकर उन्होंने श्रीराम को साष्टांग दंडवत् किया और हाथ जोड़कर बोले, "महाराज, मैं भी आप के साथ वन को चलता हूँ। बिना आपके मुझे देवताओं का राज्य भी तुच्छ लगेगा, फिर पृथ्वी के राजा की तो बात ही क्या? आपको बन में मुझसे बहुत कुछ सहायता पहुँचेगी। मैं वन में आपकी सेवा करूँगा। मैं धनुष धारण करके आपके आगे आगे वन में चलूंगा। मेरे सहवास से नाना प्रकार के पक्षियों के कलरव से गूंजने वाले बन आपको अधिक अच्छे लगेंगे। श्रीरामचन्द्रजी ने उन्हें भी भली भाँति समझाया, पर जब उन्होंने अपना हठ नहीं छोड़ा, तब विवश हो उन्हें भी अपने साथ वन को चलने के लिए श्रीराम ने आज्ञा देकर कहा, " अच्छा तो जाओ: सभी सुहृदजनों से बिदा माँग आओ। राजा जनक को एक यज्ञ में मिले हुए वरुण के दो दिव्य धनुष आचार्य के घर रखे हुए हैं वे दो दिव्य अक्षय तर्कश तथा वहीं पर रखी हुई सूर्य प्रकाश के सदृश चमकने वाली

दो तलवारें भी साथ ले आओ। लक्ष्मण, जल्दी जाओ, मैं भी अपना धन ब्राह्मण; तपस्वी आदि को दे डालता हूँ। सदा स्वाध्याय-निरत रहने से ब्राह्मण कभी अपनी जीविका की चिन्ता नहीं करते। अतः ऐसे ब्राह्मणों को दान देना ही हमारा मुख्य कर्तव्य है।" इस प्रकार लक्ष्मण जी को आज्ञा दे कर रामचंद्र जी ने अपना धन विद्वान ब्राह्मणों को दे डाला तथा परिजनादि को धन-धान्य गौएँ घोड़े आदि संपत्ति दे कर शीघ्र ही वे तीनों बन को जाने के लिए तैयार हो गये।

राम, लक्ष्मण और सीताजी अपना सर्वस्व दान कर के वन को जाने के लिए अपने गृह से निकले। राजा दशरथ से अंतिम विदा माँगने के लिए राज-महल की ओर जाते समय उनके मार्ग में सहस्त्रों मनुष्य एकत्र हो गये जिससे मार्ग बंद हो गया था। उस जमाव में से धीरे धीरे पैदल से चलते हुए उनके दीन बदन देख कर प्रजाजन बडे दुखित हुए। सैकड़ों स्त्री-पुरुष खिड़कियों अटारियों और छतों पर से उन उदार देवतुल्य राजपुत्रों और राज कन्या के दर्शन कर रहे थे। "हा दुष्ट कैकेयी, हा मूर्ख दशरथ ऐसे सर्वगुण संपन्न पुत्रों और पुत्र-बधू को कौन देश निकाला देगा?" इत्यादि प्रजा के शोकोद्‌गारों को सुनते हुए वे तीनों कैकेयी के महल के निकट पहुँचे। तब श्रीरामचन्द्र ने अपने आने की खबर पिताजी को देने के लिए सुमंत्र से कहा। सुमंत्र ने महल में प्रवेश किया, खग्रास सूर्य-ग्रहण की तरह अथवा राख में छिपी हुई अग्नि के सदृश राजा तेज रहित और अचेत दिखाई दिये। उनके सामने खड़े हो कर हाथ जोड़ कर सुमंत्र ने कहा:—'महाराज, आपके पुत्र पुरुष-

व्याघ्र श्रीरामचन्द्रजी, अपना सारा द्रव्य ब्राह्मणों को दान दे कर राज महल के द्वार पर खड़े हुए हैं। वन को जाने के पहले अपने सभी इष्टमित्रों से बिदा माँग कर वे अब आपसे अन्तिम बिदा माँगने के लिए आये हुए हैं; अतः उन्हें आपके दर्शन करने की आज्ञा दीजिए।" सत्यवान् और धर्मात्मा राजा दशरथ यह सुन-कर क्षुब्ध नहीं हुए; क्योंकि आकाश कभी कंपित नहीं होता और गम्भीर समुद्र तूफ़ान आने पर भी अपनी मर्यादा को नहीं छोड़ता, अतः उन्होंने शान्तिपूर्वक कहा, "सूत, मैं सर्व स्त्रियों सहित अपने प्रिय पुत्र से मिलना चाहता हूं; अतः मेरी सर्व स्त्रियों और कुटुम्बियों को बुला लो। उन सब को मेरे इस धर्म-मेरु पुत्र के दर्शन कर लेने दो।" राजाज्ञा होते ही सुमंत्र सभी राजस्त्रियों और राजपुत्रों को बुला लाये। कौशल्यादि सभी राजस्त्रियाँ और वसिष्ठ आदि सभी सुहृद्जन राजाज्ञा के अनुसार कैकेयी के महल में आये। तब राजा ने सुमन्त्र से रामचन्द्रजी को लाने के लिए कहा। रामचन्द्रजी ने लक्ष्मण और सीताजी सहित महल में प्रवेश किया. बहुत दूर से हाथ जोड़े अपनी ओर उन्हें आते हुए देख कर राजा दशरथ उन्हें आलिंगन देने के लिए आगे बढ़े, पर प्रेम और दुःख से व्यथित हो शीघ्र ही मूर्छित हो वे पृथ्वी पर गिर पड़े। रामचन्द्र और लक्ष्मणजी ने पिता को उठा कर पर्यंक पर लेटा दिया और वे तीनों उनके सामने खड़े रहे। तीनों की आँखों से आँसुओं की अविरल धारा बह रही थी। यह करुण दृश्य देखते ही सभी स्त्रियाँ हा राम! चिल्ला कर अथाह शोकसागर में डूब गईं। दुःख ध्वनि से ऐसा महल में हाहाकार मच गया। राजा दशरथ के सचेत हो जाने पर श्रीरामचन्द्रजी बोले, "महाराज! मैं आपसे बिदा चाहता

हूँ। आप हम सब के प्रभु हैं। अतः मुझे दंडकारण्य में जाने की आज्ञा दे कर आशीर्वाद दीजिए। लक्ष्मणजी को भी आज्ञा दीजिए। सीता भी मेरे साथ चलने के लिए तैयार हो गई है; अतः उसे भी आज्ञा दीजिए। मैंने इन्हें बहुत प्रकार समझाया, पर वे अपने आग्रह को छोड़ने के लिए किसी प्रकार राजो नहीं होते। हम आपके बालक है अतः सारा शोक छोड़कर हमें जाने की आज्ञा दीजिए।" यों कहकर पिता की आज्ञा पाने के लिये बड़ी उत्कण्ठा पूर्वक वे उनके मुख की ओर देखने लगे। अन्त में राजा दशरथ ने इस प्रकार धीरे धीरे बोलना आरम्भ किया:—"बेटा रामचन्द्र, केकैयी ने वर माँग कर मुझे मोहित कर डाला है, इसलिए मुझे कारागार में बन्द करके तुम अयोध्या का राज्य करो।" ये शब्द सुनकर रामचन्द्रजी बड़े दुखित हुए। कार्यनिष्ठ और वाक्यकुशल श्रीरामचन्द्रजी ने बड़ी नम्रता से उत्तर दिया:—"आज सहस्रों वर्षों से आप अयोध्या का अच्छी तरह शासन कर रहे हैं; अयोध्या के लिए आपसे अधिक श्रेष्ठ राजा और कौन हो सकता है? आपकी प्रतिज्ञा को पूरी करने के लिए मैं आनन्दपूर्वक बन को जाता हूं। वास्तव में मुझे राज्य की बिलकुल इच्छा नहीं है। आपकी आज्ञानुसार चौदह वर्ष तक वन में रहकर मैं लौटकर आपके चरणों के दर्शन करूंगा अतः आप निःशंक हो मुझे आज्ञा दीजिए!" यह सुनकर राजा बोले, "रामचन्द्र, अच्छा तो तुम वन को जाओ। सब प्रकार तुम्हारा भला ही होगा। तुम्हें किसी बात के कष्ट न हों और तुम्हारे मार्ग सर्वदा सङ्कट रहित हों; यही मेरी आन्तरिक इच्छा है पर, मेरी एक और प्रार्थना सुनो। आज के दिन यहीं पर रह

जाओ। आज दिन भर तुम्हारे दर्शन करके हम तुम्हारे माता-पिता तृप्त होंगे, तुम आज हमारे यहाँ पर सब सुखों का उपभोग कर लो; जिस बात की तुम्हें इच्छा हो, उसे तृप्त करके फिर हम तुम्हें कल प्रातःकाल को वन को भेजेंगे। इसलिए मेरा कहना मानकर आज यहीं पर रह जाओ।" तब रामचन्द्रजी ने उत्तर दिया, "महाराज, मेरे अभी वन को चले जाने में जितनी सत्य प्रतिज्ञता और कीर्ति होगी, उतनी कल नहीं हो सकेगी। आपने कैकेयी को जो वर दिये हैं, उनको अच्छी तरह संपूर्ण कीजिए; यही मेरी प्रार्थना है। आप अपने मन में किसी बात की आशंका न करें। मुझे सचमुच ही राज्य की इच्छा नहीं है और न कोई मेरी इच्छा अतृप्त ही रही है। महाराज, आप इस प्रकार दुखित हो आँसू न बहाइये? सर्व नदियों का पति महासागर कभी क्षोभ नहीं करता। मेरी तो यही परम इच्छा है कि आपके वचन असत्य न हो। मैं आपके चरणों की और सुकृत की शपथ करके कहता हूं कि मुझे किसी बात की इच्छा नहीं है। आप हमारे विषय में किसी बात की चिन्ता न करें। हम हिरनों से भरे हुए और अनेक पक्षियों के मधुर शब्दों से निनादित बन में आनन्दपूर्वक रहेंगे।" ये वचन सुनकर राजा दशरथ चुप हो गये, पर अपने पुत्र का आलिंगन करके वे दुख से शीघ्र ही अचेत हो गये। तब वज्र-हृदया कैकेयी के अतिरिक्त वहाँ पर उपस्थित सभी स्त्रियाँ विलाप करने लगीं, सुमन्त्र भी रोने लगे! सारांश, उस समय वह राज-महल शोकमग्न हो गया! (अयो० स० ३३०-३५)

वचन-बद्ध राजा दशरथ कुछ भी न बोल सकते थे। अंत में उन्होंने सुमंत्र से कहा, "सूत, सारी चतुरंग सेना को तैयार

करो। वह रामचन्द्रजी को पहुँचा आवे।" तब श्रीरामचंद्रजी ने प्रार्थना की, "महाराज, मुझे बन में मुनि की तरह रहना है; अतः मेरी अनुयात्रा के लिए सेना की क्या आवश्यकता है? वन के योग्य वस्तुएँ अर्थात् फावड़ा कुदारी तथा बल्कल आदि वस्तुएँ मिलने ही से मेरा काम चल जायगा।" ये शब्द सुनते ही निर्लज्जा कैकेयी ने स्वयं ही बल्कल लाकर सब के सामने रामचन्द्रजी के आगे रख दिये। श्रीरामचन्द्रजी ने भी शीघ्र ही अपने वस्त्रों का त्याग करके वे मुनि-वस्त्र धारण किये और लक्ष्मणजी ने भी पिता के सामने ही अपने बहुमूल्य वस्त्रों को छोड़ कर तपस्वी का भेष धारण कर लिया। पर, बेचारी सीताजी! वह तो केवल रेशमी वस्त्र ही पहिनना जानती थीं। अतः वे उन वल्कलों को कैसे पहिन सकती थीं? जिस प्रकार एक हिरनी अपने सामने फैलाया हुआ जाल देखकर भयभीत हो जाती है, उसी प्रकार सीताजी भी वल्कलों को देखकर घबरा गईं और उन वल्कलों को उठा कर अश्रुपूर्ण नेत्रों से अपने पति की ओर देखकर बोलीं, "वन के मुनियों की स्त्रियाँ वल्कल किस प्रकार पहनती हैं, इसका मुझे ज्ञान नहीं है।" यों कहते कहते ही उनके मूर्च्छित हो पृथ्वी पर गिर पड़ने के चिन्ह दिखाई देने लगे। वे एक वल्कल गले के आस पास और दूसरा कमर में लपेट कर परम लज्जित हो नीचे शिर किये रोने लगीं। पर, इतने ही में श्रीराम आगे बढ़े और उनके रेशमी वस्त्रों के ऊपर ही से वल्कल पहिना कर उन्होंने गठान लगा दी। वह दशा देखकर अंतःपुर की सभी स्त्रियों के नेत्रों से अश्रु प्रवाह बहने लगा। उन सब ने कहा, "हे श्रीराम, सीता बन के दुःखों को सहने के योग्य

नहीं है। वे बेचारी तापस-वृत्ति को क्या जानें? इसलिए हमारी प्रार्थना पर खयाल कर उन्हें यहीं छोड़ जाओ।" पर, रामचन्द्रजी ने उनका कहना न माना। सीताजी को वल्कल पहना ही दिये। सीता को वल्कल पहिनते हुए देखकर कुल-गुरु वसिष्ठजी भी बड़े दुखी हुए और सीताजी का उनका त्याग करने का आग्रह करके वे कैकेयी से कहने लगे, "हे अति प्रमत्ता कैकेयी! कुल-कलंकिनी देवी! राजा को इतना धोखा दे कर भी तेरी इच्छा अब तक तृप्त नहीं हुई और अब मर्यादा को छोड़ कर ऐसे कुकृत्य करने पर उतारू हुई है! अरी दुःशीले! सीता वन को नहीं जाएगी। वह तो यहीं पर रह कर श्रीराम के स्थान में राज-काज देखेगी स्त्रियाँ भी पुरुषों के आत्मा के सदृश ही होती हैं। जो पुरुष अपनी पत्नी का यथायोग्य आदर करते हैं, वे उसकी दृष्टि में उतनी ही पूज्य होती हैं। और यदि सीता बन को जावेगी ही तो उसके साथ साथ हम और ये सब नगर-निवासी भी चले जावेंगे। सारा राष्ट्र, सारे कर्मचारियों सहित सभी अमात्य, सारे अन्तःपाल और देश की सीमा के रक्षक भी जहाँ श्रीराम-सीताजी जावेंगे, वहीं पर रहेंगे। केवल इतना ही नहीं, वरन भरत भी शत्रुघ्न सहित वल्कल धारण करके जहाँ पर राम होंगे, वहीं पर चले जावेंगे। तब तुम आनन्द पूर्वक इस शून्य नगरी में निश्चल वृक्षों सहित राजकाज करती रहियो। अरी दुष्ट, जहाँ राम न होंगे, वह राष्ट्र कभी टिक नहीं सकता। और यदि रामचन्द्र जंगल में रहेंगे तो वहाँ भी देखते देखते एक आनन्दमय राष्ट्र बन जावेगा। और भरत भी यदि दशरथ का पुत्र होगा तो पिता के अनिच्छापूर्वक दिये हुए यौवराज्य का कभी उपयोग न करेगा और न तुझे अपनी माता ही

कह कर पुकारेगा। तेरे बहुत आग्रह करने पर भी, जमीन-आस्मान एक कर देने पर भी—वह किंचिन्मात्र भी तेरा कहा नहीं मानेगा और न अपने कुल को कभी कलंकित ही करेगा। इसलिए हे दुष्टे व्यर्थ ही तूने मूर्खता वश अपने पुत्र के लिए यह कृत्य किया है! तुझे ऐसा एक भी मनुष्य नहीं मिल सकता, जिसकी राम पर भक्ति न होगी; फिर भरत के विषय में तो पूछना ही क्या है? आज ही देखना कि सारी अयोध्या श्रीरामचन्द्रजी के साथ बन को चली जावेगी। वृक्ष भी श्रीराम की ओर अपने मुँह फेर लेंगे। इस दुष्टता की भी कोई सीमा है कि राम के साथ ही साथ सीता देवी को भी तू वन को भेज रही है। अरी मूर्खा इस पति परायण पुत्र-बधू को उत्तमोत्तम वस्त्र अलंकारादि देकर उससे वल्कल वापिस ले ले" यों कहकर वसिष्ठजी ने सीता जी के वल्कल उतार लिये।

वसिष्ठजी के उक्त उद्गार सुनकर राजा दशरथ को बड़ा दुख हुआ। उन्होंने केकैयी को धिक्कार कर कहा, 'अरी चांडालिन्! कदाचित् राम ने तेरा कोई अपराध भी किया हो, पर सीता ने तेरा क्या बिगाड़ा है? तूने राम को वन को भेजने का जो पाप किया है, वही बहुत काफी है। सीता को भेजकर और भी अधिक पाप क्यों कमाती है? तेरी इच्छानुसार मैंने तुझे वर दे दिया। अब मैथिली का व्यर्थ छल करके क्या तुझे नर्क-लोक को जाने की इच्छा हुई है? सुमंत्र, जाओ। शीघ्र ही सुन्दर वस्त्रालंकार ले आओ। यह परम उदार राजकन्या अपने पति के साथ वन को जा रही है, इसलिए इसे वस्त्रालंकारादि दे कर ही हम धन्य होंगे।' यों कहकर उन्होंने बन की

अवधि को गिनाकर अपनी पुत्रवधू को यथेष्ट वस्त्र और अलंकार दे दिये। तब रामचन्द्र; लक्ष्मण और सीताजी ने राजा के चरणों पर अपने सिर रखकर उनसे अंतिम बिदा माँगी। प्रणाम करते हुए रामचन्द्रजी ने पिताजी से हाथ जोड़कर कहा, 'महाराज, मेरी वृद्ध माता कौशल्याजी मेरे विरह से शोकसागर में डूब जायगी; अतः आप इनकी सुधि लिया कीजिए। वे आपकी निंदा नहीं करेंगी तथा किसी प्रकार का अपमान भी वह नहीं सह सकेंगी।' यों कह कर उन्होंने माताजी से भी विदा मांग ली। तब राजा दशरथ अश्रुपूर्ण नयनों से सुमंत्र से बोले, "सुमंत्र, रथ को तैयार करो और उसमें रामचंद्रजी को बिठाकर देश की सीमा तक पहुँचा आओ। हम माता-पिता अपने वीर और साधु पुत्र को व्यर्थ ही बन को भेजते हैं। इस गुणनिधान का इतना तो भी सम्मान कर लें। भाई सुमंत्र, अच्छे घोड़े जोत कर शीघ्र ही रथ को यहाँ पर ले आओ।" तब राजा की आज्ञानुसार वहाँ पर रथ उपस्थित हुआ और रामचन्द्रजी पिता को प्रणाम कर वहाँ से चल दिये। लक्ष्मणजी ने भी अपनी माता से बिदा माँगी, तब वह वीर-माता बोली, "लक्ष्मण, तुम राजा की जगह श्रीरामचन्द्रजी को, मेरे स्थान पर श्री सीताजी को और अयोध्या के स्थान पर वन को समझो, फिर तुम्हें किसी बात का दुख न होगा। बेटा; आनन्द से वन को जाओ।" (अयो० स० ३६-४०)

राम, लक्ष्मण और सीताजी महल से निकल कर रथ में जा बैठे। रथ में सीताजी के वस्त्र, अलंकार, आयुध, खड्ग, चर्म आदि भी रख दिये गये थे। रथ के चलते ही सहस्रों मनुष्यों ने उसे घेर लिया। जैसे प्यासा मनुष्य पानी के लिए आतुर हो जाता है,

वैसे ही श्रीराम-दर्शन के लिए स्त्री, पुरुष, बालक आदि सभी अयोध्या-निवासी दौड़ पड़े ! कई लोग तो रथ से ही झूम गये, जिससे वह रुक गया । "सुमंत्र, जरा रथ को खड़ा करो; हमें श्रीरामचन्द्रजी के दर्शन तो कर लेने दो ।" सचमुच, केकैयी पाषाण-हृदया है; क्योंकि वह ऐसे सुपुत्र को वन भेज रही है, धन्य ! सीतादेवी धन्य हैं जो कि परछाईं की नाईं अपने पति के साथ वन को जा रही हैं !" इत्यादि दुःखोद्गार निकालते हुए लोग रथ के साथ दौड़े रहे आ थे । इतने में राजा दशरथ भी "अरे एक बार मुझे राम के दर्शन कर लेने दो' यों आक्रोश करते हुए स्त्री-जन सहित अन्तःपुर को छोड़ कर भागे । जब तक श्रीरामचन्द्र दशरथ की आँखों के सामने खड़े हुए थे, तब तक तो उन्हें उनके विरह का दुःख नहीं मालूम हुआ ; किन्तु ज्योंही उन्होंने राम के वन को चले जाने के समाचार सुने, त्योंही उनके हृदय में विरहाग्नि एकाएक धधक उठी और वे राज-महल को छोड़कर भागे । वहां सैकड़ों पौरजनों को रथ से झूलते हुए देख कर तो राजा और भी अधिक दुःखित हुए और अचेत हो, पृथ्वी पर गिर पड़े ! रथ के पीछे बहुत दूर पर से विलाप-सुन कर श्रीरामचन्द्रजी ने पीछे की ओर मुड़कर देखा, पिता की करुणामूर्ति उन्हें देख पड़ी ! तब वे 'किंकर्तव्यमूढ़' से हो गये ! अन्त में सुमंत्र से रथ को जल्दी चलाने का उन्होंने आग्रह किया । पर इधर लोग रथ को ठहराने की प्रार्थना कर रहे थे । सुमंत्र बड़ी असमंजस में पड़े । रामचन्द्रजी अपना पीछा करने वाले माता-पिता की ओर नहीं देख सकते थे; अतः उन्होंने सुमंत्र से, रथ को शीघ्र चलाने के

लिए प्रार्थना की और रथ तेजी से चलने लगा। जिस प्रकार एक नयी जनी हुई गाय अपने बछड़े को ले जाने वाले के पीछे रंभाती हुई, चिल्लाती हुई दौड़ती है, उसी प्रकार रामचन्द्रजी की माता "बेटा श्रीराम तनिक ठहर तो जाओ, बेटा" इस तरह आक्रोश करती हुई रथ के पीछे दौड़ी! दशरथ भी तब तक बराबर रथ का पीछा करते रहे। जब तक कि वह दृष्टि की ओट नहीं हो गया। अन्त में अमात्यों ने प्रार्थना की "महाराज! यदि आपकी यह इच्छा हो कि श्रीराम शीघ्र ही लौट आवें, तो उन्हें आपको अधिक दूरी तक पहुँचाने के लिए न जाना चाहिए।" यों कहकर उन्होंने उन माता पिता को रोक लिया। अन्त में रथ के न देख पड़ने से राजा दशरथ मूर्च्छित हो मार्ग ही में गिर पड़े। जब दुःखिया कौशल्याजी ने अपने पति को सचेत किया, तब गद-गद हो राजा ने धीरे से कहा, अब "मुझे कौशल्या के मंदिर में ही ले चलो। मुझे अन्यत्र कहीं शांति नसीब न होगी।" तब सेवक राजा को धीरे-धीरे कौशल्याजी के मंदिर में ले गये और उन्हें पर्यंक पर लिटा दिया। परन्तु उस मंदिर में पहुँचते ही राजा का चित्त और भी अधिक भ्रांत होने लगा। "हा राम! अन्त में तुम हमें तज कर चले ही गये!' यों कह-कर वे ऊँचे स्वर से रोने लगे। "धन्य हैं वे लोग, जो १४ वर्ष के बाद इस नगर में फिर से तुम्हारे दर्शन करेंगे! धन्य सीता देवी! पुत्र लक्ष्मण! तुम्हें भी धन्य है। तुम्हें मेरे राम का निर-न्तर सुखदायी सहवास का लाभ हो रहा है। यों कहकर बारंबार दीर्घ श्वास डालते हुए वे शोक करने लगे। इतने में संध्या हो कर रात भी हो गई। मध्यरात्रि के समय राजा ने हाथ जोड़ कर कहा,

"कौशल्या, तुम मुझे नहीं दिखाई देतीं। तुम मेरे ही पास हो न? मेरे शरीर पर अपना हाथ तो फेरो। कौशल्या, मेरे प्राण और दृष्टि भी राम के साथ चली गई। वह अभी तक वापिस नहीं आई है। हा दुष्ट! कैकेयी, तू मेरी स्त्री नहीं है और न मैं आज से तेरा पति हूँ। तेरे संबंधी भी मेरे संबंधी नहीं हैं। दुष्टा, राम को वन में भेज कर तूने इस प्रकार मुझसे बदला लिया?" इत्यादि नाना प्रकार के विलाप करते हुए और कौशल्याजी के उनसे भी कष्टतर विलाप सुनते हुए वृद्ध दशरथ की रात बीती (अयो० स० ४१–४४)

उधर श्रीरामचन्द्रजी ने प्रजा को बहुत कुछ समझाया-बुझाया और रथ को आगे बढ़ाया, तौ भी अनेक विद्वान् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य उनका बराबर पीछा करते ही रहे। उन्हें देखकर रामचन्द्रजी बड़े दुःखित हुए और वे रथ से उतर कर पैदल चलने लगे। तब ब्राह्मणों ने उनपर अपने वाजपेय यज्ञ के छत्र तान दिये। उनको हर प्रकार समझाते हुए जाते जाते संध्या के समय वे सब तमसा नदी के तीर पर जा पहुँचे। तब उस रात को वहीं पर रहने की इच्छा प्रकट करके श्रीरामचन्द्रजी ने सुमंत्र को रथ से घोड़ों को खोल देने की आज्ञा दी। रात्रि को सब लोगों ने संध्यादि कर्मों से निवृत्त हो केवल जल पान ही किया। तब सुमंत्र ने रामचन्द्रजी के लिए पत्तों की शैय्या तैयार की। प्रातः काल के समय रामचन्द्रजी ने लक्ष्मणजी को जगा कर कहा, "ये दीन प्रजाजन वृक्षों तले सोये हुए हैं; अतः उनके जगने के पहले ही हम को रथ में बैठकर यहाँ से चल देना चाहिए, जिससे वे अयोध्या को वापिस लौट जावेंगे।" यह सुनकर सुमंत्र ने रथ

तैयार किया और वे तीनों पुनः रथ पर सवार हो कर शीघ्र ही ही बहुत दूरी तक चले गये। अनेक ग्रामों की लम्बी लम्बी सीमाएँ और अनेक पुष्प-सुगंध युक्त बनों को वे शीघ्रता से पार कर रहे थे। रथ के घोड़े भी तेज़ी से मार्ग को तय करते जाते थे। पर फिर भी अपना पीछा करने वाले दुखी प्रजाजनों के भय के कारण श्रीरामचन्द्रजी को तो यही मालूम हो रहा था कि वे बहुत ही धीरे धीरे चल रहे हैं। इस प्रकार सूर्योदय के समय, बहुत दूरी पर, वे वेदश्रुति नामक नदी के तीर पर पहुँचे। वहाँ पर स्नान संध्यादि कर्मों से निवृत्त हो वे पुनः चलने लगे। फिर शीतवाहा नदी को लांघ कर गोमती के तीर पर पहुँचे, जहाँ पर सहस्रों गौएँ चर रही थीं। गोमती को भी पार कर वे दक्षिण दिशा की ओर धनधान्यादि से समृद्ध कौशल देश में होकर आगे को चले। वहाँ किसी का भी भय न होने से ग्रामीण लोग बड़े निर्भय आनन्दित, संपन्न, समृद्ध और संतुष्ट देख पड़ते थे। स्थान स्थान पर चैत्ययूप थे। बड़े बड़े आम्रवृक्षों के उपवनों में से, अथाह जल से लबालब भरे हुए सरोवरों के तट पर हो कर, आनंदित जनों के अभि-वादनग्रहण करते हुए वे जा रहे थे। मार्ग पर गौओं के झुंड चरते थे इस कारण रथ को धीरे चलाते हुए संध्या के समय वे कौशल देश की सीमा को पार करने पर थोड़ी ही देर में ऋषिगण सेवित त्रिपथगा भागीरथी का पवित्र तट उन्हें दिखाई दिया। शनैः शनैः ठेठ शृंगवेरपुर के निकट सुमंत्र का रथ जा पहुँचा। उस स्थान का स्वामी एक निषाद था। वहाँ पर रामचन्द्रजी का प्रिय मित्र गुह राज्य करता था। श्रीरामचन्द्रजी के आगमन के समाचार मालूम होते ही वह अपने वृद्ध अमात्य सहित उनका स्वागत करने के

लिए दौड़ा आया। रामचन्द्रजी ने कहा 'सुमंत्र, आज इस पुष्प फलों से युक्त इंगुदी (हिंगोट) वृक्ष के नीचे ही निवास करें ?' यह सुनकर उसने रथ से घोड़ों को खोल दिया और उन्हें दाना पानी दे कर उनकी योग्य सेवासुश्रूषा की। तब तक श्रीराम और लक्ष्मण ने भी सायं-सध्या से निवृत्त हो जलपान किया। अनन्तर सुमंत्र और लक्ष्मण ने श्रीराम सीता के लिए शय्या बना ली और लक्ष्मणजी रामचन्द्र और सीताजी के पांव धो करके आप दूर एक वृक्ष के नीचे बैठकर सुमंत्र से संभाषण करते हुए पहरा देने लगे। गुह भी उनके साथ सारी रात जागता रहा। रामचन्द्रजी का अद्भुत आत्मसंयम, वृद्ध दशरथ की विचित्र स्थिति, कैकेयी की दुष्टता, प्रजा का अपार प्रेम आदि बातों का हूबहू वर्णन गुह लक्ष्मणजी से बड़ी उत्सुकता के साथ सुन रहा था। प्रातःकाल होते ही श्रीरामचन्द्रजी ने लक्ष्मणजी को पुकारा, "लक्ष्मण, उठो। रात बीत गई है। ये देखो, कृष्ण-कोकिल कूक सुनाने लगे। वह सुनो, बन से मयूरों का केकारव उठ रहा है। इसलिए हमको शीघ्र ही गंगा पार कर जाना चाहिए।" वे दोनों वीर, प्रातः कर्मादि से निवृत हो चर्म, धनुषबाण और खड्ग ले कर तैयार हो गये और धीरे धीरे गंगा-तट पर पहुँचे। यहाँ पर गुह के सेवक नौका लिए खड़े ही थे। इतने में सुमंत्र आगे बढ़े और हाथ जोड़ कर प्रार्थना करने लगे। "राजपुत्र, अब मुझे क्या आज्ञा होती है ?" श्रीरामचन्द्र ने कहा, "सुमंत्र, अब तुम यहाँ से लौट जाओ, और अयोध्या जा कर मेरे वृद्ध, आर्य और जितेन्द्रिय पिता से प्रणाम कह कर मेरा यह सन्देश सुनाना कि 'महाराज,-मुझे और लक्ष्मण को वन जाने अथवा अयोध्या के

विछोह का ज़रा भी दुख नहीं है। हम चौदह वर्ष तक वन में रह कर पुनः आपके चरणों के दर्शन करने के लिए लौट आवेंगे। आप किसी बात की चिन्ता न करें।' बाद में मेरी माता कौशल्या, सुमित्रा तथा कैकेयी को भी भली भांति समझाना और मेरा कुशल और प्रणाम कहना। भरत के आ जाने पर उन्हें मेरी ओर से यह सन्देश सुनाना कि 'राज्य और माताओं को खूब संभालना। और वही करना जो पिताजी को अच्छा लगे। राज काज में कहीं गफलत न हो, इस तरह कर्त्तव्य परायण रहोगे तो तुम्हें दोनों लोक में सुख प्राप्त होगा।" इस प्रकार के सन्देश सुन कर सुमंत्र रोने लगे और हाथ जोड़ कर बोले, 'महाराज मैं भी आपही के साथ चलता हूँ। आप मुझे वापिस न भेजिए।' तब रामचन्द्रजी ने सुमंत्र को समझा कर कहा, "यदि तुम वापिस न जाओगे तो कैकेयी का समाधान नहीं होगा; अतः मेरे लिए तुम वापिस जाओ तथा मेरे विषय में किसी बात की चिंता मत करो। तुम्हारे लौट जाने ही से राजा की प्रतिज्ञा पूरी हो जाने का कैकेयी को विश्वास हो जावेगा।" इस प्रकार सुमंत्र को समझा कर श्रीरामचंद्रजी ने गुह से कहा, "अब हमें निर्जन वन में रहना होगा, अतः मुनि जनों के योग्य ही हमें अपना भेष बना लेना चाहिए। इसलिए जाओ थोडा सा बड़ का दूध ले आओ, उससे हम अपनी जटा बाँध कर बनवासी बनेंगे और पिता की प्रतिज्ञा को पूरी करेंगे।" इस प्रकार रामचंद्रजी की आज्ञा होते ही गुह एक बर्तन में बड़ का दूध ले आया और श्रीरामजी ने उसे अपने बालों से लगा कर अपनी जटा बनाई औरलक्ष्मणजी के बालों को भी अपने ही हाथों से वह दूध लगाकर अपनी जटा बाँध दी।

इस प्रकार वे वल्कल धारी जटाबद्ध राजपुत्र महान् तपस्वी ऋषि पुत्रों की नाईं दिखाई देने लगे। अनंतर रामचंद्रजी शीघ्र ही गंगा तट पर पहुँचे और सीताजी को पहले नौका में बिठाकर फिर वे दोनों भाई बैठे। निषादाधिपति गुह की आज्ञा होते ही मल्लाहों ने नौका खोल दी। बात की बात में वह दूसरे किनारे पर जा लगी। तब राम लक्ष्मण और सीता उसमें से उतर कर वन का प्रवास करने लगे। "लक्ष्मण तुम आगे चलो; सीता बीच में रहेगी और मैं तुम दोनों की रक्षा करते हुए पीछे चलूंगा। अब सीता को वन के दुखों का सच्चा अनुभव होगा। हरे भरे खेत या बाटिकाएँ उसे नहीं देख पड़ेंगी। मनुष्य के तो दर्शन भी न होंगे। समथर भूमि के बदले अब उसे वन का सच्चा स्वरूप दिखाई देगा।" इत्यादि संभाषण से सीता जी को समझाते हुए श्रीरामजी मार्ग को तै करने लगे। थोड़ी देर के बाद तीनों को बड़ी जोरों से भूख लगी। दो दिन तक उन्होंने कुछ भी नहीं खाया था। तब श्रीरामजी ने चार मेध्य मृगों का शिकार किया और एक वृक्ष की छाया में टिक गये। संध्या हो जाने के कारण उस दिन उन्हें वहीं पर रहना पड़ा। सायं-संध्या से निवृत्त हो उन्होंने पृथ्वी पर ही पत्तियों की शय्या बना ली। "लक्ष्मण, मनुष्यों की बस्ती को छोड़ कर निर्जन अरण्य में रहने का हमारा यह पहला ही अवसर है; इसलिए सावधान रहना।" इस प्रकार लक्ष्मणजी को सचेत करके वे विश्राम करने लगे। लेटे लेटे अयोध्या का सारा दृश्य पुनः उनकी आँखों के सामने खड़ा हो गया और तरह तरह की विचार तरंगें उठने लगीं। "कैकयी कहीं महाराज के प्राण तो नहीं लेगी? माता कौशल्याजी को कितना

दुःख हुआ होगा ? क्या वे मेरे विरह के कारण हमारे वन से लौट जाने तक, जीती रह सकेंगी ? मैं कैसा अभागा पुत्र हूँ कि मुझे माताजी को इस प्रकार दुःखित करना पड़ा ? इत्यादि विलाप करने ही में उनकी वह रात बीत गई !

पौ फटते ही तीनों पुनः मार्ग-क्रमण करने लगे। अनेक रमणीय स्थानों को देखते हुए दो पहर दिन बीत जाने पर उन्हें दूर से भरद्वाज ऋषि का आश्रम दिखाई दिया। वह आश्रम गङ्गा यमुना के संगम पर अर्थात् प्रयागक्षेत्र में था ! गङ्गा और यमुना के बहाव के पवित्र शब्द उन्हें सुनाई दिये। तब श्रीरामचन्द्रजी ने कहा, "लक्ष्मण, पानी के दो प्रवाहों के आपस में टकराने के शब्द को सुनो, देखो इस निबिड बन में से वह धुँआ निकल रहा है; हम सचमुच ही भगवान् भरद्वाज ऋषि के आश्रम के निकट आ पहुँचे हैं. थोड़ी देर में वह आश्रम बिलकुल ही निकट दिखाई देने लगा। आश्रम के आस-पास यज्ञ-समिधाओं का ढेर लगा था। मृग और पक्षी रामलक्ष्मण के धनुष-बाण देख कर भयभीत हो भागने लगे। ठौर ठौर पर छोटी छोटी पर्ण कुटियाँ दिखाई देने लगीं। शीघ्र ही आश्रम के निकट पहुँच कर उन्होंने शिष्यों द्वारा अपने आने का सन्देश पहुँचाया और आश्रम में प्रवेश करके तीनों ने मुनि को सादर प्रणाम किया। रामचन्द्रजी ने अपना नाम और सारा हाल कह सुनाया। तब भरद्वाज ऋषि ने उनका मधुपर्क से स्वागत करके वन के अनेक प्रकार के फल और अन्नरसों से उनका आतिथ्य किया और उनके ठहरने वगैरा का सब प्रबन्ध कर दिया। ऋषि बोले, "रामचन्द्र, तुम्हें देखे कई वर्ष हो गये हैं। तुम्हारे वनवास का कारण मुझे पहले ही से

मालूम हो गया है। इसलिए यदि तुम्हारी इच्छा हो तो अपना वनवास का काल भर यहीं पर रहो। अथवा यहाँ से दस कोस दूरी पर यमुनाजी के उस पार चित्रकूट पर्वत है, यदि इच्छा हो तो वहाँ भी जा सकते हो। यह रमणीय स्थान भी गंधमादन पर्वत के सदृश पवित्र है। जहां जहां तक चित्रकूट पर्वत के शिखर दिखाई देते हैं, तहाँ तहाँ तक मनुष्य का मन सर्वदा पवित्र और कल्याणकारी विचारों में मग्न रहता है उसे कभी मोह प्राप्त नहीं होता। स्थल बिलकुल एकांत है और वहाँ पर रहने से तुम बड़े सुखी भी रहोगे। प्रयाग का यह स्थान भी बड़ा रमणीय और पवित्र है; जहाँ इच्छा हो वहीं पर रहो।" रामचन्द्रजी ने उत्तर दिया, "भगवन्, यह स्थान अयोध्या के बहुत ही निकट है; अतः यहाँ पर रहना मुझे ठीक नहीं मालूम होता।" इस प्रकार बहुत देर तक संभाषण होने पर उन तीनों थके हुए पथिकों ने उस दिन पर निवास किया।

प्रातःकाल होते ही भरद्वाज ऋषि ने श्रीरामचन्द्रजी को जगाया और उनके जाने की तैयारी की तथा बड़े प्रेम से उन्हें बिदा किया। ऋषि ने कहा, "रामचन्द्र, देखो, जरा रास्ता समझलो, यहाँ से गंगा-यमुना के संगम पर पहुँच कर यमुना के तट से पश्चिम की ओर जाओ, और जहाँ पर नदी पश्चिम वाहिनी हो गई है, वहीं पर तुम्हें नदी पार करने का स्थान साफ साफ दिखाई देगा। लोगों के जाने आने के कारण वहां खासा रास्ता बन गया है। वहां से नदी को पार करके आगे की ओर बढ़े कि तुम्हें एक हराभरा वट-वृक्ष दिखाई देगा। तुम दोपहर को वहीं ठहर सकते हो या आगे भी बढ़ सकते हो। पर मैं इसी

मार्ग से कई बार चित्रकूट गया हूँ । मार्ग अत्यन्त सुगम है और घने जंगल से बाहर भी है ।" इस प्रकार मार्ग समझा कर भरद्वाज ऋषि लौट गये । वे दोनों राजपुत्र और वह राजकन्या ऋषि के बताये मार्ग से कालिंदी के पवित्र तीर्थ तक जा पहुँचे । वहाँ पहुँचते ही रामलक्ष्मण ने नदी को पार करने के लिए एक प्लव तैयार किया । सूखी लकड़ियों के एक गट्ठे को उशीर (खस) की रस्सी से बाँधकर उसको पानी में छोड़ दिया । सीताजी के बैठने के लिए उसपर छोटी छोटी टहनियाँ और पत्तियाँ फैला कर बैठक बनायी । फिर लज्जावश अधोवदन किये खड़ी प्रिय पत्नी को रामचन्द्रजी ने उठा कर प्लव पर बैठा दिया और शस्त्रास्त्र तथा उनके वस्त्र उसके पास रख दिये । और वे दोनों वीर पानी में प्रविष्ट हो प्लव के दोनों छोरों को पकड़ कर तैरते हुए नदी पार कर गये । नदी के बीच में पहुँचने पर सीताजी ने कालिंदी की यों प्रार्थना की, "माता यमुनाजी, चौदह वर्ष तक बन में रह कर तुम्हारे प्रसाद से मेरे स्वामी के कुशल पूर्वक वापिस लौटने पर मैं षोड़षोपचार से तुम्हारा पूजन करूँगी ।" अस्तु । उन दोनों वीरों ने उस प्लव को बड़ी सावधानी से नदी के दूसरे तट पर पहुँचा दिया । तब सीताजी उसपर से उतर पड़ीं और फिर तीनों मार्ग चलने लगे । चलते चलते उन्हें वही भरद्वाज-कथित वट-वृक्ष दिखाई दिया । रास्ते में बहुत से मेध्य मृगों का शिकार करके उन्होंने अपना निर्वाह किया । उस दिन उन्होंने वहीं पर निवास किया । दूसरे दिन प्रातःकाल को स्नान-संध्यादि से निवृत्त हो कर वे फिर मार्ग चलने लगे । थोड़ी देर में उन्हें चित्रकूट पर्वत दिखाई देने लगा तब श्रीरामचन्द्रजी ने आनंदित हो कर सीताजी से कहा, "हे कमल-

लोचने देखो तो; ये वृक्ष फूलों से कैसे लद गये हैं। इन प्रस्फुटित मधुप वृक्षों पर मानो दीपक लगे हैं। इन किंशुक वृक्षों को तो देखो। रक्त पुष्पों से ये कैसे सुहावने मालूम होते हैं। यह देखो यहाँ पर ये वृक्ष फलों से कितने झुक गये हैं ? इस पुष्पफल युक्त बन में हमारा निर्वाह अनायास ही में हो सकेगा। मधुमक्खियों के इन बड़े बड़े छत्तों को देखो एक एक में घड़ा घड़ा भर शहद से कम न होगा! इस सुंदर प्रदेश में पुष्पों की तो मानो सेज ही बिछाई हुई है! एक ओर नत्यूह पक्षी बोल रहे हैं और दूसरी ओर से मोर उन्हें प्रत्युत्तर दे रहे हैं। चित्रकूट पर्वत की वह सबसे ऊँची चोटी देखो! हाथियों के झुण्ड के झुण्ड दिखाई देते हैं। प्रिये! हम इसी पर्वत पर कहीं किसी रमणीय और घनी झाड़ी में सम समान भूमि देखकर आनन्दपूर्वक रहेंगे।' यों कहते कहते वे चित्रकूट पर्वत के निकट आ पहुँचे। वहाँ पर वाल्मीकि ऋषि का आश्रम था। पहुँचते ही उन्होंने सब से पहले वाल्मीकि ऋषि को प्रणाम किया। महर्षि ने बड़े आनंद और प्रेम से उनका आदरातिथ्य किया। अनंतर श्री रामचंद्रजी ने लक्ष्मण से कहा, "लक्ष्मण, अपने लिए यहीं पर एक पर्ण-कुटी बना लें। मेरी इच्छा है कि यहीं पर हम रहें। क्योंकि यह स्थान मुझे बहुत पसंद है।" आज्ञा पाते ही सौमित्र शीघ्र ही लम्बी लम्बी लकड़ियाँ ले आये और समानभूमि देखकर उन्होंने बात की बात में एक सुन्दर पर्णशाला बना ली। उस मजबूत और सुंदर पर्णकुटी को देखकर रामचंद्रजी ने लक्ष्मण की बड़ी प्रशंसा की और कहा, "लक्ष्मण, आज एक मृग की शिकार कर लाओ। इस पर्णशाला का वास्तुशान्ति भी आज ही कर डालें। क्योंकि आज का दिन बड़ा अच्छा है।"

इस प्रकार आज्ञा होते ही लक्ष्मणजी मृग ले आये। रामचंद्रजी ने उसका यथायोग्य हवन करके वास्तुशांति की और उन तीनों ने उस झोंपड़ी में बड़े आनन्द से प्रवेश किया। वहाँ पर सभी प्रकार की व्यवस्था करके रामचन्द्रजी ने अग्नि और देवताओं की योग्य स्थानों पर प्रतिष्ठा कर दी। इस प्रकार उस रम्य चित्रकूट पर्वत पर, माल्यवती नदी के तट पर पर्ण-कुटि में वे इतने आनन्दपूर्वक रहने लगे कि अयोध्या से निकाल दिये जाने के अपने दुःख को वे बिलकुल भूल गये। (अयो० स० ५४—५३)

राम, लक्ष्मण और सीताजी नौका में बैठ कर जबतक गङ्गाजी को पार नहीं कर गये सुमंत्र और गुह अश्रुपूर्ण नेत्रों से उनकी ओर देखते रहे। नौका के दूसरे तट पर पहुँचते ही वे तीनों उतर कर आँखों से ओझल हो गये। परन्तु फिर भी सुमंत्र और गुह बहुत देर तक वहीं उनके मार्ग की ओर टकटकी लगाये शोक करते रहे। संभवतः रामचन्द्रजी मेरा स्मरण करेंगे; इस व्यर्थ आशा से सुमंत्र दो दिन तक गुह के यहाँ रहे। अन्त में निषाद के द्वारा उन्हें मालूम हुआ कि रामचन्द्रजी प्रयाग होते हुए भरद्वाज मुनि से मिल कर, यमुना पार कर चित्रकूट पर्वत पर चले गये हैं। तब बड़े दुःख के साथ रथ में घोड़े जोड़ कर और गुह से बिदा माँगकर आँसू बहाते हुए सुमंत्र वापिस लौट गये। दूसरे दिन कहीं संन्ध्या के समय वे अयोध्या के निकट जा पहुँचे। उस शोकपूर्ण नगरी की दशा को देख कर और स्वयं भी शोक ग्रस्त होने के कारण उन्हें आशंका हुई कि राम के विरह-दुखाग्नि में कहीं हाथी, घोड़े, प्रजा और राज्य सहित अयोध्या नगरी जलकर खाक तो नहीं हो गई?

घोड़ों को दौड़ा कर शीघ्र ही वे नगर के द्वार पर जा पहुँचे। नगर में प्रवेश करते ही उन के रथ को देख कर सैकड़ों नर नारी दौड़ पड़े और दीन शोकपूर्ण स्वर मे पूँछने लगे, "भाई सुमंत्र, रामचन्द्रजी को तुम कहाँ पर छोड़ आये ? सुमन्त्र ने उत्तर दिया, 'गंगा के तट पर पहुँचने पर राम, लक्ष्मण और सीताजी गंगा को पार कर अरण्य में चले गये और मैं उनकी आज्ञा लेकर वापिस लौट आया हूँ।" यह सुनते ही "हा ! धिक् !! धिक् !!! रामजी तो गंगा पार चले गये !" कहकर वे रो-रो कर शोक करने लगे। सुमंत्र भी अपने भीतरी शोक को कैसे रोक सकते थे ? उनके भी नेत्र आँसुओं से भर आये और बड़ी कठिनाई के साथ से वे रथ को राजमहल तक ले गये। अनन्तर रथ से उतर कर उन्होंने महल में प्रवेश किया। उन्हें देखते ही अन्तःपुर की स्त्रियों ने उन्हें चारों ओर से घेर कर 'सुमंत्र अकेला ही वापिस आया' कहते हुए उनकी ओर दीन वदन और आँसू भरे नेत्रों से देखने लगीं। अंत में पांडुर गृह में पुत्र शोक से कृश और दीन बनेहुए राजा के सामने जा कर सुमंत्र ने उन्हें प्रणाम किया और रामचंद्रजी का संदेश सुनाया। संदेश को राजा ने चुप चाप सुन लिया। पर शीघ्र ही उनका वह शोक असह्य हो उठा। "हा ! राम !" कहकर वे मूर्च्छित हो गिर गये। सारे अन्तःपुर में हाहाकार मच गया। सभी स्त्रियाँ शोक-करने लगीं। सुमंत्र और कौशल्याजी ने राजा को सचेत-किया और कौशल्याजी ने कहा, "महाराज यह दूत दुष्कर कार्यकर्ता रामचन्द्र का सन्देश लाया है। इससे आप क्यों नहीं बोलते ? पहले भीषण अपराध करके अब आप इतने क्यों दुखित हो रहे हैं ? जिसके डर के मारे आप रामचन्द्रजी के

समाचार नहीं पूछते, वह कैकेयी यहाँ पर नहीं है । आप किसी बात की शंका मन में न रखें जो कुछ कहना चाहें कहिए।" यों कहते हुए स्वयं कौशल्याजी भी शोकाकुल हो मूर्च्छित हो गई। इस प्रकार उस महल में दुःखसागर उमड़ पड़ा। यह देखकर सूत ने उन दोनों को बड़ी कठिनता से समझाया। तब दशरथजी ने कहा, "सुमंत्र मुझे रथ में बैठाकर राम के पास ले चलो; अन्यथा मेरे प्राण नहीं रह सकते।" तब सुमंत्र ने प्रार्थना की, 'महाराज, रामचन्द्रजी बड़े आनन्द से आपकी प्रतिज्ञा का पालन कर रहे हैं। बन में उन्हें किसी बात का दुख नहीं है। सीता जी भी बन के फल-फूलों से युक्त वृक्षों को देखती और उनके नाम पूछती हुई आनन्द से रामचन्द्रजी के साथ घूम रही हैं। सिंह और बाघों को देख कर भी नहीं डरतीं। इसलिए आप दुखित न हों। चौदह वर्ष वन में रहकर राम, लक्ष्मण और सीताजी कुशल पूर्वक आपके दर्शन के लिए आवेंगे।" इस प्रकार उन्हें समझा-बुझा कर सुमंत्र चले गये पर, उनके समझाने से कुछ भी लाभ न हुआ। वे माता पिता विलाप करते हुए एक दूसरे के दुःख को बढ़ा रहे थे! मध्यरात्रि के समय राजा दशरथ ने कौशल्याजी से कहा, 'कौशल्या, आज मुझे युवावस्था की एक बात याद हो आई है। मैं उस समय बहुत कम उम्र था। तुमसे विवाह भी नहीं हुआ था। एक दिन वर्षा ऋतु में सूर्य दक्षिण की ओर चला गया था! गर्मी कम हो गई थी, आकाश में काले-काले मेघ मंडरा रहे थे। वह दृश्य देख कर दादुर, मोर आदि बड़े आनंदित हुए। बहुत दिनों में पक्षियों को स्नान मिला। उनके पर भीग जाने से, वे कठिनता पूर्वक उड़ सकते थे। पानी और हवा से वे तृप्त हो गये थे। चारों

ओर सारा प्रदेश जलमय हो रहा था। भस्म चर्चित सर्पों की नाईं पर्वतों पर से श्वेत, और लाल रंग के पानी के झरने कूदते हुए दीख पड़ते थे। ऐसे आनंद दायक अवसर पर धनुष बाण ले रथ में बैठकर मृगया करने के लिए मैं सरयू के तट पर के जंगल में गया। वह घूमते घामते और शिकार ढूंढते हुए रात हो गई, आखिर यह सोचकर कि पानी पीने के लिए हाथी, सिंह अथवा दूसरा कोई जानवर अवश्य ही आवेगा; शर-संधान करके मैं अंधेरे में ही एक वृक्ष पर बैठ गया कि इतने में 'गुड़-गुड़' शब्द मुझे सुनाई दिये। मुझे आभास हुआ कि कोई हाथी पानी पीने के लिए आया होगा और शब्द का वेध ले कर अंधेरे ही में मैंने बाण छोड़ भी दिया, परन्तु अकस्मात 'हा मैं मरा!' शब्द सुनकर मैं चौंका। काटो तो खून नहीं! शीघ्र ही मुझे यह भी आभास हुआ कि कोई मनुष्य पानी में गिर पड़ा। बड़े दुख और डर से ज्यों ही मैंने निकट जा कर देखा, त्यों ही एक जटाधारी घायल पुरुष मुझे दिखाई दिया। मुझे देखकर वह कराहता हुआ बोला, "क्या मेरे समान वन में रहने वाले मुनि को मारना आपको उचित है? मेरी मृत्यु पर मुझे किसी बात का दुख नहीं है, पर मेरे वृद्ध और अन्ध माता-पिता पास ही वाले उस आश्रम में हैं। मैंने ही उनका आज तक पालन-पोषण किया है; अब मेरे बिना उनकी क्या दशा होगी?" ये शब्द सुनते ही मेरे हाथों से धनुष-बाण पृथ्वी पर गिर पड़े। अंत में वह मुनि-पुत्र बोल, इसी पगडंडी से सीधे मेरे आश्रम को जाओ पहले मेरे प्यासे माता-पिता को पानी पिला आओ। पर जरा ठहरो, मुझे असह्य वेदना हो रही है। इसलिए जितनी जल्दी हो सके मेरे शरीर से यह बाण खींच

लो।" तब ज्यों ही उसके शरीर से मैंने बाण निकाला त्यों ही उस तपस्वी ने अपने प्राण छोड़ दिये। मैं बड़ा दुःखी हुआ और विवश हो उसकी अंतिम इच्छा का पालन करने के लिए पानी का घड़ा भर के उसके आश्रम की ओर गया मेरे पाँवों की आहट सुनते ही वे वृद्ध मुनि बोले, " बेटा, इतनी देर क्यों लगाई ? तुम्हारी माता प्यास के मारे व्याकुल हो रही हैं। इसलिए आओ बेटा, जल्दी आकर हमारी प्यास बुझाओ। बेटा, तुमने हमें कभी कष्ट नहीं दिया। हमारे बड़े भाग्य हैं कि तुम्हारे जैसा सुपुत्र हमें मिला है।" मुनि के ये उद्गार मेरे हृदय मे तीखे बाण के समान चुभ गये। पर, विवश हो धैर्य धारण कर मैंने आगे की ओर बढ़ कर कहा, " विप्र-श्रेष्ठ क्षमा कीजिए, मैं क्षत्रिय दशरथ हूँ; आज भूल से अंधेरे में मेरे हाथ आपके पुत्र को बाण लगने से उन्होंने अपना देह त्याग दिया। भगवन्, मुझे क्षमा कीजिए। आपके प्रिय पुत्र के कथनानुसार मैं यह पानी ले आया हूँ; अतः आप पीकर अपनी तृष्णा को शांत कीजिए।" वज्र के सदृश मेरे उन वाक्यों को सुनकर वे मुनि 'हा ! पुत्र !' कहकर मूर्च्छित हो गये और थोड़ी देर में सचेत हो कर बोले, "हे क्षत्रिय, यदि तू अपने मुख से यह घटना न कहता तो तेरा शिर सहस्रधा भिन्न हो जाता। अस्तु ! जो कुछ हुआ सो ठीक है। अब हमें वहाँ पर ले चल जहाँ हमारा पुत्र मृत हो गया है।" उनकी आज्ञा को मान कर मैं उन्हें सरयू के तीर पर ले गया और शव के पास ले जाकर उन्हें पुत्र का स्पर्श कराया। तब उन वृद्ध माता पिता ने जो शोक किया, वह अवर्णनीय है। अपने पुत्र के गुणों का बारंबार स्मरण करके, "हे पुत्र, तुम उत्तम गति को

पाओगे। तुम निरपराधी होते हुए बाण से मृत हुए हो। समरांगण में घायल होकर वीर पुरुष जिस गति को पाते हैं, उसीको तुम भी पाओगे। हाँ, अब हमारे जीवित रहने की आशा व्यर्थ है। हे राजा, यद्यपि अज्ञात स्थिति में तुमसे यह घोर अपराध हुआ है; तथापि हम तुम्हें शाप दिये बिना नहीं रह सकते। जिस प्रकार आज हम पुत्र शोक से अपने प्राण त्याग रहे हैं, उसी प्रकार तुम भी एक दिन 'हे पुत्र ! हे पुत्र' कहकर शोक विमूढ़ हो, अपने प्राणों का त्याग करोगे।" इस प्रकार घोर शाप देकर वे वृद्ध माता-पिता चिता पर जल गये ! मुनि के उस शाप का मुझे अब स्मरण हुआ है। कौशल्या, मेरी आँखों के सामने अँधेरा छा गया है। हे पुत्र ! बेटा पितृवत्सल राम ! तू हमें छोड़कर चला गया ! बेटा अब हम तुम्हारे उस सुंदर मुख को कैसे देख सकेंगे ? धन्य हैं सीता और लक्ष्मण, जो बन में मेरे राम की सेवा कर रहे हैं। कौशल्या, पुत्र-शोक के कारण अब मेरे प्राण शरीर से अलग होना चाहते हैं। रामचन्द्र, तुम्हारे साथ मेरा जैसा बर्ताव रहा, यह पिता के योग्य नहीं था। पर तुमने मेरे साथ जो बर्ताव किया, वह तो अवश्य ही सत्पुत्र के योग्य है। धन्य ! धन्य हैं वे लोग ! वे लोग देवताओं से भी अधिक धन्य हैं, जो मेरे उस सत्पुत्र को १४ वर्ष के बनवास की प्रतिज्ञा को पूरी करके, वापिस आया हुआ देखेंगे। परन्तु हाय ! वह सुख मेरे भाग्य में कहाँ है ? कौशल्या, तेल जल जाने पर दीपक की बत्ती जिस प्रकार तड़तड़ाती है; ठीक उसी प्रकार इस समय मोहवश मेरे हृदय की स्थिति हो रही है। जिस प्रकार पहाड़ी नदी का प्रचंड प्रवाह वृक्षों और भवनों को ढाता हुआ जाता है

उसी प्रकार हे कौशल्या यह पुत्रवियोग का दुःख मुझे भी अपने साथ लिये जा रहा है। हे महाबाहो राम! हे पितृप्रिय राम! मेरे नाथ! तुम कहाँ चले गये! आओ मुझ से मिलो! कौशल्या! हा सुमित्रा! ओ दुष्टा कुलकलंकिनी कैकेयी, अरी तूने मेरे राम को कहाँ भेज दिया? राम! बेटा राम! हा पुत्र!' इत्यादि विलाप करते हुए रो रो कर अपने प्रिय पुत्र की याद करने के कारण कंठ सूख कर उस दुःखी वृद्ध दशरथ ने, आधी रात बीत जाने पर, प्राण त्याग दिये!! (अयो० स० ५७–६४)

बारंबार मूर्च्छित होने वाले राजा दशरथ के पास कौशल्या और सुमित्रा थीं, पर वे भी विलाप करते-करते बेसुध हो गई थीं, इसीलिए राजा की मृत्यु के समय वे दोनों अचेत ही थीं। नित्य नियमानुसार प्रातःकाल के समय जब बंदीजन राजा को उठाने के लिए आये, परिजन चन्दनोदक से भरे हुए सुवर्ण के घड़े स्नान करने के लिए वहाँ पर ले आये, और दासियाँ महल में प्रवेश कर कौशल्या को जगा कर राजा को भी जगाने लगीं तो देखा कि राजा के प्राण पखेरू उड़ गये हैं! सूखे समुद्र या बुझी हुई अग्नि की तरह दिखाई देने वाले राजा को देखकर कौशल्या ने 'हा महाराज!' कहकर जोर जोर से विलाप करना आरंभ किया। सुमित्रादि सब स्त्रियाँ भी रोने लगीं। सारा राज-महल शोक-सागर में डूब गया। वह अपूर्व राज्य-श्री मानों अस्त हो गई और प्रासाद भयावना दिखाई देने लगा। चारों ओर लोग दीन-बदन हो घूमने लगे। कौशल्याजी शोक से सूखकर काँटा बन गई थी। राजा के सिर को अपनी गोद में रख कर वे कहने लगी:—'कैकेयी, ले, अब तो तेरी इच्छा तृप्त हो गई न? ले अब निष्कंटक

राज्य का उपभोग कर। अरी दुष्टा पापचारिणी, महाराज की मृत्यु से तुझे क्यों दुःख होने लगा ? पर हा दैव अब मेरी क्या दशा होगी ? मेरा पुत्र तो बन को गया और पति भी मृत हो गये; अब मैं किसके लिए जीऊँ ? स्त्रियों के लिए पति ही सर्वश्रेष्ठ देव है। उसके प्राण हरण करके सिवा कैकेयी के अन्य कौन स्त्री आनंदित होगी ? लोभ वश मनुष्य को अपने पाप का ध्यान नहीं रहता। लोभ से मनुष्य अंधा बन जाता है। और लोभ के ही वश होकर, कुब्जा के कहने से, कैकेयी ने रघुकुल का घात किया है। हे रामचन्द्र, तुम्हें बन में ये समाचार नहीं मालूम हुए कि तुम्हारे ही शोक के कारण राजा इस लोक से चल बसे। यदि मालूम हो जाते तो इस अनाथा की तुम इस प्रकार उपेक्षा न करते। पर अब मुझे किसी बात की इच्छा नहीं है। मैं तो अपने पति के साथ चिता पर आरोहण करके अब सिर्फ जल जाना चाहती हूँ।" यों कहकर वे पति की देह पर गिर पड़ी। तब कुछ चतुर स्त्रियाँ उन्हें वहाँ से जबरन हटाकर दूसरी जगह ले गईं। बिजली की गति से सारे नगर में यह खबर फैल गई और शोकाकुल प्रजाजनों के झुंड के झुंड महल की ओर उमड़ने लगे। अमात्य भी राज-महल में एकत्र हो गये। पुत्र के होते हुए उसकी अनुपस्थिति में प्रेत कार्य नहीं किया जा सकता था; अतः अमात्यों ने राजा का शव तेल की कढ़ाय में डाल दिया। यह करते कराते संध्या हो गई और वह रात सबके शोक करने ही में बीती।

प्रातःकाल होते ही नगर और राजा के प्रतिष्ठित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि राज-सभा में एकत्रित हुए। राजा के सभी अमात्य भी उपस्थित थे। सब मिल कर यही विचार करने लगे कि

आगे क्या किया जाय ? मार्कंडेय कश्पयादि ऋषि बोलेः—हे वसिष्ट, इक्ष्वाकु वंश के किसी राजपुत्र को ढूंढ लाओ और उसे राजा बना दो। बिना राजा के राज्य अच्छा नहीं होता। अराजक देश में कोई किसी का नहीं सुनता। पुत्र पिता की आज्ञा को नहीं मानता और न पत्नी ही अपने पति की परवाह करती है। देश में चारों ओर अन्धाधुन्दी मच जाती है। कोई निर्भयतापूर्वक नहीं रह सकता। सारांश, यदि योग्यायोग्यता का निर्णय करने वाला राजा देश में न रहे तो सब जगह अंधेर हो जावेगा। तब वसिष्ठजी बोले, 'दशरथ ने भरत को राज्य दिया है और वे अपनी ननिहाल में हैं। अतः उन्हें ये समाचार बिना कहे ही जितनी जल्दी हो सके यहाँ पर बुलवा लेना चाहिए। वसिष्ठजी का कहना सभी सभा जनों को जँच गया और उन्होंने भरत को शीघ्र ही बुला लेने की संमति दी। तब वसिष्ठ जी ने शीघ्रगामी दूतों को चुनकर उन्हें भरतजी को ले आने की आज्ञा दी और कहा कि जाते ही भरत जी से कहना कि "पुरोहित वसिष्ठजी ने तुम्हें आशीर्वाद देकर के शीघ्र ही बुलाया है। एक बडे ही महत्व का कार्य है।" ये उत्तमोत्तम वस्त्र और अंलकार भी भरत को देना और हमारी ओर से इन्हें उनके मामा तथा नाना को दिला देना। राम के वन को जाने अथवा राजा की मृत्यु के समाचार उन्हें भूल कर भी न कहना अन्यथा राघव कुल का नाश हो जायगा।" जब कैकेयी का विवाह हुआ था उस समय राजा दशरथ ने कैकेयी के पिता को वह सारा राज्य शुल्क के रूप में, दिया था—कैकेय कुल में इस तरह कन्या—विक्रय करने की रीतिप्रचलित थी। इसलिए वसिष्ठ जी को भय था कि संभव है इस अवसर को देखकर अश्वपति

अयोध्या के राजा को धर दबाने का प्रयत्न करे। इस प्रकार मुनि की आज्ञा पाकर वे दूत निकट के मार्ग से, चले। उन्होंने राह में विश्रांति तक नहीं ली। अपने घोड़ों को बेतरह पीटते हुए वे बड़ी तेजी से मार्ग तै करने लगे और तीसरे दिन कैकेय राजा अश्वपति की राजधानी गिरिव्रज अथवा राजगृह को जा पहुँचे। घोड़ों पर से कूदते ही वे भरत जी से मिले और उन्हें वसिष्ठ जी का संदेश सुनाया। भरतजी ने बड़ी उत्कंठा से पूछा 'महाराज आनंद में तो हैं न? मेरे प्रिय भाई राम-लक्ष्मण तो सकुशल हैं? क्या मेरी हठीली माता ने—कैकेयी ने कुछ समाचार कहा है? मेरी सौतेली माताएँ आर्या कौशल्या और सुमित्रा तो आनंद में हैं? दूत बोले, "जिन जिनके विषय में आपको इतनी चिंता है, वे सब आनंद में हैं। चलिए लक्ष्मी आपकी राह देख रही हैं।" दूतों के उक्त बचन—सुनकर भरतजी का समाधान हुआ। और उन्होंने शीघ्र ही अपने मामा तथा नाना से विदा मांगी, और वसिष्ठजी के भेजे हुए वस्त्रालंकार उन्हें दिये। तब अनेकों प्रकार के बहुमूल्य दुशाले, उत्तम घोडे, अन्तःपुर में पाले हुए ऊंचे पूरे, चपल, तीखे दांत वाले और सिंह का सामना करने वाले कुत्ते, ऊंचे और बलवान् हाथी और दश सहस्त्र सुवर्ण आदि बहुमूल्य वस्तुएं प्रेमोपहार के रूप में दे कर अश्वपति ने उन्हें और शत्रुघ्न को विदा किया। 'राज-गृह को छोडकर भरत और शत्रुघ्न भी पूर्व दिशा की ओर चल पड़े। उनके साथ—सेना—होने से उन्हें दूतों की अपेक्षा अधिक दूरी के किन्तु सुगम मार्ग से जाना पड़ा। सूदामा ह्लादिनी, दूरपारा आदि पश्चिम वाहिनी नदियों को तै कर के वे शतद्रु नदी पर पहुँचे। शतद्रू, ऐलधानी नदी और अमर पर्वत से हो कर

बहने वाली शिला नदी को लांघ कर आग्नेय शल्यकर्षण तक वे पहुँचे। वहाँ पर स्नान कर के पवित्र हो शिलावह नदी के परिवर्ती रमणीय प्रदेश को देखते हुए पर्वतीय प्रदेश में हो कर चैत्र रथ बन में से गुजरते हुए वे सरस्वती-गंगा-संगम पर पहुँचे। सरस्वती को पार कर के उत्तर मत्स्य-के आरुंड बन में से पर्वतों से घिरी हुई और द्रुतगति से बहने वाली कुलिंगा नदी को लांघ कर वे यमुना तीर पर जा पहुँचे। वहाँ पर उन्होंने अपनी सेना को विश्राम लेने दिया। थके हुए घोड़ों को यमुना में हिला और पानी पिलाकर कुछ पानी अपने साथ ले कर फिर से वे अरण्य में घुसे तो असंधाना ग्राम के समीप भागीरथी पर पहुँचे। वहाँ पर नदी को पार नहीं किया जा सकता था; अतः उन्होंने प्राग्वेट पुर के पास से भागीरथी को पार किया। अनंतर कुट्टिकोट को लांघ कर वे धर्मवर्धन ग्राम को पहुंचे। फिर तोरण ग्राम को दक्षिण की ओर छोड़ कर जम्बुप्रस्थान होते हुए वरुथ ग्राम के रमणीय वन में विश्रांति लेते हुए उज्जिहाना नगरी के प्रियक वृक्ष युक्त उद्यान में पहुँचे। अपनी सेना को वहीं छोड़ कर इने गिने लोगों को अपने साथ ले, भरत और शत्रुघ्न आगे को बढ़े और भी अनेकों नदियाँ लांघ कर विनत ग्राम के समीप गोमती नदी को पार कर वे कालिंग नगर के शालवन में पहुँचे। बात की बात में उस बन को भी तै करके सन्ध्या के समय वे मनु-निर्मित अयोध्या नगरी के निकट आ पहुँचे। वहीं उन्हें श्वेत पृथ्वी दिखाई देने लगी। परन्तु शून्य और निःशब्द अयोध्या को देखते ही भयभीत हो भरत सारथी से बोले, "सूत, अयोध्या में तो सर्वदा स्त्री-पुरुषों के

तुमुल नाद सुन पड़ते हैं फिर आज इतनी अधिक शून्यता क्यों है ? गङ्गा के बाहर उद्यानों में क्रीड़ा करने वाले लोगों के झुण्ड क्यों नही दीख पड़ते ? बड़े बड़े लोग रथ, घोड़े और हाथियों पर सदा ही इधर-उधर घूमते हुए दिखाई देते हैं, पर आज यह क्या बात है जो एक मनुष्य भी दिखाई नहीं देता; मेरे दोनों भाई तो कुशल हैं ? मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है।" यों कहते हुए नगर के वैजयंत द्वार के निकट उनका रथ आ पहुँचा। द्वारपालों ने उठ कर प्रणाम करके जय शब्द से उनका सत्कार किया; उसका स्वीकार करके उनके सहित वे आगे को बढ़े, तो उन्हें सारी नगरी शून्यवत् देख पड़ी। रास्ते, चौराहे, हाट, द्वारादि मनुष्य रहित देखकर भरत अत्यन्त दुःखित हुए। उनके मनमें नाना प्रकार की बुरी कल्पनायें उठने लगीं। अंत में दीन मन हो शिर नीचा किये पिता के दुखमय राजमहल में उन्होंने प्रवेश किया। (अयो० स० ६५७१)

पर वहाँ राजा दशरथ उन्हें नहीं दिखाई दिये। तब उन्होंने सोचा कि कदाचित् वे हमारी माता के महल में होंगे; अतः शीघ्र ही वे कैकेयी के महल को गये। उन्हें देखते ही कैकेयी ने बड़े आनन्द से सुवर्ण पीठ पर से उठकर उनका स्वागत किया। भरत ने माता के चरणों पर अपना शिर रख दिया। कैकेयी ने बड़े प्रेम से उनकी तालू को सूँघा और उन्हें अपनी गोद में बैठा कर उनकी पीठ पर से हाथ फेरते हुए कहा, "बेटा भरत तुम्हारे नाना तो आनन्द से है न ? तुम्हारे मामा युधाजित् कैसे हैं ? ननिहार छोड़े तुम्हें कितने दिन हुए ? तुम्हारे मामा ने तुम्हें क्या दिया।" भरतजी ने उन प्रश्नों के यथायोग्य उत्तर दे कर बड़ी उत्सुकता के

साथ पूँछा, "माताजी मेरे पूज्य तात कहाँ है? मेरे आने के समाचार तो उनके पास पहुँचा दो, वे माता कौशल्याजी के महल में तो नहीं गये?" भरत के उक्त वाक्यों को सुनकर राज लोभ से मोहित कैकेयी बोली, "बेटा भरत, महात्मा, सत्यसंघ, तेजस्वी अनेक यज्ञ करने वाले और सज्जनों के आधार तुम्हारे पिता सब प्राणी जिस गति को प्राप्त करते हैं उस गति को चले गये।" यह भयंकर वाक्य सुनते ही भरतजी 'हा प्रिय तात!' कहकर पितृशोक से पृथ्वी पर गिर पड़े "माताजी, मैं किस आशा से यहाँ आया और अब मैं क्या सुन रहा हूँ? मैंने समझा कि मेरे पूज्य तात श्रीरामचन्द्रजी यौवराज्य का अभिषेक करते होंगे अथवा कोई यज्ञ करते होंगे, इसीसे महर्षि वसिष्ठ ने मुझे बुलाया है। पर यह सब मिथ्या हुआ और मेरे सत्व हित चिंतक तात मुझे छोड़कर स्वर्ग को चले गये। माताजी उन्हें एकाएक क्या हो गया था? धन्य है मेरे भ्राता राम लक्ष्मण! उन्होंने मृत्यु समय पिताजी की सेवा की। हा महाराज, अब मेरे शिर और पीठ पर से सुखदायी हाथ कौन फेरेगा? माता कैकेयी, मेरे प्रिय बन्धु राम ही अब मुझे पिता के सदृश हैं मैं उनका दास हूँ। मेरे आने के समाचार उन्हें भेजो। आर्य पुरुषों को ज्येष्ठ भ्राता पिता के सदृश होता है, अतः मैं उनके चरणों की वंदना करूंगा। आर्या कैकेयी, मेरे प्रिय तात ने मृत्यु समय कुछ कहा भी? क्या उन्होंने तुम्हें मेरे लिए कोई अन्तिम सन्देश कहा था? कैकेयी बोली, "बेटा, तुम्हारे पिता तो 'हा राम! हा सीता! हा लक्ष्मण!' का आक्रोश करते करते स्वर्ग को सिधारे थे। राजपुत्र राम सीता सहित बल्कल धारण करके बन को गया है और लक्ष्मण भी उसके साथ चला गया है।" ये भयंकर शब्द

कैकेयी कहती चली और भरत शोक सागर में अधिकाधिक गोते खाने लगे। अन्त में वे बोले "माता, आर्य श्रीराम को देश निकाले की सज़ा क्यों दी गई? उन्होंने किसी ब्राह्मण के धन का अपहार तो नहीं किया था? या किसी निरपराधी ग़रीब वा धनिक मनुष्य को तो नहीं मार डाला? अथवा किसी पराई स्त्री से अत्याचार तो नहीं किया? क्या कारण हुआ? कुछ कहो तो मुझे अपने कुल का बड़ा अभिमान है, पर ये शंकायें व्यर्थ हैं। हमारे कुल में तो बुरे आचरण वाले पुरुष ही उत्पन्न नहीं होते। फिर परम पवित्र और धार्मिक श्रीरामचन्द्रजी के विषय में तो आशंका ही कैसे हो सकती है? बताओ किस कारण से राम-चन्द्रजी को देश निकाला दिया गया? माता, शीघ्र ही कहो।" अपने को व्यर्थ ही बुद्धिमती समझने वाली महामूर्खा कैकेयी ने आनंदित हो कर कहा, "बेटा भरत श्रीरामचंद्रजी ने कुछ भी नहीं किया। राम पर-स्त्रियों की ओर तो निगाह भी नहीं डालते। बेटा भरत, मैंने ही तुम्हारे लिए यह सब कुछ किया है। महाराज ने एकाएक रामचंद्र को यौवराज्याभिषेक करने का निश्चय किया, यह समाचार मुझे मालूम होते ही राजा के पहले मुझे दिये हुए दो वर मैंने उन से माँगे। एक वर से तो रामचन्द्र को बनवास और दूसरे से तुम्हारे लिए यौवराज्य। सत्य-व्रत राजा ने मुझे वे दोनों दे दिये। तब राम पिता की आज्ञा को मान कर शीघ्र ही बन को चले गये। अब इस राज्य के एकमात्र तुम्हीं अधिकारी हो; इसलिए शीघ्र राज का काम काज अपने हाथों में लेलो। व्यर्थ के शोक-संताप से अब क्या लाभ है? यह सारी नगरी और यह समृद्ध राज अब तुम्हारे ही अधीन है।"

पिता की सत्यनिष्ठा, श्रीराम की पितराज्ञा पालन में निःसीम तत्परता, उससे उन दोनों पर आये हुए भयंकर संकट और तिस पर यह सोच कर कि यह सब बखेड़ा मेरे ही लिए मेरी माता के द्वारा हुआ है, भरतजी बहुत ही दुखित हुए। उनकी स्थिति ऐसी हो गई मानो चोट पर चोट और घाव पर घाव हो रहे हों। दुःख से संतप्त हो वे अपनी माता से बोले, 'माता कैकेयी, मालूम होता है कि तुम इस कुल का नाश करने ही के लिए पैदा हुई हो। मानों मेरे पिता ने आग का गोला ही अपने पास रख छोड़ा था। श्रीराम कौशल्या माता के ही सदृश तुमपर प्रेम करते थे और माता कौशल्या भी दूर दृष्टि से सगी बहिन की तरह तुमसे बर्ताव करती थी। अतः उनके पुत्रों को वल्कल पहिना कर वन में भेजते हुए तुम्हें कैसे दुःख नहीं हुआ? पराक्रमी राम लक्ष्मण को तुमने देश निकाला दे दिया है; इसलिए अब मैं किनकी हिम्मत और बल पर राज काज देखूं? और यदि मुझ में राज भार उठाने की सामर्थ्य हो भी तो राज लेकर मैं तुम्हारे दुष्ट मनोरथ की पूर्ति में तो कदापि सहायक न हूँगा। मैं तो अपने प्रिय और ज्येष्ठ भ्राता श्रीराम को बन से बुलाकर उन्हींके हाथों में राज्य सौंप करके उनका दास बनकर आनंद में अपना जीवन व्यतीत करूँगा। दुष्टा सर्पिणी, तेरे इस अघोर कृत्य ही से मेरे पिता की मृत्यु हुई, राम वन को गये और मैं सदा के लिए कलंकित हुआ। तू मेरी माता नहीं बरन हे नृशंसा, राज लुब्धे, पतिघातिनी, तूने मेरे लिए शत्रु का सा काम किया है। अरी पापिनी, मैं तेरे पाप में योग नहीं दे सकता। जब पौरजन आँसू भरी आँखों से मेरी ओर देखेंगे, तब मैं उन्हें क्या

कहूँगा ? तू मेरी माता नहीं है । मैं इस राज्य का कभी अंगीकार नहीं करूंगा ।" यों कहकर शोक-संतप्त हो तथा आत्मग्लानि से सर नींचा किये हुए भरत-शत्रुघ्न कौशल्याजी के महल की ओर गये । शोक में डूबी हुई माता कौशल्याजी को पृथ्वी पर लेटी हुई देखकर भरत विह्वल हो गये, जाते ही उन्होंने उनके पैर पकड़ लिये ! भरत को देखते ही कौशल्याजी दुःख संताप से विवश होकर बोली, 'भरत, तुम्हें तो राज्य की जरूरत थी न ? लो, तुम्हारी माता ने क्रूर कर्म करके तुम्हारे लिए निष्कंटक राज्य की प्राप्ति कर ली है । इसका मुझे जरा भी दुःख नहीं है पर, मेरे पुत्रों को वल्कल पहिना कर बन को भेजने से कैकेयी को क्या सुख प्राप्त हुआ ? अब तेरी माता से कह कि वह मुझेभी बन को भेज दे; जहाँ राम तप कर रहे हैं वहीं पर मैं भी चली जाऊंगी । अथवा भरत, तुम्हीं मुझको बन में पहुँचा दो और फिर सुख पूर्वक इस विस्तीर्ण, धनधान्य-संपन्न-भूमि और गजाश्वरथादि युक्त सारे राज्य का आनंद से उपभोग करो ।" माता की कृष्ण करतूंतो से पहली ही भरत का अतःकरण जल रहा था उसपर इन शब्दों ने मानों नमक का पानी छिड़क दिया । बड़े संताप और आवेश युक्त होकर वे बोले, "माता कौसल्ये मैं एक दम निष्पाप हूं । मुझे कुछ भी मालूम नहीं है । तुम व्यर्थ ही मुझे दोषी बनाती हो । मां क्या तुम यह नहीं जानती कि श्रीराम पर मेरा कितना प्रगाढ़ प्रेम है । यदि मेरी संमति से राम बन को गये हों तो मैं लोगों का दास बनकर रहूंगा । जिसकी संमति से आर्य रामचंद्र बन को गये हों, वह साई हुई गौ को लात मारने अथवा सूर्यदेव की ओर मुँह करके पेशाब करने के

पाप का भागी बने और षड भाग की अपेक्षा अधिक कर लेकर प्रजारक्षण न करने वाले राजा से जो अधर्म होता है, वही पाप उसे प्राप्त हो। जिसकी संमति से आर्य राम वन को गये हों वह निर्लज्ज, अकृतज्ञ और अन्य लोगों के द्वारा तिरस्कृत ही हो। बड़े भयंकर संग्राम से भागते समय जो मारा जाता है उसके सदृश अथवा हाथ में कपाल लेकर भिक्षा माँगते हुए उन्मत्त हो कर घूमने वाले की सदृश उसकी गति होवे।" भयंकर शपथें लेते हुए दुख से अति संतप्त होकर भरत तो पृथ्वी पर गिर पड़े। तब कौशल्याजी को होश आया। मैं दुखावेग में क्या-क्या कह गई और उन्हें अपनी ना समझी पर बड़ा ही दुःख हुआ। उन्होंने प्रेम से भरतजी का शिर अपनी गोदी में रख और उनका मुख चूम कर कहा, "बेटा भरत, तुम्हारी घोर शपथ सुन कर मेरा दुख और भी अधिक बढ़ रहा है। तुम धर्मात्मा, और सत्य-प्रतिज्ञ हो। तुम्हारा हृदय धर्मच्युत नहीं होता; यह महद्भाग्य की बात है। प्रिय भ्रातृवत्सल पुत्र, तुम उत्तम लोक को पाबोगे।" यों कहकर उन्हें छाती से लगा कौशल्याजी मुक्त कंठ से रोने लगीं और भरतजी भी रोने लगे। इस प्रकार उन-माता—पुत्र का शोक समुद्र के ज्वार की तरह बढ़ने लगा और—उन्होंने वह सारी रात दुःख ही में बिताई। (अयोध्या स० ७२-७५)

दूसरे दिन प्रातःकाल महर्षि वसिष्ठ भरतजी से मिलने आये। उन्होंने उनकी सांत्वना करके पिता का और्ध्वदैहिक कर्म करने को कहा। वह सुन कर, पृथ्वी पर से उठकर वसिष्ठजी की अनुमति से राजा का सारा प्रेत-कार्य उन्होंने किया। जब तेल की कढ़ाई में से राजा का देह निकाल कर पृथ्वी पर रखा गया, उस समय

यों मालूम होता था मानो राजा निद्रित हैं, हां, उनका मुँह जरूर पीला पड़ गया था। शव को यथा विधि न्हिलाकर उसे शिविका में रक्खा। प्रेत की स्मशानयात्रा चतुरंग सेना सहित निकली। शव के आगे आगे सोना, चांदी और नाना प्रकार के वस्त्र परिचारक बांटते-लुटाते जा रहे थे। इस प्रकार अरथी के स्मशान पहुँच जाने पर चंदन काष्ठ की चिता पर राजा की देह रक्खी गई। अनन्तर सभी को चिता परिक्रमा कर लेने के बाद उसे यथाविधि मन्त्राग्नि दिया गया। साम-गों ने साम गायन किया। कौशल्यादि राजस्त्रियों ने अत्यन्त दुःखित हो कर बहुत शोक किया। अंत में सभी लोगों ने सरयू के तट पर पहुँचकर, राजा को जलांजलि दी। पर उनकी आंखों की अश्रुधारायें अभी ठहरीं नहीं थीं। स्वर्गीय राजा के अनेक गुणों का स्मरण करते हुए मन्त्री, पुरोहित, राजस्त्रियां इत्यादि लोग राजमहल को लौटे। दशवें दिन को अशौच-निवृत्ति हुई और बारहवे दिन भरतजी ने श्राद्ध करके ब्राह्मणों को रत्न, धन, गौएँ, वहुत सा अन्न और-कंवल आदि वस्त्र दिये। गज, दास, दासी, रथ, इत्यादि दान भी और्ध्व-देहिक कर्म के निमित्त दिये गये। तेरहवे दिन प्रातः काल के समय भरत फिर स्मशान में पिता की चिता के पास गये, तब वे अत्यंत विलाप करने लगे; "महाराज जिन रामचंद्रजी के भरोसे आपने मुझे छोड़ा! वे तो बन को चले गये। फिर आपने मेरा त्याग क्यों किया? कौशल्या माता पुत्र विहीन हैं। आप ने उन्हें क्यों छोड़ दिया?" आदि प्रकार से भरत जी ने बहुत शोक किया। शत्रुघ्न भी पिता के गुणों का स्मरण कर के बहुत दुखी हुए। और दोनों बड़े व्याकुल हो पृथ्वी पर गिर पड़े। अंत में वसिष्ठजी ने उन्हें समझाया, तब

उन्होंने उठकर अवशेष अस्थियों को एकत्र किया। और सुमंत्रादि अमात्य उन शोकसागर में डूबे हुए राजपुत्रों को जल्दी से स्मशानभूमि से राज-महल को ले गये। चौदहवें दिन प्रातः काल को नगर के मुख्य मुख्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि लोग तथा अमात्य राज महल में एकत्र हुए, और उन्होंने भरतजी से यों प्रार्थना की "भरतजी, राजा दशरथ हमें छोड़कर स्वर्ग को गये और पुत्र रामचंद्रजी लमक्ष्ण सहित बन को चले गये हैं; अतः अब आप ही राजा बन कर हमारा यथाशास्त्र पालन करो।" यह सुनकर भरतजी ने अत्यन्त दुःखित हो कर उत्तर दियाः—"हम सब में राम बड़े हैं; अतः वे ही तुम्हारे राजा होंगे। मेरी माता के द्वारा पाप से कमाये राज्य को मैं कदापि नहीं ले सकता। मैं अभी बन को जा कर मेरे प्रिय बन्धु को वापिस ले आता हूँ। यों कह कर उन्होंने सुमंत्र को आज्ञा दी कि चतुरंग सेना तैयार करो और अभिषेक की सारी सामग्री सिद्ध रक्खो। मैं श्रीरामजी को लौटा लाने के लिए बन को जाऊँगा। सेना के लिए मार्ग तैयार करो। भरतजी के उक्त उद्गार को सुनकर सभी सभासदों की आँखों से प्रेमाश्रु बहने लगे। "भरतजी, तुम्हारी सदा जय होवे। अनायास ही मिले हुए राज्य को तुम अपने ज्येष्ठ भ्राता को देने के लिए तैयार हो गये हो; अतः तुम धन्य हो" इस प्रकार से सभी सभाजनों ने उनको सराहा। फिर सारी सेना तैयार की गई। बेलदार आदि शिल्पकारों ने मार्ग को साफ कर दिया और ऊँची-नीची भूमि को समथल बना दी। बढ़ई आदि ने बेलवृक्षों को साफ किया। रसोइये, पानी भरने वाले आदि सेवक जन रवाना हुए। थोड़े ही दिनों में सारी तैयारियाँ हो कर मार्ग की दोनों ओर पताकाएँ

फहराने लगीं। स्थान स्थान पर सुंदर पुष्पयुक्त वृक्ष लगे थे और उन-पर पक्षी मधुर शब्द कर रहे थे, जिससे सेना का वह मार्ग अत्यन्त सुंदर दिखाई देता था। मार्ग में, जहाँ जहाँ पर सेना की विश्रांति के लिए सेना-निवेश बनाये गये थे उनमें भरतजी के रहने के लिए सुंदर अस्थायी प्रासाद भी बनाये गये थे। इस प्रकार ठेठ गंगा नदी तक उस मार्ग की व्यवस्था की गई थी। मार्ग के तैयार हो जाने पर कूच करने के लिए प्रातः काल के समय सूत, मागध आदि बंदिजनों ने विशेष स्तुति-युक्त गीतों से भरतजी को जगाया। पर उन्हें सुनकर भरतजी मन ही मन बड़े दुःखित हो रहे थे कि इतने में बहुत बड़े व्यास का राजदुंदुभि सुवर्ण के डंके से बजने लगा तथा शंखतूर्यादि जयवाद्य भी बजने लगे। उस शब्द से तो भरतजी और भी दुःखित हुए और "मैं राजा नहीं हूँ, कहकर उनका निवारण किया। सब तैयारी हो जाने पर वे रथ में बैठ चतुरंग सेना सहित अमात्य, मंत्री, पुरोहितादि भी चले। वे दुखी माताएँ भी स्यानों में बैठीं और सेना ने कूच किया। सहस्रों लोग भी श्रीराम के दर्शन के लिए विभिन्न यानों में बैठ कर साथ हो लिये। इस प्रकार वह लोक समुदाय धीरे धीरे शृंगवेरपुर को पहुँचा। तब उस भारी सेना को देखकर गुह को इस बात का भय उत्पन्न हुआ कि कहीं श्रीरामजी का नाश करने ही के लिए तो भरत नहीं आये हैं! अतः उसने अपने सेवकों को गुप्त रीति से गंगाजी में हथियार बंद तैयार रहने की आज्ञा दे कर आप अमात्य सहित भरतजी की अगुआनी के लिए गया। सुमंत्र ने भरत से गुह की पूर्व कथा कहकर उसका आदर करवाया, तब उसे भरत के आने का सच्चा उद्देश मालूम हुआ। उसने भरत से कहा इस तरह

अचानक हाथ में आये हुए राज्य को तुम श्रीरामचन्द्रजी को वापिस दे रहे हो; अतः तुम्हारे समान धार्मिक और भ्रातृभक्त पुरुष निर्माण होना कठिन है और भरत की बहुत प्रशंसा की। तब भरत बड़े दुःख से बोलेः—"भाई गुह, जरा बताओ तो, रामचन्द्रजी कहाँ पर सोये थे? उन्होंने यहाँ पर क्या खाया था? वे क्या क्या बोले? उन्होंने रात कैसे बिताई? सारी बातें मुझे कहो।" गुह ने एक वृक्ष के नीचे भरत, उनके अमात्य और उन शोकार्त राजमाताओं को ले जा कर श्रीराम और सीताजी की वह शय्या दिखाई और कहा कि मैं उनके खाने के लिए बहुत से पदार्थ लाया था, किन्तु वे उन्होंने नहीं खाये केवल भागीरथी का जल पी कर ही उन्होंने वह रात बिताई। दूसरे दिन बरगद के वृक्ष के दूध से उन दोनों ने जटा बनाई और प्रातः काल होते ही वे तीनों गंगा-पार चले गये। तब भरत अत्यन्त दुखी हो कर बोलेः—"शिव शिव! मुझे धिक्कार है कि मेरे लिए त्रैलोक्याधिपति श्रीरामचन्द्र और जनकसुता सीताजी को यहाँ पृथ्वी पर सोना पड़ा! प्रारब्ध की बड़ी विचित्र गति है। सुवर्ण पर्यंक पर उत्तमोत्तम आस्तरणों पर सोने वाले श्रीरामजी को भूमि पर सोने की नौबत आई न! गुह आज से मैं भी जटा वल्कल धारण करके ज़मीन पर ही सोया करूंगा और रामचन्द्रजी को अयोध्या में ले जाकर उनके वनवास की शेष अवधि को मैं ही वन में रहकर पूरी करूंगा! यों कहकर शोक संतप्त भरत ने अपने शिर पर जटा बना ली और उत्तम वस्त्रों का त्याग करके वल्कल धारण किये। (अयो० स० ७६–८८)

दूसरे दिन प्रातः काल को वह सारी सेना गंगा को पार करने

लगी। पताका युक्त सैंकेड़ों नौकाएँ नदी में तैर रही थीं। हाथी भी नदी को पार कर गये। घोड़े, रथ और मनुष्य नौकाओं से उतर पड़े। इस प्रकार समग्र सेना को गुह निषाद नदी के उस पार ले गये। वहां से कूच करके भरत सेना सहित धीरे धीरे प्रयाग पहुँचे। भरद्वाजाश्रम के निकट पहुँचते ही सेना को छोड़-कर ऋषि के दर्शन के लिए सब मंडली पैदल ही चल दी। वसिष्ठजी को देखते ही मुनि भरद्वाज आसन से उठकर 'शिष्यो! अर्घ्य! अर्घ्य! कहते हुए आगे को दौड़े। उन्होंने यथाशास्त्र वसिष्ठजी और भरतजी का अर्घ्योपचार से सत्कार करके, उन्हें आसन पर बैठाया। वसिष्ठजी ने शरीर, अग्नि, शिष्य, वृक्ष, मृग, पक्षी इत्यादि विषयक क्रमानुसार भरद्वाज मुनि से कुशल पूंछी। कुशल वर्तमान कहकर भरद्वाज ऋषि भरतजी से पूछने लगे. "भरत, तुन्हें राज्य मिलने पर भी उसे छोड़कर तुम यहाँ क्यों आये इसका कारण मुझे कहो और मेरी शंका का निवारण करो।" यह सुनकर भरतजी दुखित होकर बोले, "भगवन्, यदि आप ही मेरे विषय में शंकित हों तो मेरे समान हतभागी कोई नहीं है। आप मुझे दोषी न बनाइए। मेरे लिए मेरी माता ने जो षड्यंत्र रचा है, उससे मैं बिलकुल सहमत नहीं हूँ। मैं उससे संतुष्ट नहीं हूं और न मैंने उसके वचन को ही पाला है, इसीसे मैं पुरुष व्याघ्र श्रीरामचंद्रजी को लौटा ले जाने के प्रीत्यर्थ यहाँ पर आया हूँ। मैं उनके पैरों पर गिर कर उन्हें प्रसन्न कर के वापिस ले जाऊंगा।" जब ऋषि वसिष्ठ जी ने भी भरतजी के कथन का समर्थन किया तब भरद्वाज ऋषि बोले, "जिस रघु-कुल में तुमने जन्म लिया है, उस वंश के योग्य ही तुम्हारा

आचरण है। तुम्हारी बड़ों के विषय में भक्ति अपनी तृष्णा का नियमन तथा साधुओं का अनुकरण करने की इच्छा स्पष्ट देख पड़ती है। तुम पर पहले ही से मेरा विश्वास था और अब तो वह और भी अधिक दृढ़ हो गया है। मेरी इच्छा तुम्हारा यथायोग्य सत्कार करने की है; अतः आज के दिन तुम यहां पर रहो। श्रीरामजी चित्रकूट में रहते हैं; अतः वहाँ पर कल जाओ।" तब सब लोगों ने ऋषि की आज्ञा मान ली। अनंतर ऋषि भरद्वाजजी ने अपने तप के प्रभाव से नई सृष्टि निर्माण की। रत्न जटित और सुवर्णादि धातु से जड़ित राजमहल निर्माण किये। सुंदर उद्यान, स्पृहणीय जल से भरे हुए जलाशय और उत्तमोत्तम पकवानों से भरे हुए रसोई घर उत्पन्न कर के सभी को यथायोग्य आसन, आच्छादन और रहने के लिए स्थान दे कर मंत्री पुरोहित, राज माता और सारी सेना सहित भरतजी को भोज दिया। दिव्य कनक पात्रों में दिव्यान्न रस परोसे गये। उस दिन की वह मिहमानी केवल अप्रतिम थी। उन व्यंजनों में वह मधुरता और स्वाद था जो पहले किसी ने कभी अपने जीवन में नहीं अनुभव किया था। एक विशाल सभा-भवन भी बनाया गया जिसमें सबको निमन्त्रित पुष्प हारादि से विभूषित किया गया। वहाँ पर एक राज सिंहासन भी रखा हुआ था। पर, भरतजी उस पर नहीं बैठे। उन्होंने उसको परिक्रमा करके राजा के चँवर उठा लिये और सचिव-स्थान पर बैठकर छत्रपान का स्वीकार किया! यह देख कर सब के अन्तःकरण गद्गद् हो गये और उनका आँखों से प्रेमाश्रु निकल पड़े। अस्तु, इस प्रकार भोजनादि आदर-सत्कार हो जाने पर सब लोगों ने वह रात उस प्रासाद ही में बिताई। प्रातःकाल होते ही भरतजी ने ऋषि

भरद्वाज के चरणों पर गिर कर उनके दिव्य आतिथ्य के लिए कृतज्ञता प्रदर्शित करके यों प्रार्थना की:—"भगवन् मैं श्रीरामचन्द्रजी को वापिस लाने के लिए जा रहा हूँ और आपके कृपा-कटाक्ष का इच्छुक हूँ।" अनंतर कौशल्यादि स्त्रियाँ भी भरद्वाज के दर्शनों के लिए आईं और उन्होंने शिर नवाँये। ऋषि के पूँछने पर भरतजी ने सभी माताओं का परिचय कराया और अपनी माता के विषय में अनेक निंदायुक्त वचन कहे। तब भरद्वाज बोले, "भरत, तुम अपनी माता की निन्दा न करो। उन्होंने तो श्रीरामजी को वन को भेज कर जगत का बड़ा उपकार किया है। राम के वनवास से अवश्य ही सारी सृष्टि का कल्याण होगा।" भरतजी को चित्रकूट का मार्ग बतला कर भरद्वाज ऋषि अपने आश्रम को लौट गये। (अयो० ८९—९२)

ऋषि का बताया हुआ मार्ग आक्रमण कर के भरतजी अपनी सेना सहित चित्रकूट पर्वत के निकट जा पहुँचे। उस वन की अपूर्व शोभा और रम्य मंदाकिनी को देखकर, तथा यह जान कर कि यही चित्रकूट है, अपनी सेना को वहीं पर रहने की आज्ञा दे, वे आगे बढ़े। एक स्थान पर धुआँ निकलता हुआ दिखाई दे रहा था, अतः उसीको श्रीरामजी की पर्णकुटि जानकर वे शत्रुघ्न सहित बड़ी उत्सुकता से उसी ओर चल पड़े और शीघ्र ही आश्रम के सन्मुख जा पहुँचे। उधर श्रीरामचंद्र नित्य-नियमानुसार अपने आश्रम के ऊंचे स्थान पर से सीता जी को रिझाने और अपने चित्त का समाधान करने के लिए सीताजी को बन और पर्वत की शोभा बतला रहे थे। श्रीरामचंद्रजी बोले:—"सीताजी, इस बन-श्री की शोभा को देख कर मुझे बन के किसी दुख का अनुभव नहीं

होता। नाना धातुओं से युक्त इस पर्वत के उन ऊंचे भागों को देखो? यहाँ पर अनेक प्रकार के पुष्प और फलों से युक्त वृक्ष हैं। वह देखो, झरनों से पानी के मंद-मंद बहने के कारण ये पर्वत के टीले मद टपकने वाले हाथियों के सदृश दिखाई दे रहे हैं। सीता, इस बन में वर्षों तक रहने पर भी मुझे अयोध्या का स्मरण नहीं होगा। तब पर्वत से मंदाकिनी की ओर अपनी दृष्टि घुमाकर श्रीरामचंद्रजी बोले, "मंदाकिनी नदी को देखो। हंस सारसादि से युक्त इसका वालुकामय तट कैसा सुहावना दिखाई देता है! स्थान-स्थान पर हिरनों के झुंड पानी पी रहे हैं; कहीं कोई नदी-तट पर सूर्य देव की ओर मुँह किये तप कर रहे हैं; नदी के परिवर्ती पर्वत पर के घने वृक्ष जब वायु से हिलने लगते हैं तब ऐसा मालूम होता है मानों पर्वत ही मोर के सदृश नाच रहा है! चक्रवाक पक्षियों के मधुर शब्द भी सुन पड़ते हैं। सीताजी, इस चित्रकूट पर्वत और मंदाकिनि के पवित्र दर्शन के आगे मुझे नागरिक जीवन तुच्छ जान पडता है।" इस तरह वे बातें कर रहे थे कि इतने में उन्हें अनेक मनुष्यों का समुदाय दिखाई दिया। और वे आश्चर्य चकित हो कर लक्ष्मणजी से बोले, "लक्ष्मण, यह तो भरत की ही सेना दीख पड़ती है।' तब लक्ष्मणजी ने उस सैनिक दल को देख कर बड़े त्वेष से श्रीरामजी से कहा, "क्या भरत अयोध्या के राज्य को हड़प कर अब हमें मारने के लिए सेना लेकर यहाँ चढ़ाई करके आया है? निस्सन्देह भरत बड़ा कपटी जान पड़ता है। अब वह हमारा शत्रु तो हो ही चुका है; अतः उसका वध ही करना सर्वथा योग्य है। लक्ष्मणजी के उस रुद्र रूप को देखकर श्रीरामचंद्रजी बोले, "लक्ष्मण, भरत

को राज्य देने की प्रतिज्ञा कर लेने पर अब उसे मार डालने से हमारा क्या लाभ होगा ? और यदि भरत का बध करके राज्य संपादन कर भी लिया जावे तो क्या भरत या तुम्हारे बिना वह राज्य-मुझे प्रिय लगेगा ? आग में जले वह सुख जिसकी कीमत तुम्हारा या भरत का जीवन-बलिदान हो। लक्ष्मण, मेरा तो विश्वास है कि भरत निष्पापी है, भ्रातृ-वत्सल है, वह कुल-धर्म को कभी न छोड़ेगा। मुझे तो अपने प्राणों से भी भरत अधिक प्यारा है। संभवतः वह मुझे बन से लौटा ले जाने के लिए ही आ रहा हो। इसमें बिलकुल संदेह नहीं कि वह शोकाकुल हो कर ही आ रहा है; अतः देखना तुम उसे कोई निठुर और अप्रिय बात न कहना। उसके साथ किये हुए बर्ताव को मैं अपने साथ ही किया हुआ जानूंगा।" उसे एक भी अप्रिय और अनुचित शब्द कहोगे तो मुझे असीम दुःख होगा। श्रीरामचंद्रजी के ये शब्द सुनते ही लक्ष्मणजी अत्यंत लज्जित हुए। इनकी सांत्वना करके श्रीराम बोले, "लक्ष्मण, संभवतः वह हमको दुखी जान कर ही नगर को पुनः लौटा ले जाने के लिये यहाँ पर आ रहा है अथवा सुख में रहने के योग्य मेरी प्रिया सीता को ही मेरे पिता बहुधा अयोध्या जी को वापिस ले जाने के लिए आ रहे हैं। वह देखो, वृद्ध पिताजी का शत्रुञ्जय नामक प्रचंड हाथी सब से आगे चल रहा है। पर, उस के साथ पिताजी का सर्वविश्रुत दिव्य श्वेत छत्र कहीं क्यों नहीं दिखाई देता ? मुझे भय हो रहा है कि कहीं कुछ विपरीत तो नहीं हुआ !" इस प्रकार संभाषण करते हुए और लक्ष्मण तथा सीताजी की सांत्वना करते हुए श्रीरामचंद्रजी उटज के द्वार पर बैठे हुए थे। वही जटाधारी, कृष्णाजिन ओढ़ी हुई, वल्कल परिधान

की हुई, सिंह के सदृश सुहावने स्कंधों वाली, श्रीराम की कमल नयन दिव्य मूर्ति भरतजी को दिखाई दी। उन्हें देखते ही दुःख और मोह ग्रस्त भरतजी दौड़े और 'आर्य' कह कर श्रीराम के चरणों में मूर्च्छित हो गिर पड़े। उन्हें देखते ही श्रीरामजी की आँखों से भी आँसू बहने लगे। उन्होंने भरतजी को उठा कर अपनी गोद में बैठाया और उनके मस्तक को वत्सलता पूर्वक आघ्राण कर के बड़े प्रेमार्द्र स्वर से पूँछा, "भाई हमारे पिता जी कहाँ हैं और तुम आज इस वन में कैसे ? यदि पिता जी जीवित होते तो वे तुम्हें यहाँ पर कभी न आने देते। भाई बहुत दिनों से बहुत दूर इस वन में यहाँ आज तुमसे भेंट हुई है। अरे, इस दुर्गम अरण्य में व्यर्थ ही तुम क्यों आये ? कहीं पिताजी सचमुच तो परलोकवासी नहीं हो गये ? या तुम्हें अज्ञान देख कर किसीने तुम्हारा राज्य तो नहीं छीन लिया ? भरत, पिताजी की सेवा टहल तो अच्छी तरह से करते हो न ? महर्षि वसिष्ठ की आज्ञा का पालन भी उसी तरह का करते हो न ? पर यह क्या ? तुम जटा वल्कल क्यों धारण किये हो ? कहो भाई, झट झट सारा हाल कहे जाओ !" भरतजी ने हाथ जोड़ कर कहा, "आर्य, मेरी माता के आग्रह से दुष्कर कर्म करके पूज्य पिताजी तो पुत्रशोक से स्वर्ग को चल दिये ! और वह महत् पाप करने वाली मेरी माता अपने कर्म फल को न पा कर विधवा मात्र हो गई है। केवल इतना ही नहीं वरन् वह तो निःसन्देह घोर नरक में गिरेगी। आर्य, मुझ पर कृपा करो; मैं आपका दास हूँ। आप अपना राज सँभालिए। राज्याभिषेक की सारी सामग्री मैं अपने साथ यहाँ पर लाया हूँ; अतः आप आज

ही यहाँ पर राज्याभिषेक करा लीजिए। राज्य के सभी मंत्री और मेरी सभी माताएँ भी यहाँ पर आई हुई हैं। उन सब पर कृपा कीजिए। आप सब से ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हैं। आपको ही राज करना उचित है; अतः उसका स्वीकार करके हम सब सुहृदजनों के मनोरथ पूर्ण कीजिए।" यों कहकर भरतजी ने, रुदन करते हुए, श्रीरामचन्द्रजी के चरण पकड़ लिये। तब उन्होंने भरतजी को अपने हृदय से लगाकर कहा, "भरत, तुम पाप रहित हो; तुम्हारा कोई दोष नहीं और तुम अपनी माता को भी दोषी न ठहराओ। क्योंकि माता-पिता तो अपने पुत्र के स्वामी हैं। जैसे पिता गौरवास्पद होते हैं, वैसी ही माता भी है। माता पिता ने मुझे वन को जाने की आज्ञा दी है; अतः मुझे उसका पालन करना ही होगा। और, तुम्हें उन्होंने अयोध्या का राज्य दिया है, इसलिये तुम्हें भी उसका स्वीकार करना चाहिए। आज्ञा देकर के पिताजी तो स्वर्ग को चले गये; अतः मैं उससे अपना मुँह कैसे मोड़ूं? पिताजी के विना तो अयोध्या नगरी मुझे शून्यवत् हो गई; अतः उसे लेकर मैं अभागा क्या करूंगा? महाराज तो मेरे शोक से चल बसे, अंत समय मैं उनके दर्शन भी न कर सका; मैं कैसा अभागा हूँ? भरत-शत्रुघ्न तुम दोनों धन्य हो, जो तुमने अपने पूज्य पिताजी का प्रेत संस्कार करके उनका अंतिम सत्कार कर दिया। चौदह वर्ष बन में रह करके अयोध्या को वापिस लौटने पर मुझे अब उपदेश की बातें कौन कहेगा?" यों कह कर सीताजी के पास जा श्रीरामचन्द्रजी शोक-संतप्त हो कर बोलेः—"सीता, तुम्हारे श्वसुर स्वर्ग को चले गये। भाई लक्ष्मण, पिताजी का देहान्त हो गया। भरत भैया महाराज के

परलोक गमन के कष्टप्रद समाचार लाये हैं।" श्रीरामजी के वाक्यों को सुनते ही सबकी आँखों से अश्रधारा बहने लगीं। आँसू उमड़ आने के कारण बेचारी सीताजी को तो कुछ भी नहीं देख पड़ता था। अंत में श्रीरामजी ने सबको समझा कर लक्ष्मणजी से कहा, "लक्ष्मण, शीघ्र ही इंगुदी (हिंगोट) के टुकड़े और मेरे उत्तरीय वल्कल ले आओ। हमें नदी पर चलकर पिताजी को जलांजलि देनी चाहिए। यह दारुण मार्ग तो पहले ही से चला आया है।" इस प्रकार अत्यन्त शोक मग्न हो वे तीनों मंदाकिनी के तीर पर गये। और श्रीरामचन्द्रजी ने राजा दशरथ को इंगुदी के पिंड अर्पण किये। उन्होंने आँसू भरे नयनों से कहा, "मनुष्य जो अन्न खाता है, वही देवतादि को भी अर्पण करता है। अतः महाराज आज मैं आपको इंगुदी के ही पिंड देता हूँ। इन्हें ग्रहण कीजिए।" श्राद्ध-कर्म से निवृत्त हो कर वे अपने आश्रम को लौटे। तब श्रीरामचन्द्रजी भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न को अपने हृदय से लगाकर मुक्त कंठ से रोने लगे। इन्हें देखकर उन तीनों का शोक भी उमड़ आया और उन पुरुष सिंहों के शोक का आवाज़ गिरि कंदराओं में गूंज उठा। उस आर्तनाद को सुनकर राम-दर्शन को निकले हुए सुमंत्रादि अमात्य और पौरजन शीघ्र ही दौड़ पड़े और आश्रम के द्वार पर श्रीरामचन्द्रजी को देखकर वे भी रो पड़े। श्रीरामचन्द्रजी ने उन सब को समझा बुझाकर और आलिंगन देकर यथायोग्य सत्कार किया। इतने में राजमाताएँ वसिष्ठादि सहित वहाँ पर आ पहुँचीं। वल्कलाजिन धारण करने वाले श्रीराजचन्द्रजी को उस उटज-द्वार पर देख कर सबकी आँखों से आँसू बहने लगे। श्रीरामचन्द्रजी

ने सब को प्रत्युत्थापन देकर अपनी सभी माताओं के क्रमशः चरण छूये और उन सब ने अपने मृदुस्पर्श करों से उनकी पीठ पर हाथ फेरा। श्रीरामजी के पश्चात् लक्ष्मण और सीताजी ने भी माताओं का वंदन किया। सीताजी को अपने सामने खड़ी देख कर कौशल्याजी ने उन्हें अपने हृदय से लगाकर कहा, "सीताजी, तुम्हारे इस कृश बदन को देखकर मैं बहुत दुःखी हूँ।" इतने में श्रीरामचन्द्रजी ने वसिष्ट महर्षि के चरणों पर अपना सिर नंवाया और लक्ष्मण तथा सीताजी ने भी उनके चरणों को छू कर वंदन किया। अनंतर माता पुत्र, गुरु शिष्य, सास बहू, भाई भाई और राजा प्रजा सभी एक जगह बैठकर श्रीराम और दशरथ के गुणानुवाद गाने लगे। राजा के विषय में शोक करते और श्रीरामजी के गुण गाते हुए कब रात बीत गई, इसीका किसी को ध्यान न रहा। (अयो० स० ९३–१०४)

प्रातः काल होते ही सब लोग स्नानादि नित्य कर्मों से निवृत्त हो कर रामाश्रम के निकट आ बैठे। कुछ देर तक कोई कुछ भी न बोल सका। सभी अपने-अपने मन में दुःखित हो विचार कर रहे थे। अन्त में भरतजी बोले, 'महाराज, पिताजी ने मेरी माता का समाधन करने के लिए मुझे राज्य दिया और अब मैं आपको सौंपता हूँ। आप इस राज्य का निष्कंटक उपभोग करें। यह सारी प्रजा आपको राज-सिंहासन पर आसीन देख कर संतुष्ट होगी।" भरतजी के उक्त वाक्यों को सुन कर सब लोगों ने 'साधु! साधु!' कह कर उनकी बड़ी प्रशंसा की। श्रीरामचंद्रजी ने शांति पूर्वक भरतजी का सांत्वन करते हुए कहा, "भाई, यद्यपि मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार काम काज कर सकता है, तथापि उसकी अपने-

ऊपर कुछ भी सत्ता नहीं हैं। क्यों कि, भाग्य की लीलाएँ कई बार उसकी इच्छा के विरुद्ध ही होती हैं। सभी चीजें नाशवती है। अर्थात् संचय का व्यय अवश्य ही होता हैं, जो ऊंचा चढ़ता है, वह गिरता भी है। संयोग के अनंतर वियोग और जीवन के अनंतर मृत्यु निश्चय ही है। फल उत्पन्न होता है पकता है और अंत में वृक्ष गिर पड़ता है। उसी प्रकार मनुष्य की मृत्यु भी निश्चित है। जो रात बीत जाती है, वह लौट कर नहीं आती। समुद्र पानी से भरा है, तो भी उसमें मिलने वाला यमुनाजी का पानी फिर से लौट कर नहीं आता। इस अपरिहार्य दशा में नदी के प्रवाह के सदृश मनुष्य का जीवन बीतता जाता है, वह लौट कर नहीं आता। काल भाग्य और कर्मचक्र पर ध्यान दे कर मनुष्य को सदा सर्वदा अपनी आत्मा को सुखी बनाना चाहिए। सभी प्राणियों को सुख की अत्यंत आवश्यकता हुआ करती है। सारांश; जो स्थिति प्राप्त हुई है, उसके विषय में तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए। स्वस्थ हो जाओ, और हमारे आत्म-संयमी पिताजी ने जो आज्ञा दी है, उसके अनुसार अयोध्या को वापिस लौट कर राज काज सँभालो। पिताजी की आज्ञा के अनुसार मुझे भी अपना बर्ताव रखना चाहिए। हम दोनों को पिताजी की आज्ञा का पालन करना चाहिए। प्रत्येक स्वर्गेच्छुक मनुष्य को स्वधर्म के अनुसार नृशंसता को छोड़ कर, गुरुजनों की आज्ञा का पालन करना ही योग्य है।" श्रीरामचंद्रजी के उत्तर को सुन कर भरतजी ने फिर से प्रार्थना की:—"महाराज, आप सत्य-प्रतिज्ञ, बुद्धिमान और देवता के सदृश स्वशील हैं। पर मेरी अनुपस्थिति में मेरी माता ने मेरे लिए जो कुछ किया है, वह मुझे बिलकुल

मान्य नहीं है। मैं विवश हूँ। वह मेरी माता है, इसलिए मैं धार्मिक लौकिक बचनों से बँधा हुआ हूँ। अन्यथा इस दुष्टा पापकारिणी को मैंने कर्म का तीव्र दंड दे दिया होता। महाराजा दशरथ जी को भी मैं दोष नहीं दे सकता, क्यों कि वे वृद्ध और क्रियाशील, मेरे गुरु, मेरे पिता, मेरे स्वामी तथा मेरे लिए पूज्य देवता के सदृश थे; अतः मैं उन्हें कैसे दोषी बना सकता हूँ? पर, मृत्यु के समय मनुष्य की बुद्धि बिगड़ जाती है; इस कहावत को उन्हों ने आपको बन में भेज कर सत्य कर दिखाया है। अस्तु पर, पिता की गलती को दुरुस्त करना पुत्र का परम धर्म है, और इसीलिए पुत्र अपत्य अर्थात् 'पिता को पतन से बचाने वाला कहलाता है। इसलिए आप हम सब की प्रार्थना को स्वीकार कर-के जो कुछ अन्याय हुआ हो उसे दूर कर राज्य की रक्षा कीजिए। आपके क्षत्रियत्व को अरण्य शोभा नहीं देता। आपके प्रजा-पालन धर्म को ये जटायें शोभा नहीं देतीं। इस लिये आप अनुचित कार्य न कीजिए। मैं आपकी अपेक्षा विद्या, आयु और योग्यता में छोटा हूँ। आपके होते हुए मैं राज-सिंहासन पर कैसे बैठूं? महाराज, मेरे और मेरी माता के कलंक को मिटाना अब आपके अधीन है। पिताजी को भी पाप के भागी होने से बचाइए। मैं आपके चरणों में शिर नवाता हूँ। मुझ पर कृपा कीजिए। और यदि आप मेरी प्रार्थना को अस्वीकार कर बन को ही जाना चाहें तो मैं भी आपके साथ चलने के लिए तैयार हूँ।" यह कह कर भरतजी रोने लगे और उन्होंने श्रीरामचंद्रजी के चरणों पर साष्टांग दंडवत किया! तब श्रीराम सब लोगों के सामने भरतजी को पुनः समझाने लगे:—"भरत, जिस समय महाराजा

दशरथ ने तुम्हारी माता के साथ विवाह किया, उस समय तुम्हारे मातामह नाना-अर्थात् अश्वपति को सारा राज्य शुल्क अर्थात् कन्याक्रय के रूप में दिया है। इसके अतिरिक्त जब देवासुर युद्ध हुआ था, तब दशरथजी ने तुम्हारी माता को, प्राण-रक्षा के बदले, दो वर दिये थे। वे ही अब उन्होंने माँग कर मुझे बन को भेजा और तुम्हें यौवराज्य पद दिलाया। ऐसी दशा में बड़ों को दोष देना उचित नहीं है। अपने बचन को सत्य सिद्ध करने के लिए उन्होंने अपने प्राण तक छोड़ दिये। इसीलिए यदि अब तुम्हें भी पिताजी की प्रतिज्ञा को पूरी करनी हो तो शीघ्र ही अपना राज्याभिषेक करा लो। मैं भी पिताजी के बचनों को पालने के लिए चौदह वर्ष तक बन में रहने का निश्चय करके ही यहाँ पर आया हूँ। पिता के वचन को पालना पुत्र का परम धर्म है। "श्रीराम चन्द्रजी के इन वचनों को सुनकर सब चुप हो गये—कोई कुछ भी न बोल सका। तब जाबालि ऋषि यों ही नास्तिक बन कर बोले "अरे भाई पिता कौन और पुत्र कौन? ये सारे सम्बन्ध तो केवल नाम-मात्र के हैं। भला बताइए तो कि पिता की प्रतिज्ञा पुत्र पर क्यों बाध्य होनी-चाहिये? देखो, ये श्राद्धादि क्या है? द्रव्य लोलुप ब्राह्मणों को द्रव्य देने के लिये बनाये पाखंड जाल। अन्यथा पिता की मृत्यु हो जाने पर अर्थात् उसके पंचमहाभूतों में मिल जाने पर उसे पिंड किस तरह पहुँच सकते हैं? भाइयो यदि मृत्यु-लोक में पिता के प्रीत्यर्थ समर्पण किये हुए पिंड पिता को स्वर्ग में पहुँच जाते जाते हैं। तो वे ही, इसी लोक में पिता के किसी दूसरे गांव को चले जाने पर अर्पण करने पर उसे क्यों नहीं मिल जाते? असल बात यह है कि पिता-पुत्र-भाई-बंद आदि

सारी बातें केवल ढोंग-धतूरा हैं। जो सामने आया उसका आनंद के साथ उपयोग किया और ग्रहण करने में कोई हानि नहीं। भरत, तुम्हें बड़े आनंद से राजपाट सौंप रहा हैं; पिता के बचनों की परवाह न करके तुम उसका सुखपूर्वक स्वीकार करो।" जाबालि की उक्त नास्तिकता भरी बातें सुनकर श्रीरामजी ने अत्यंत बिगड़ कर उत्तर दिया, "ऋषि वर, मुझे सत्य सब से अधिक प्यारा है। सत्य की बराबरी कोई नहीं कर सकता। विशेष कर राजा को तो सत्य का अवश्य ही पालन करना चाहिए, क्यों कि राज्य रूपी भवन-तो सत्य की नींव पर ही खड़ा होता हैं। जिस प्रकार राजा का बर्ताव होता है, उसी प्रकार प्रजा भी अपना आचरण रखती है। यदि राजा ही सत्य को छोड़ दे तो प्रजा भी उसको क्यों मानने लगेगी ? फिर तो सभी लोग मिथ्या-वृत्ति हो जायँगे। मैं सत्य से अपना मुँह कभी नहीं मोड़ सकता। जो मनुष्य असत्य भाषण करता है, उससे लोग पापी की तरह, घृणा करते हैं। सत्य ही सब धर्मों का आधार है। सत्यव्रत पालन ही से भूमि, कीर्ति, लक्ष्मी आदि सभी बातें मनुष्य को मिलती हैं। लोभ अथवा मोह के वश हो कर मैं सत्य मार्ग को कभी न छोड़ूंगा, बल्कि कैकेयी के सामने राजा को दिये वचन के अनुसार चौदह वर्ष बन में बिताऊंगा और फिर अयोध्या को वापिस आकर राजपाट सँभाळूंगा। भरत शमशील और गुरुजनों का आदर करने वाले है; अतः वे पिता की प्रतिज्ञा को अवश्य ही पूरी करेंगे। इस प्रकार उन दोनों उदार राजपुत्रों का निर्लोभ और तेजस्वी चरित्र देख कर सब लोग "धन्य धन्य' कह कर पुलकित हो उठे। भरतजी ने श्रीरामजी के उक्त निश्चयात्मक-उदगार सुनकर कहा "आर्य मैं अकेला राजपाट कैसे

संभाल सकता हूँ ? आप ज्येष्ठ और समर्थ हैं; अतः आपको ही उसका स्वीकार करना चाहिए" और श्रीरामजी के चरण पकड़ लिए तथा राम आर्य, प्रिय आदि शब्दों से उन्हें बहुत कुछ समझाया। अंत में श्रीरामजी ने भरतजी को अपनी गोद में बैठाकर समझाते हुए कहा,—"चाहे चन्द्रमा की शोभा नष्ट हो जाय हिमालय का बर्फ सूख जाय और समुद्र अपनी मर्यादा को छोड़ दे, तो भी मैं पिता की प्रतिज्ञा का भंग नहीं कर सकता।" तब भरतजी निरुत्तर होकर बोले, "महाराज यदि ऐसा ही है तो आपके नाम पर मैं चौदह वर्ष तक राज्य का काम देखूँगा, इन पादुकाओं पर अपने चरण रखकर मुझे दे दीजिए। वे ही सब लोगों का कल्याण करेंगी।" यों कहकर और उन्हें पादुकाएँ पहिना कर भरतजी ने वे उठा लीं, और प्रतिज्ञा करके कहा, "महाराज, इन चरण पादुकाओं को ले कर उन्हींके नाम पर मैं राज्य का शासन करूँगा। अयोध्या के बाहर रहकर और जटा, बल्कल धारण करके मैं चौदहवर्ष तक आपकी राह देखता रहूँगा, और चौदह वर्ष हो जाने के अनन्तर भी यदि आप वापिस न लौटेंगे, तो मैं अपने आपको चिता में जला दूँगा। तब श्रीराम ने भरतजी को हृदय से लगा कर कहा:—"भरत, मैं चौदह वर्ष के बाद अवश्य ही वापिस लौटूँगा। तुम चिंता न करो। शत्रुघ्न तुम भी वापिस लौट जाओ।" फिर से श्रीरामजी ने भरत से कहा,—"भरत, माता कैकेयी की यथायोग्य सेवा करना, उन्हें दोष न लगाना। तुम्हें मेरी और सीताजी की शपथ है। यों कह कर अश्रु-पूर्ण नयनों से श्रीरामजी ने सबको विदा किया। वसिष्ठ ऋषि के चरणों पर शिर नवाँकर उन्हें, तथा मंत्री-जन एवं प्रजा का

योग्यतानुरूप सत्कार करके सबको बिदा दी। फिर भरतजी ने चरण पादुका हाथ में ले कर श्रीरामजी की परिक्रमा की। अपनी प्रतिज्ञा का उन्हें फिर से एक बार स्मरण दिलाकर उनकी वंदना की और अंतिम बिदा माँगी। श्रीराम माताओं को विदा नहीं दे सकते थे। पर, उन्होंने बड़े कष्ट से रुदन करते हुए उनके चरणों पर शिर नवाया। वह दृश्य उनके लिए असह्य था, अतः उन्होंने अपनी आँखों को ढाँक करके आश्रम में प्रवेश किया। (अयो० स० १०५)

भरतजी सेना सहित वापिस लौटे और भरद्वाजाश्रम को पहुँचे, ऋषिवर को सारे समाचार कहे और गंगा को पार करके शृंगवेरपुर पहुँचे। अनन्तर गुह से विदा माँगकर और अयोध्या को पहुँचकर उन्होंने अपनी माताओं को यथापूर्व नगर में रख दिया। उन्हें सारी नगरी उदासीन देख पड़ती थी। राम के बिना लोग भी बड़े दुखी थे; अतः उस निरानन्द नगरी को छोड़ कर वे नंदिग्राम में रहने लगे। वहीं पर श्रीरामचंद्रजी की चरणपादुकाओं को राज्याभिषेक कराके उनके नाम पर पादुकाओं को सारी बातें निवेदन करके राज्यकार्य देखने लगे। उधर श्रीरामचन्द्रजी का भी दिल चित्रकूट से उचट गया। "लक्ष्मण यहाँ पर मुझे भरत मिले, वहाँ माताजी मिलीं। इस प्रकार स्थान-स्थान की स्मृति जागृति हो कर मुझे बहुत दुःख होता है। इसके अतिरिक्त हाथी, घोड़े, रथ इत्यादि सेना ने इस वन का बहुत उच्छेद कर डाला है। इसलिए मेरी यही इच्छा है कि मैं इस वन को छोड़ दूँ।" यों कहकर श्री-रामजी वहाँ से दक्षिण की ओर चल पड़े और सबसे पहले अत्रि महर्षि के आश्रम को पहुँचे। महर्षि अत्रि और उनकी वृद्धा पति-व्रता पत्नी अनसूयाजी ने उन तीनों का बड़ा आदर-सत्कार किया।

"मैं–सीता–आपके चरणों को छूती हूं" कहकर सीताजी ने अनसूयाजी के चरणों पर अपना सिर रक्खा, तब उन्होंने सीताजी के शरीर पर बड़े प्रेम से अपना हाथ फेरकर कहा:—"अपने जाति धर्म को छोड़कर तुम पति के साथ वन में आई हो। इसलिए सच मुच ही तुम धन्य हो। क्षात्र–धर्म का तुम्हें पूरा ज्ञान है। पति चाहे वन में ही हो या नगर में, अच्छी दशा में हो या बुरी में। जिन स्त्रियों को वह प्रिय होता है, वह अच्छी गति को पाती हैं। पति के दुःशील कामवृत्त अथवा धनहीन होने पर भी आर्य-स्त्रियाँ उसे देवता के सदृश ही पूजती हैं। सीताजी, तुम्हें देखकर मेरे मन में बहुत प्रेम-भाव उमड़ आया है। मैं अपने तप के प्रभाव से तुम्हें कुछ वस्तुएँ देती हूँ। यों कहकर उन्होंने दिव्य राग, दिव्य माला, दिव्य वस्त्र और दिव्य अलंकार सीताजी को दिये। उन्हें पहिनकर और अनसूयाजी की वंदना करके वे श्रीरामचन्द्रजी के पास गई। उस समय उनके मनोहर रूप को देखकर श्रीरामचन्द्रजी अत्यंत आनन्दित हुए, वह रात वहीं पर बिताकर दूसरे दिन स्नानादि कर्मों से निवृत्त हो; तापसी जनों से बिदा मांगकर वहां चल दिये। तब तपस्वियों ने उन्हें सावधान करते हुए कहा:—"श्रीरामचन्द्रजी, इस अरण्य में राक्षस और भयंकर व्याल (अजगर) खूब हैं; अतः सदा सर्वदा बहुत सावधान रहिए। इस वन में से जाने का यह सुगम मार्ग है। आपका कल्याण होवे।" इस प्रकार उन्हें बिदा कर देने पर श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मण तथा सीताजी ने ऋषि के बतलाये हुए मार्ग से उस महारण्य में प्रवेश किया।

(अयो० स० ११३–११९)

अरण्यकांड

वन में प्रवेश करने पर श्रीरामचन्द्रजी भिन्न भिन्न ऋषियों के आश्रम को देखते देखते चले और वहाँ पर रहने वाले मुनिजनों और तपस्वियों को श्रीरामचन्द्रजी के अद्भुत सौंदर्य को देख कर बहुत आश्चर्य होता था। प्रत्यक्ष कामदेव के समान रूप-संपदा, सिंह के सदृश मजबूत शरीर और फिर भी अनुपम सुकुमारता को देखकर तो देखने वालों का मन कभी तृप्त नहीं होता था। इस प्रकार सब के मन और नेत्रों को आकर्षित करते हुए और उनके आदरातिथ्य का स्वीकार करके श्रीराम उस बन में उत्तरोत्तर आगे बढ़ते चले जाते थे। एक दिन उस घोर अरण्य में से जाते हुए उन्हें अकस्मात् एक भयंकर राक्षस दीख पड़ा। वह पर्वत के सदृश ऊँचा था, और अपना मुँह पसार कर उनकी ओर आ रहा था। उसके हाथ में एक त्रिशूल और उस त्रिशूल के सिरे पर सिंह के दो तीन मस्तक और हाथी का एक पाँव लटक रहा था। श्रीरामचन्द्रजी को देखकर वह बड़ा आनंदित हुआ। वह जोर से चिल्ला कर उनकी ओर दौड़ा और सीताजी को उठा अपनी बगल में दबाकर अट्टहास करते हुए बोला:—"अरे मूर्खों, तुम मेरे इस अरण्य में क्यों आये हो? तुम कौन हो? यह सुंदर स्त्री तो मेरे ही योग्य है; अतः यदि तुम्हें अपने प्राणों की परवाह हो तो इसे यहीं छोड़कर शीघ्र ही भाग जाओ।" तब उसके उन शब्दों को सुनकर तथा

सीताजी को भयभीत देखकर श्रीरामजी दुःखित हो कर बोले;—"कैकेयी, लो; तुमने मुझे बन को भेजा उसकी सार्थकता आज पूरी हुई! यह बेचारी सीता व्यर्थ ही मेरे साथ आई और दुःख-सागर में गिरी। यह कहकर और फिर बड़े क्रोध से गरज कर वे राक्षस से बोले:—"अरे दुष्ट! तू उसे छोड़ दे, नहीं तो तुझे अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा। मैं राजा दशरथ का पुत्र रामचन्द्र हूँ, और अपने पिता की आज्ञा से बन में आया हुआ हूँ। मैं तुझसे नहीं डरूँगा। तू मेरी प्रिय पत्नी को छोड़ दे।" श्रीरामचन्द्रजी के उक्त उद्गार को सुनकर वह राक्षस बोला:—"अरे मूर्खों, जान पड़ता है कि तुमने मुझे अभी तक नहीं पहचाना मैं विराध राक्षस हूँ। मुझे स्वयं ब्रह्माजी के वर के कारण किसी भी शस्त्र के द्वारा मृत्यु का भय नहीं है तुम्हारा घमंड करना व्यर्थ है। इसलिए अब पहले तुम्हारे ही रक्त को पी कर फिर मैं उसे अपनी पत्नी बनाऊँगा।" यों कहकर, सीताजी को नीचे छोड़कर और हाथ में शूल लेकर वह श्रीराम लक्ष्मण की ओर दौड़ा। तब श्रीरामजी ने अपने बाण से उस त्रिशूल को तोड़ डाला, पर उसके शरीर पर जितने बाण छोड़े, वे सब विफल हुए। तब विराध उन दोनों को अपने हाथों से ऊँचा उठाकर इधर-उधर दौड़ने लगा। यह देख बेचारी सीताजी चिल्लाकर बोलीं:—"अरे राक्षस खाना हो तो ले मुझी को खा ले पर उन दोनों को तो छोड़ दे।" यों कहकर वे भी उसके पीछे दौड़ने लगीं। तब राम लक्ष्मणजी ने सीताजी के आक्रोश को सुनकर शीघ्र ही अपने दोनों खड्गों से उस राक्षस की भुजाएँ काट डालीं। और उसके पाँवों पर भी बहुत से प्रहार किये। तब वह प्रचंड राक्षस

पृथ्वी पर गिर पड़ा। फिर उससे मुक्ति पाकर उन्होंने उसके शरीर पर अनेक प्रहार किये, पर फिर भी उसकी मृत्यु नहीं हुई। यह देखकर श्रीरामचन्द्रजी बोले:—"लक्ष्मण, अरे हम ही भूले, अभी तो इसने हमें अपने ही मुँह से कहा था कि वह किसी भी शस्त्र से नहीं मरेगा; इसलिए इसे मारने की एक युक्ति सोची है। मैं इसे यों ही दबाएँ रखता हूँ तब तक तुम वहीं एक गढ़ा खोद लो, फिर हम उसे उसमें गाड़ देंगे।" लक्ष्मणजी ने बड़ी शीघ्रता से उस राक्षस के पास ही एक गढ़ा बनाया और फिर उसमें उस राक्षस को ढकेल दिया! उस समय वह राक्षस इतनी जोर से चिल्लाया कि सारा अरण्य काँप उठा। उसे उस गढ़े में डालते ही फौरन उन दोनों ने उस पर मिट्टी फैला दी। इस प्रकार उस भयंकर विराध राक्षस का नाश करके श्रीरामचन्द्रजी ने सीताजी को भय-मुक्त कर दिया। वे तीनों उस वन को शीघ्र ही पार करके शरभंग ऋषि के आश्रम के निकट पहुँचे। (अर० स० १४)

उस आश्रम के सामने ही उन्हें एक चमत्कार दिखाई दिया। एक दिव्य रथ पृथ्वी से कुछ ऊँचा अन्तराल में खड़ा हुआ था और जिसकी प्रभा चारों ओर फैल रही थी। रथ के घोड़े अत्यन्त सुंदर थे और उसमें स्वयं इंद्र विराजे थे, सिद्ध, गंधर्व और ऋषि भिन्न भिन्न विमानों में बैठकर चारों ओर से इन्द्र की स्तुति कर रहे थे; पचीस वर्ष की आयु वाले, अत्यन्त सुंदर, लाल वस्त्र पहिने हुए और दिव्य हार धारण किये हुए पुरुष अपने हाथों में खड्ग लेकर इन्द्र के आस पास खड़े हुए थे। उस अपूर्व दृश्य को देखकर श्रीराम बोले:—"लक्ष्मण वे घोड़े तो इन्द्र के घोड़ों की तरह ही दीख पड़ते हैं। वे सौ तरुण पुरुष देवताओं के सदृश

दिखाई देते हैं और वे विमान भी स्वर्ग लोक के मालूम होते हैं। इसलिए भाई तुम जरा यहीं पर ठहर जाओ, मैं उसका पता लगाता हूँ।" इतने में इन्द्र की सवारी, शरभंग से बिदा माँगकर, अदृश्य हो गई। तब उन्होंने शरभंग के आश्रम में जा कर महर्षि को प्रणाम किया। शरभंग ने भी बड़े प्रेम से उनका स्वागत करके कहा:—"रामचन्द्रजी, तुमने अभी देखा ही होगा कि इन्द्र देव मेरी तपस्या से संतुष्ट हो कर मुझे स्वर्ग को ले जाने के लिए स्वयं ही आये हुए थे। पर, यह सोचकर कि तुम आ रहे हो; मैंने उन्हें कह दिया कि मैं श्रीराम का आदरातिथ्य कर लेने पर आऊँगा। रामचन्द्र, तुम प्रत्यक्ष विष्णु हो। तुम्हारा आदरातिथ्य करने का अवसर मुझे बड़े भाग्य से मिला है। हाँ, अब मैं तुम्हारा आतिथ्य करके, कृतार्थ हुआ। अब तुम यहाँ से सुतीक्ष्ण के आश्रम की ओर जाओ। पर, जब तक मैं अपनी देह चिता में न जला लूं, तब तक मेरी ओर कृपा दृष्टि से देखकर फिर तुम जाओ।" यों कहकर शरभंग ने शीघ्र ही अग्नि का हवन करके अपना देह अग्नि को समर्पित किया। देखते देखते उनकी वह देह जल गई। अनन्तर वे दिव्य शरीर धारण करके ब्रह्मलोक को चले गये। और, श्रीरामचन्द्रजी उनके कथनानुसार सुतीक्ष्ण के आश्रम की ओर जाने के लिए निकल पड़े। (अर० स० ५)

किन्तु शरभंग के आश्रम पर अनेक तपस्वी और बालखिल्य मुनि श्रीरामजी से आ कर मिले और उनसे कहने लगे:—"श्रीरामजी, इस दंडकारण्य में मुनियों के बहुत से आश्रम हैं, पर उन्हें राक्षसों से अत्यन्त कष्ट पहुँच रहा है; तुम हमारे नाथ यहाँ पर आये हो, इसलिए तुम्हें हम अनाथों की रक्षा करनी

चाहिए। अब हम उन तपस्वियों की हड्डियाँ तुम्हें बतलावेंगे; जिन्हें नर-मांस भक्षी राक्षसों ने खाया है। अतः तुम हमारे साथ चलो। पंपा से लेकर चित्रकूट तक राक्षसों का बस इसी तरह ही एकसा उपद्रव है। अब तो हम सभी आपकी शरण आये हुए हैं; अतः अब आप राक्षसों से हमारी रक्षा कीजिए।" यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजी बोले:—"आप ब्राह्मण और तपोनिष्ठ हैं। अतः आप शरण आने की बात न कहें। आपकी रक्षा करना तो मेरा धर्म ही है। केवल मैं अपने ही लिए ही इस निविड़ बन में नहीं आया हूँ। पिता की आज्ञा का पालन करने के साथ ही साथ मैं आपकी भी राक्षसों से रक्षा करूँगा, जिससे मेरा यह वनवास बड़ा फलदायी होगा।" श्रीरामचन्द्रजी के वचन सुनकर तपस्वी संतुष्ट हुए और उनके साथ हो लिये और सुतीक्ष्ण के आश्रम को पहुँचे। श्रीरामचन्द्रजी ने सुतीक्ष्ण के आश्रम में प्रवेश करके महर्षि को प्रणाम किया और कहा कि शरभंगजी ने मुझे आपकी ओर भेजा है। महर्षि सुतीक्ष्ण ने अत्यन्त आदर के साथ श्रीराम, लक्ष्मण और सीताजी का स्वागत किया। उन्हें वन में उत्तमोत्तम फल खाने को दिये और वहीं पर रहने का आग्रह भी किया। तब श्रीरामचन्द्रजी ने कहा:—"मैं आप सबके समस्त आश्रम-मंडल को देखना चाहता हूँ। ये ब्राह्मण जल्दी कर रहे हैं। और मैंने राक्षसों से रक्षा करने का उन्हें वचन दे रक्खा है।" तब सुतीक्ष्ण ने श्रीरामचन्द्रजी को विदा करके सभी आश्रमों को देख लेने पर फिर अपने आश्रम को लौट आने का अनुरोध किया। तब उनकी आज्ञा को मानकर श्रीराम, लक्ष्मण और सीताजी दूसरे दिन वहाँ से चल दिये। अनन्तर ऋषियों

के साथ भिन्न भिन्न आश्रमों में, कहीं चार साल, कहीं छः साल और कहीं एक वर्ष तक रहकर श्रीरामचन्द्र ने उन्हें राक्षसों के कष्ट से हमेशा के लिए मुक्त कर दिया। इस प्रकार वन में दस वर्ष बीत गये। अनन्तर श्रीराम फिर से सुतीक्ष्ण के आश्रम को जाकर वहाँ पर भी कुछ दिवस तक रहे। फिर उन्होंने सुतीक्ष्ण से पूछाः—"अगस्त्य ऋषि का आश्रम यहां से कितनी दूर पर है ? मुझे उनके दर्शन करने की बड़ी इच्छा है।" तब सुतीक्ष्ण ने कहाः—"अगस्त्य ऋषि के बंधु का आश्रम यहां से चार योजन की दूरी पर है; अतः तुम पहले वहाँ जाकर फिर अगस्त्य ऋषि के आश्रम को जाओ।" यह सुन श्रीरामचन्द्रजी सुतीक्ष्ण से विदा माँगकर वहाँ से चल दिये। (अर० स० ६—११)

सुतीक्ष्ण के बतलाये अनुसार मार्ग-क्रमण करते हुए संध्या के समय श्रीरामजी लक्ष्मणजी से बोलेः—"लक्ष्मण, सुतीक्ष्ण के कथनानुसार ये सहस्रों वृक्ष, फल और पुष्पों के बोझ से लदकर, पृथ्वी की ओर झुक गये हैं। उसी प्रकार इस वन में पके हुए पिंपली फल की कड़वी गंध भी आ रही है। स्थान-स्थान पर कटी हुई लकड़ियों के ढेर भी लगे हैं और दर्भ के गट्ठ भी रक्खे हैं। इस वन के मध्यभाग में से काले बादलों की तरह धुँआ निकलता हुआ दिखाई दे रहा है। यह देखो, इस एकांत स्थान के जलाशय में ब्राह्मण स्नान करके अपने ही द्वारा इकट्ठे किये हुए फलों का सेवन कर रहे हैं। वृक्षों की पत्तियां भी गीली दिखाई देती हैं। देखो तो, ये मृग और पक्षी भी कितने निडर दीख पड़ते हैं ? इससे मालूम होता है कि इस स्थान के आसपास ही कहीं पर अगस्त्य ऋषि के बंधु का आश्रम होगा।" वे इस

प्रकार बातें कर ही रहे थे कि इतने में उन्हें श्रान्तों की थकावट को मिटाने वाला वह आश्रम भी दिखाई दिया। श्रीरामचन्द्रजी ने आश्रम में प्रवेश करके ऋषि के दर्शन किये। ऋषि ने भी उनका अच्छी तरह से सत्कार किया। अनन्तर उस दिन वहीं पर रहकर दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही वे अगस्त्य ऋषि के बंधु से विदा मांगकर, उनके बतलाये मार्ग से, चल दिये। मार्ग में श्रीरामजी ने लक्ष्मणजी से अगस्त्य ऋषि का परिचय देते हुए कहा:—अगस्त्यजी ने आर्यों पर महान् उपकार किये हैं। उन्होंने दक्षिण दिशा को, मृत्यु से छुड़ाकर, मनुष्यों के हाथों सौंप दिया है। पहले यहां पर इल्वल और शतापि नामक दो भयङ्कर राक्षस रहते थे। इल्वल ब्राह्मण का वेष धारण करके और संस्कृत भाषा बोलकर ब्राह्मणों को श्राद्ध के लिए आमन्त्रित करता था, और मेघ रूप धारण करनेवाले वातापि को श्राद्ध के लिए मारकर उसका माँस ब्राह्मणों को परोसता था। ब्राह्मण बेचारे जब भोजन कर लेते तो इल्वल 'वातापि शीघ्र आओ' करके पुकारता तो वह ब्राह्मणों के पेट फाड़कर बाहर निकल आता। इस प्रकार दोनों ने सहस्रों ब्राह्मणों को धोखा देकर खा डाला। तब सब ब्राह्मण अगस्त्यजी की शरण गये। अगस्त्य ऋषि ने उसी समय उन राक्षसों का नाश करने की प्रतिज्ञा कर ली और एक दिन इल्वल के श्राद्ध का निमन्त्रण स्वीकार किया। नियमानुसार इल्वल ने वातापि का मांस अगस्त्य को भी परोसा। भोजन समाप्त होते ही इल्वल ने पुकारा:— "वातापि, शीघ्र ही चले आओ।" तब अगस्त्य ने शांतिपूर्वक हँसकर कहा, "अब वातापि के लौट आने की आशा छोड़ दो! उसे तो हजम कर गया।" यों कह कर ऋषि ने अपने पेट पर

हाथ फेरा और डकार ली। वातापि को प्रकट होते न देखकर इल्वल ने अपना सच्चा स्वरूप प्रकट किया और बड़े क्रोध से ऋषि की ओर दौड़ा। ऋषि ने शीघ्र ही उसे भी अपनी नेत्राग्नि से भस्म कर डाला। इस प्रकार ऋषि अगस्त्य ने उन राक्षसों से ब्राह्मणों की रक्षा का वह कठिन कार्य संपन्न किया। तभी से तमाम राक्षस उनसे बहुत डरते हैं। जब से अगस्त्यजी इस ओर दक्षिण में आकर रहने लगे हैं। तब से राक्षसों का जीवन यहाँ बड़ा संकटापन्न होगया है। क्योंकि वे अपने दुष्ट स्वभाव को छोड़ नहीं सकते और ऋषि उन्हें दण्ड दिये बिना रह नहीं सकते। इसीसे दक्षिण दिशा को अगस्त्य ऋषि का नाम प्राप्त हुआ है। इन्हीं की राह देखते हुए विन्ध्याद्रि भी अभी तक लेटा हुआ है। एक बार विंध्यपर्वत गर्ववश ऊँचा बढ़ने लगा; बढ़ते-बढ़ते वह इतना ऊँचा होगया कि ब्राह्मणों को सूर्य के छिप जाने की आशंका होने लगी। तब अगस्त्य ऋषि ने ही विन्ध्यपर्वत को रोक लिया। वह उनका शिष्य था। अतः जब वे दक्षिण की ओर आने लगे, तब उसने उन्हें साष्टांग दंडवत् किया। उस समय मौका देख कर ऋषि ने उससे कहा:—'बेटा विन्ध्य! जब तक मैं वापिस लौट कर नहीं आता तुम इसी तरह लेटे रहो।' तब से वह विन्ध्य पर्वत इसी प्रकार पड़ा हुआ है; और अगस्त्य मुनि ने भी दक्षिण ही में अपना निवास कर लिया है। इस तरह हम आज एक अत्यन्त सामर्थ्यशाली ऋषि के आश्रम को जा रहे हैं। वह साधु पुरुष सज्जनों का सदा कल्याण करता है; अतः हमें बनवास के शेष दिन उनकी आराधना करके उन्हींकी सेवा में बिताने चाहिएँ। यहाँ पर सदा-सर्वदा सारे देव, सिद्ध, गंधर्व और महर्षि ऋषि

अगस्त्यजी के दर्शन के लिए आते जाते रहते हैं। यहाँ पर कोई असत्य बोलने वाला अथवा शठ, निर्दयी वा पापी मनुष्य नहीं रह सकता; क्योंकि ये मुनि बड़े ही सिद्ध हैं। वह देखो, महर्षि का आश्रम दिखाई देने लगा; चलो। हम उन पुण्यवान् महा-मुनि के दर्शन करें। यों कहते हुए श्रीरामचन्द्रजी उस आश्रम के निकट जा पहुँचे। पहुँचते ही उन्होंने एक शिष्य द्वारा महर्षि को कहला भेजा:—"मैं राजा दशरथ का पुत्र राम, लक्ष्मण और सीताजी सहित, बनवास के लिए दंडकारण्य में आया हूं और आपके दर्शन करने की इच्छा है।" शिष्य ने अगस्त्यजी से वह संदेश कहा तब उन्होंने उसे श्रीराम, लक्ष्मण और सीताजी को जल्दी लाने की आज्ञा देदी। वह शिष्य फौरन दौड़ा आया और श्रीराम को आश्रम में ले गया। आश्रम में चारों ओर शान्त रमणीयता दीख पड़ती थी। और मृग पत्ती निःशंक होकर विहार कर रहे थे। उस रूप को देखकर श्रीरामजी बड़े विस्मित हुए। अनंतर इन्द्र, विष्णु, सूर्य, सोम, भग, कुबेर, ब्रह्मदेव, वायु, वरुण, गायत्री, वसु, नागराग, गरुड़, कार्तिकेय और यम के स्थान देखते देखते वे आगे की ओर बढ़े। इतने में अगस्त्य ऋषि अग्नि का हवन करके मुनिजन सहित बाहर आये। उन्हें देखकर श्रीरामचंद्रजी ने प्रणाम किया और हाथ जोड़ कर उनके सामने खड़े हो गये। लक्ष्मण और सीताजी भी ऋषि के चरणों की वंदना कर के श्रीरामचंद्रजी के पास खड़े हो गये। ऋषि अगस्त्य नीचे बैठ गये और उन्होंने सब को बैठ जाने की आज्ञा दी। अनंतर वन के फल, फूल, जल आदि से श्रीरामजी की पूजा करते समय वे बोले:—"श्रीरामचंद्र, जो मनुष्य अतिथि का सत्कार नहीं करता उस झूठी साक्षि

देने वाले मनुष्य की तरह यमलोक में अपना ही मांस खाना पड़ता है। तिस पर आप तो अत्यंत पवित्र अतिथि हैं, क्योंकि आप हमारे राजा होने पर भी धर्मप्रिय और पराक्रमी हैं।" इस प्रकार श्रीरामचंद्रजी का सत्कार कर लेने पर अगस्त्य ऋषि बोले:— "पहले विश्वकर्मा का बनाया हुआ सुवर्ण और रत्नों से विभूषित, वैष्णव महाधनुष मैं तुमको देता हूँ। महेंद्र का दिया हुआ यह दिव्य अमोघ शर, अक्षय बाणों से युक्त तर्कश. तथा सुवर्ण-मंडित और सुवर्ण के मकान में रखी हुई यह बड़ी तलवार भी मैं तुमको देता हूँ। इसी धनुष के द्वारा श्रीविष्णु ने असुरों को जीत कर उनकी संपत्ति को देवताओं को सौंप दी। यह धनुष, बाण, तर्कश और तलवार जयप्राप्ति के लिये तुम लेलो।" यों कह कर उन्होंने वे सब आयुध श्रीरामजी को दे दिये। श्रीरामचंद्रजी ने बड़े प्रेम और आदर के साथ उनका स्वीकार किया। अनंतर अगस्त्य ऋषि बोले:—"श्रीरामचंद्र, तुम मेरे दर्शन के लिए इतनी दूरी पर आये हो, इससे मुझे बड़ा आनंद हुआ है। यह तुम्हारी पत्नी भी तुम्हारे साथ बन को आई है, अतः उसने भी बड़ा ही कठिन कार्य किया है। इस सृष्टि के उत्पत्ति-काल से प्रायः यही अनुभव है कि पति की सुस्थिति में ही स्त्रियाँ उन्हें आदर की दृष्टि से देखती हैं, उनकी विरुद्ध स्थिति में वे उनका त्याग कर देती हैं। स्त्रियाँ तो स्वभावतः ही बिजली अथवा वायु के सदृश चंचल होती हैं। पर, तुम्हारी भार्या उक्त दोष से रहित है और वह वसिष्ठपत्नी अरुंधती की तरह महापतिव्रता है। उसे बहुत श्रम हुए हैं, अतः जिस स्थान पर उसे सुख मिले, वहीं पर तुम रक्खो।" तब श्रीरामजी के, अपने रहने के लिए योग्य और सुंदर स्थान का पता,

पूछने पर अगस्त्यजी ने कहा:—"यहाँ से दो योजन पर गोदावरी नदी के तट पर पंचवटी नामक उत्तम स्थान है; वहीं पर पर्णकुटी बना कर तुम रहो।" तदनुसार अगस्त्य ऋषि को बहुत सम्मानित करके और उनकी आज्ञा पाकर वे पंचवटी की ओर चल दिये। (अर० स० १९-१३)

लक्ष्मण और सीताजी सहित पंचवटी को जाते हुए श्रीरामचन्द्रजी को एक प्रचंड शरीर वाला और अत्यन्त बलवान् गृद्ध-पक्षी दिखाई दिया। उसे पक्षी का रूपधारी राक्षस जान कर श्रीरामचन्द्रजी ने उससे पूछा:—"तू कौन है?" तब वह गृद्ध बड़ी शांति और मीठी वाणी से बोला:—"पूर्वकाल में जितने प्रजापति हो गये हैं, उनके नाम सुनो। पहले कर्दम, फिर विकृत, अनंतर शेष, संश्रय, स्थाणु, मरीचि, अत्रि, क्रतु, पुलस्त्य अंगिरा, प्रचेता, पुलह, दक्ष विवस्वान और अरिष्टनेमि और उनके बाद कश्यप हुए। इनमें से दक्ष प्रजापति को साठ कन्यायें हुईं। उन कन्याओं में से आठ अदिति, दिति, दनु, कालका, ताम्रा, क्रोधवशा, मनु और अनला—को उन्होंने कश्यप से ब्याह दिया। तब कश्यप ने उन स्त्रियों से कहा:—"तुम मेरे समान पुत्र की इच्छा करो।" पहली चार स्त्रियों ने तो यह बात अपने ध्यान में रखी, पर शेष स्त्रियाँ उस बचन को भूल गईं। तब अदिति की कोख से ३३ देव उत्पन्न हुए। दिति से दैत्य उत्पन्न हुए और सब से पहले वे ही पृथ्वी के राजा बने। दनु से अश्वग्रीव उत्पन्न हुआ और उसके द्वारा दानवों की उत्पत्ति हुई। कालका के नरक और कालक नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। इस प्रकार पहली चार स्त्रियों को तो सामर्थ्य-शाली पुत्र हुए, पर शेष चार स्त्रियों में से ताम्रा को पाँच पुत्रियाँ

क्रौंची, भारवी, श्येनी, धृतराष्ट्री और शुकी–हुईं। उन्हीं से सारे पक्षियों की उत्पत्ति हुई। उसी प्रकार क्रोधवशा को मृगी आदि दस पुत्रियाँ हुईं; जिन से सारे चौपाये उत्पन्न हुए। मनु के कश्यप द्वारा मनुष्य उत्पन्न हुए तथा अनला के द्वारा सारे वृक्षों की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार यह सारी काश्यपी सृष्टि है। ताम्रा की कन्या शुकी, उसकी कन्या श्वेता और उसकी कन्या विनता है। उस विनता के दो पुत्र गरुड़ और अरुण हुए। अरुण के दो पुत्र–संपाति और जटायु। संपाति मेरा ज्येष्ठ भाई है और मेरा नाम जटायु है। मैं तुम्हारे पिता का परम मित्र हूँ; अतः मैं तुम्हारे आश्रम में रह कर तुम्हारी सहायता करूंगा तथा तुम्हारे और लक्ष्मण के बाहर चले जाने पर मैं सीताजी की रक्षा भी करूंगा।"

जटायु के उक्त संभाषण को सुन कर और उन्हें अपने पिता के परम मित्र जान कर श्रीरामजी ने बड़े आदर से उनको प्रणाम किया। अनंतर वे चारों पंचवटी को जा पहुँचे। पंचवटी की अपूर्व शोभा को देखकर श्रीराम बोले:—"लक्ष्मण, यह समथर प्रदेश पुष्पों के वृक्षों से युक्त है; अतः यहाँ किसी अच्छे स्थान पर आश्रम बनाओ। यह देखो, यहाँ से पास ही एक ओर सूर्य के सदृश उज्ज्वल और सुगंधयुक्त कमलों से भरा हुआ सरोवर दीख पड़ता है। दूसरी ओर न तो बहुत दूरी पर और न अत्यंत निकट ही गोदावरी नदी बह रही है। उसके तट पर हंस, कारण्डव, चक्रवाक् आदि पक्षी क्रीड़ा कर रहे हैं तथा हिरनों के झुंड पानी पी रहे हैं। लंबी लंबी खोहों वाले ऊंचे पर्वत पुष्पयुक्त वृक्षों से आच्छादित होने के कारण, तथा मोरों की केकारव के कारण, सौम्य और रम्य जान पड़ते हैं। इस पर्वत की सोना, चांदी, तांबा

आदि धातुओं से युक्त टूटी हुई करारें अपने शरीर पर विभिन्न रंग की बेलें चित्रित किये हुए हाथी के सदृश सुहावनी दिखाई देती हैं। निःसन्देह यह पशु-पक्षि से युक्त स्थान बड़ा पुण्य और रम्य है अतः यहीं पर रहने से हमें बहुत सुख होगा।" यों सुनते ही लक्ष्मण ने पर्णशाला बनाने की तैयारी कर के शीघ्रही वहाँ पर एक बिस्तीर्ण कुटी खड़ी करदी। उन्होंने पहले तो पृथ्वी पर एक विशाल चबूतरा बनाया, उसपर बड़े-बड़े खंभे खड़े करके, उनपर आड़े बाँस रक्खे और मजबूत बल्लियों से उन्हें स्थान-स्थान पर बाँधकर ऊपर शमी वृक्ष की टहनियाँ, कुश वगैरह घास और पत्तों का आच्छादन कर दिया। इस प्रकार तैयार किये हुए उस सुंदर गृह को देख कर श्रीरामचंद्रजी इतने आनंदित हुए कि उन्हों-ने लक्ष्मणजी को प्रेम से अपने हृदय से लगाकर कहा, "लक्ष्मण, तुम्हारे अपूर्व कार्य के बदले तुम्हें देने के लिए मेरे पास केवल यही एक पुरस्कार है। अनंतर लक्ष्मणजी ने गोदावरी में स्नान किया और उत्तमोत्तम फल और पुष्प लाकर वहाँ पर स्थान-स्थान पर फल-पुष्पों के उपहार रख दिये और फिर उस जटायु को पहरा देने के लिये नियुक्त कर के वे उस पर्णशाला में बड़े आनंद से रहने लगे। (अरण्य० स० १२—१९)

इस प्रकार पंचवटी में वास करते करते शीतकालके दिन आ पहुँचे। चारों ओर खूब ठंढक पड़ने लगी। आकाश भी सर्वदा कुहरे से व्याप्त रहने लगा। पृथ्वी पर के धान, घास आदि सब पक गये। जल से दूर रहने की तथा अग्नि की अधिक आवश्यकता मालूम देने लगी। सूर्य के दक्षिण की ओर चले जाने के कारण उत्तर दिशा तिलक-शून्य स्त्री के सदृश बुरी दिखाई देने लगी।

दिन की रमणीयता बढ़ गई, क्योंकि मध्यान्ह काल के समय भी बाहर घूमना और धूप में बैठना सुखकारी मालूम होने लगा। छाया अथवा पानी के निकट भी जाने की इच्छा नहीं होती थी। सर्दी के कारण रात बहुत लंबी और भयंकर मालूम देती थी। रात के समय कुछ ओढ़ करके भी बाहर निकलना असहनीय था। चंद्र की शीतलता सूर्य की ओर चली गई और कुहरे के कारण चंद्र सफेद, अस्पष्ट और सांस डाले हुए मलिन दर्पण के सदृश दिखाई देने लगा। हिम और तुषार से आच्छादित हो जाने के कारण सहस्ररश्मि सूर्यदेव भी ठंडी किरणों से युक्त और उदय होने के अनंतर भी चंद्र के सदृश दिखाई देने लगे। बन के हाथी प्यासे हो कर नदी या सरोवर पर पानी पीने के लिये जाते, पर, उस बरफ के जैसे शीतल जल का स्पर्श होते ही अपनी सूंडों को खींच लेते। हंस, कारण्डव आदि पानी में तैरने वाले पक्षी नदी-तट पर ही बैठे रहते। जिस प्रकार कायर सैनिक युद्ध-भूमि से अपना मुँह फेर लेते हैं, उसी प्रकार वे पक्षी भी पानी से अपना मुँह मोड़ने लगे। नदी के पानी पर भी घना कुहरा फैल जाने के कारण उसके तट पर बैठे हुए सारस आदि पक्षियों का बोध केवल उनके शब्द से होने लगा। तुषार पड़ने और सूर्य की धूप मृदु हो जाने के कारण पर्वतों के शिखर पर का पानी भी अत्यंत ठंडा और स्वादिष्ट बन गया। सरोवरों से कमल के फूल अदृश्य हो गये, केवल उनके नाम ही शेष रह गये और पत्ते जीर्ण हो कर बुरे दिखाई देने लगे। ऐसे हिम-काल में एक दिन श्रीराम, लक्ष्मण और सीताजी नित्य नियमानुसार गोदावरी नदी पर स्नान करने के लिए गये। भरत भी इस हिम ऋतु में सरयू में

स्नान करता होगा, इत्यादि घर की बातों का स्मरण करते हुए तीनों ने स्नान करके देव-पितरों का तर्पण किया। पुनः बात-चीत करते हुए अपने आश्रम में लौटे। इतने ही में संयोग-वश शूर्पणखा नामक एक राक्षसी वहाँ पर आ पहुँची। श्रीरामचंद्रजी की तेजस्वी कान्ति, मदन के सदृश सुंदर स्वरूप तथा बलवान् और सुगठित शरीर को देख कर वह उनपर मोहित हो गई। क्यों न हो ? श्रीरामचंद्रजी का वदन कितना सुंदर था और उस राक्षसी का मुँह कितना भद्दा ! उनकी कमर सिंह के सदृश पतली और उस राक्षसी का पेट ? मानों एक मटका ही न रक्खा हो ! श्रीरामजी के नेत्र कैसे विशाल और तेजस्वी थे, और उसके नेत्र कितने छोटे और मिचमिचे; श्रीराम के केश कैसे काले और महीन, पर उसके बाल तो लाल और अत्यंत कड़े थे; श्रीरामजी का स्वरूप अत्यंत मनोमोहक, पर उसका स्वरूप घृणायुक्त; श्रीराम का सुर मधुर और उसका कर्कश; श्रीरामजी तरुण तो वह बिलकुल वृद्धा; श्रीरामजी मधुरभाषी तो वह असभ्य भाषा बोलने वाली; श्रीराम न्याययुक्त आचरण करने वाले तो वह स्वेच्छानुसार दुष्ट आचरण करने वाली थी; सारांश इतने विरोधी किन्तु उत्तम लक्षणों से युक्त पुरुष का सामना हुआ, तब उसका श्रीरामचंद्रजी पर मोहित हो जाना सर्वथा योग्य ही था ! अतः शूर्पणखा ने उनके निकट जा कर उनसे पूछाः—"तुम यहाँ पर राक्षसों के बन में जटा-वल्कल धारण कर के क्यों आये हो ? तुम कौन और कहाँ के हो; यह मुझसे शीघ्र ही कहो। तब श्रीरामचंद्रजी ने कहाः—मैं राजा दशरथ का पुत्र हूँ। यह मेरी पत्नी सीता है और वह मेरा छोटा भाई लक्ष्मण है। पिताजी की आज्ञा से मैं

इस अरण्य में रहने के लिए आया हूँ। अब तू कौन है और यहाँ पर क्यों आई है, यह भी हमसे कह। तब शूर्पणखा बोली:— "नाम सुना हो तो मैं राक्षसों के राजा रावण की भगिनी हूँ। छः मास तक निद्रा लेने वाला कुंभकर्ण और धर्मात्मा विभीषण नामक मेरे और भी दो भाई हैं। खर और दूषण नामक मेरे दो सगे भाई यहीं पर रहते हैं। मैं कामरूप धारण कर के चारों ओर अरण्य में घूमती रहती हूँ। आज तुम्हारे इस अपूर्व रूप-संपत्ति को देख कर मैं तुमपर मोहित हो गई हूँ। तुम्हारी यह स्त्री अत्यंत कुरूपा है। वह तुम्हें बिलकुल शोभा नहीं देती। उसे और तुम्हारे भाई को मैं खा डालती हूँ। तब तुम मेरे पति हो जाना और फिर हम-तुम दोनों इस दण्ड-कारण्य के विभिन्न रम्य स्थानों पर यथेच्छ विहार किया करेंगे।" तब उस राक्षसी का विचित्र वचन सुन कर श्रीरामचंद्रजी शांतिपूर्वक और उसकी मखौल उड़ाते हुए बोले:—"शूर्पणखा, मैं विवाहित हूँ और मेरी पत्नी भी जीवित है तथा वह मुझे अत्यन्त प्रिय है। उसके लिए तुम्हारे समान सौत करना मानों उसे बहुत दुखी बना देना है। लक्ष्मण को स्त्री नहीं है, अतः तू उसे ही अपना पति बना, जिससे तुझे सौत का डर नहीं रहेगा।" यह सुनकर शूर्पणखा श्रीरामचन्द्रजी को छोड़ कर लक्ष्मणजी की ओर गई। उसने सोचा, क्या बुरा है? श्रीलक्ष्मण श्रीराम की अपेक्षा कम सौन्दर्यशाली नहीं हैं। तब लक्ष्मण ने शूर्पणखा से कहा:—"जरा सोचो कि मैं श्रीरामजी का छोटा भाई अर्थात् उनका दास हूँ, फिर तू मेरी स्त्री हो कर उनकी दासी क्यों बनना चाहती है? अच्छा तो यही होगा कि श्रीरामजी स्वयं ही अपनी कुरूपा

और भद्दी स्त्री का त्याग कर के तुझे अपनी स्त्री बना लें।" उनकी इस हंसी को शूपणखा नहीं समझी। वह पुनः श्रीरामजी की ओर जा कर बोली :—"सचमुच इस कुरूप स्त्री के लोभ में पड़ कर तुम व्यर्थ ही मेरा अपमान कर रहे हो। अतः मैं पहले इसीको खा जाती हूँ, जिससे मुझे सौत का डर ही न रहे और हम-तुम आनन्द से दिन बितावें।" यों कह कर, वह सीताजी की ओर यों झपटी मानों आकाश में रोहिणी पर उल्कागिरी हो। तब उसे बीच ही में रोक कर श्रीरामचन्द्रजी ने लक्ष्मण से कहा:—"लक्ष्मण, मूर्खा हंसी-विनोद क्या जाने? इससे हंसी नहीं करनी चाहिए। सीताजी बिलकुल घबरा गई हैं इसीलिए अब इस राक्षसी को योग्य दंड दे कर रवाना कर दो। तुम इसके इस दुष्ट कार्य के बदले इसके नाक-कान काट कर के छोड़ दो।" श्रीराम की आज्ञा होते ही लक्ष्मणजी ने खड्ग ले कर और उसे पकड़ कर उसके कान-नाक काट लिये। राक्षसी जोर से चिल्लाती हुई और लोहू टपकाती हुई ठेठ जनस्थान में अपने भ्राता के पास भागी गई। उस समय जनस्थान में खर राक्षस-सभा में बैठा हुआ था। वह राक्षसी जोर से चिल्लाती हुई सीधी वहीं जा पहुँची। खर ने उसकी यह हालत देख कर उसकी सान्त्वना करते हुए बहुत कुछ समझा-बुझा कर उससे पूछा:—"आखिर यह भी बताओगी कि तुम्हारी इस प्रकार बुरी दशा किसने की?" तब उसने श्रीराम-लक्ष्मण की सारी कथा कही। वह सुनते ही खर ने क्रोध युक्त हो कर चौदह बलवान् राक्षसों को यों आज्ञा दी:—"वीरो, तुम शूर्पणखा के साथ जाओ, वह जिस मनुष्य को बतलावे उसी को मार कर उसका लोहू उसे पीने के लिए दे दो।" यह आज्ञा

पाते ही वे वीर शूर्पणखा सहित दौड़ कर पंचवटी श्रीरामचन्द्रजी के आश्रम के पास पहुँचे। श्रीरामचन्द्रजी ने शूर्पणखा और उन राक्षसों को देखते ही लक्ष्मणजी से सीताजी को आश्रम के भीतर ले जाने को कहा और अपने हाथ में धनुष-बाण ले कर उनके चढ़ आने के पहले ही उन्होंने उन सभी राक्षसों को चौदह बाणों से पृथ्वी पर मार गिराया। उन्हें मरे हुए देख कर शूर्पणखा फिर से चिल्ला कर वहां से भागी और खर के पास जा कर उसकी अत्यंत निर्भत्सना करते हुए उससे कहा:—"खैर, तेरी सारी डींगें व्यर्थ हैं। राम-लक्ष्मण सचमुच बड़े पराक्रमी हैं। न तो खाली बकवास करता है। तुझ अकेले से कुछ भी नहीं होगा, अतः सारी सेना अपने साथ ले जा, नहीं तो तू भी मारा जावेगा।" इस प्रकार शूर्पणखा के वचनों से अत्यन्त संतप्त युद्ध से पीठ न फेरने वाले, नील की मेघों की तरह बिलकुल काले चौदह सहस्र राक्षसों को अपने साथ ले कर, सेनापति दूषण सहित खर श्रीराम से बदला लेने को चल दिया। श्रीरामजी तो यह भविष्य पहले ही से जान गये थे। अतः सीताजी को लक्ष्मण-सहित पर्वत पर पहुँचा कर, स्वयं कवच धारण करके और दिव्यायुध ले कर तैयार हो, वह उनकी राह देखने लगे। उस राक्षस सेना को देखते ही उन्होंने बाणों ही से आतिथ्य किया। अकेले राम और चौदह सहस्र राक्षसों के बीच भयंकर संग्राम छिड़ गया। पर, अन्त में श्रीरामजी ने चौदहों सहस्र राक्षसों को खर, दूषण और त्रिशिरा सहित परलोक को भेज दिया। श्रीरामजी के उस अमानुष कार्य को देख कर देव, गंधर्व, सिद्ध आदि ने आकाश से पुष्प बरसाये। अनंतर अगस्त्यादि ऋषि और तपस्वियों ने वहाँ पर जा कर श्रीरामजी

का अभिनन्दन कर के कहा:—"श्रीराम, इसी कार्य के लिए हम लोग तुम्हें इस दंडकारण्य में लिवा लाये थे। अतः अब हम यहाँ निशंक हो निर्भयता के साथ अपना तपश्चरण कर सकेंगे।" इतने में लक्ष्मणजी भी सीताजी सहित अपने आश्रम को लौट आये। तब श्रीसीताजी सहस्रों राक्षसों को नष्ट करनेवाले श्रीरामजी की ओर बड़े आश्चर्य और प्रेमभरी दृष्टि से देख कर अत्यन्त आनन्दित हो कर उनके गले से लिपट गईं और उस भयंकर संकट से श्रीरामचंद्रजी के सकुशल विजय के लिए परमेश्वर की खूब स्तुति की। (आरण्य सं० १६—३०)

चौदह सहस्र राक्षसों को अकेले श्रीराम ने हो मार डाला, यहां देख कर शूर्पणखा भयभीत होकर, वहाँ से भाग कर सीधी लंका में रावण के पास पहुँची। उस समय रावण राजसभा में अपने सिंहासन पर बैठा हुआ था। चारों ओर सचिव हाथ जोड़े खड़े थे। इसलिए और बीस भुजाओं के कारण उसका शरीर अत्यन्त भयंकर किन्तु तेजस्वी दिखाई देता था। उसकी चौड़ी छाती पर राज-चिन्ह शोभा देते थे। जिसने कैलाश पर्वत पर चढ़ाई करके कुबेर को जीत कर पुष्पक-विमान प्राप्त किया था; इन्द्र के उपवन नंदनवन को क्रोध से नष्ट कर डाला था; चन्द्र-सूर्य को पर्वत पर खड़े होकर, बीच ही में रोक दिया था, और दश सहस्र वर्षों तक तपस्या करके ब्रह्मदेव को अपने शिर-कमल समर्पण करके, पिशाच, उरग, राक्षस, दैत्य, दानव और देवताओं के हाथ भी मृत्यु न होने का वर प्राप्त कर लिया था; उस बलवान् राक्षस-राजा के सामने खड़ी होकर वह भयभीत शूर्पणखा बोली:—"अरे रावण, तुझे इस आमोद-भोग के सिवा और

कुछ सूझता भी है। तू इस तरह आंखें मूंदे हुए कैसे पड़ा है? क्या तू जानता नहीं है कि तुझपर कितना महान् संकट आ रहा है? अरे, राजा अपने गुप्त चरों से समस्त संसार के समाचार जान लेता है इसीलिए वह दीर्घ-दृष्टि कहलाता है। पर, मुझे मालूम होता है कि तू इस समय घोर निद्रा में पड़ा हुआ है। अरे, क्या यह खबर तेरे कानों पर अभी तक नहीं पहुँची कि चौदह सहस्त्र भीमकर्मा राक्षसों को अकेले राम ने देखते-देखते मार डाला और खर, दूषण तथा त्रिशिरा तक को यमलोक को भेज दिया? अब श्रीराम ने जन-स्थान का विध्वंस करके तमाम ऋषियों को निर्भय कर दिया है तथा दंडकारण्य को स्वतंत्र करके उन्हें सुखी बना दिया है। पर, तू तो अपनी ही धुन में मस्त हो रहा है और पराधीन बना बैठा है। अपने राज्य ही में जो भय उत्पन्न हुआ है, उसका तुझे पता नहीं है।" इस प्रकार शूर्पणखा के उद्गार सुनकर रावण ने पूछा—"अरे! शूर्पणखा, तेरी ऐसी दशा किसने और क्यों की है? वह राम कौन है? उसकी कितनी सामर्थ्य है? वह किन आयुधों से युद्ध करता है? आदि सारी बातें मुझसे कह।" तब शूर्पणखा ने धूर्तता पूर्वक उत्तर दिया:—"महाबाहु राम मदन के सदृश सुन्दर, विशालाक्ष, महापराक्रमी, धनुष्य से लड़नेवाला और जटा-वल्कलधारी है। उसका भाई लक्ष्मण भी उसीके सदृश बलवान् है। राम की पत्नी सीता भी अत्यन्त सुन्दर है। उसके सदृश स्त्री मैंने देवलोक ही में नहीं वरन् दैत्यासुरगंधर्व लोक में भी नहीं देखी। सीता जिसकी भार्या होगी, वह सचमुच धन्य होगा, यह सोच कर मैं तुम्हारे लिए उसका हरण करने की

इच्छा से गई, तब उस लक्ष्मण ने मुझे इस तरह विद्रूप कर दिया। इसलिए यदि तू सीता का हरण करके राम-लक्ष्मण को मार नहीं डालेगा तो समझ लेना कि तेरा यह त्रैलोक्य का राज्य-वैभव कुछ ही दिनों का साथी है।" तब रावण ने शूर्पणखा के वचन सुनकर उसे बहुत तरह से समझाया। और अपने मन में भावी कार्य-क्रम को सोच विचार करके वह अपनी रथशाला में गया। वहाँ पर उसने गुप्त रीति से अपने सारथी को रथ तैयार करने की आज्ञा दी। सारथी ने रत्नों से सजे हुए एक सुवर्ण के रथ में नाना भूषणादि से अलंकृत किये हुए पिशाच मुखी खच्चर जोत कर उस में रावण को बैठाया और वह रथ को वायुवेग से आकाश में चलाने लगा। तब रावण आकाश के विमानों की दिव्य शोभा को देखता हुआ, समुद्र-तट के चंदन, अगरु, तक्कोल आदि सुगंधित वृक्ष से भरे हुए वन-प्रान्तों की सुगंधि लूटता हुआ, समुद्र को लांघ कर शीघ्र ही दूसरे तीर पर एक पुण्य और रम्य आश्रम के निकट अपने रथ से उतर पड़ा। उस स्थान पर मारीच नामक राक्षस कृष्णाजिन और जटा धारण किये हुए तपस्या कर रहा था। रावण को देखते ही मारीच ने उसका यथायोग्य स्वागत सत्कार किया। पर रावण को इन सब का स्वीकार करने के लिए समय कहां था? वह बोला—"भाई तुम जानते ही हो चचेरे भाई खर और दूषण शूर्पणखा सहित मेरी आज्ञा से जनस्थान में रहते थे। वहाँ पर उनकी सहायता के लिए चौदह सहस्र राक्षस भी मैंने रक्खे थे। पर उस दिन श्रीराम ने खर दूषण सहित उन सब को अपने तीक्ष्ण बाणों से मार डाला। एक मनुष्य ने—पिता के द्वारा निर्वासित एक राजपुत्र ने—अरे, केवल एक पादचारी बालक ने—

रथाश्वगजादि पर से लड़नेवालों का नाश कर डाला। और उस अल्प प्राण मनुष्य ने बिना कारण ही मेरी भगिनी के नाक-कान काट लिये। इसलिए अब मैं चाहता हूँ कि उस देवकन्या से सदृश सुंदर राम भार्या का हरण कर लूं। और इस कार्य में मुझे तुम्हारी सहायता की ज़रूरत है। सीता को हरण करने की मैंने एक सरल युक्ति सोची है। देख, तू सुवर्ण-मृग बन कर सीता के सामने जाना, जिससे तुझे देखते ही उसे तेरे चर्म की इच्छा होगी। फिर राम-लक्ष्मण तेरा पीछा करने के लिए, सीता को अपने आश्रम में अकेली ही छोड़ जावेंगे तब मैं झट से जा कर उसका हरण कर लूंगा। स्वभावतः सीता के विरह से राम क्षीण हो जावेगा। तब उसका नाश करने में मुझे जरा भी देर नहीं लगेगी।"

राम का नाम सुनते ही मारीच का हृदय भयभीत हो गया तो भी वह शांति पूर्वक बोला :—"रावण, अप्रिय किन्तु सत्य बोलने वाले और उसे सुननेवाले बहुत कम होते हैं। मैं अप्रिय बोल रहा हूँ, इसकी मुझे क्षमा करो। राम को अभी तक तुमने नहीं पहिचाना है। ज्ञात होता है कि तुम अपने दूतों से चारों ओर के समाचार नहीं मँगवाते। राम बड़े पराक्रमी और इन्द्र के सदृश वीर्यशाली हैं। राक्षसों का सर्वदा कल्याण हो। यदि राम क्रुद्ध हो जायेंगे तो वे पृथ्वी पर के सभी राक्षसों का नाश किये बिना न रहेंगे। तुम्हारे जीवन का नाश करने के लिए ही तो सीता का जन्म नहीं हुआ है? इस समय सीता के रूप में राक्षसों के लिए एक महान् भय उत्पन्न हुआ है; और तुम्हारे समान कामी, दुःशील और पापी राजा ही अपना, अपने लोगों का तथा अपने राष्ट्र को नष्ट कर देते हैं। तुम्हें उस महापराक्रमी पुरुष की स्त्री का हरण न करना

चाहिए। दीपक की ज्योति की नाईं वह तुम्हारा हाथ जला देगी। राम का प्रभाव मालूम न होने के कारण ही उसे एक साधारण बालक समझ कर मैंने विश्वामित्र के यज्ञ में उस पर चढ़ाई की थी। पर, उसने एक ही बाण से मुझे सौ योजन दूरी पर समुद्र में फेंक दिया था। अतः यदि मेरा कहना न मान कर तुम उससे शत्रुता करोगे तो तुम्हारा सपरिवार नाश हो जायगा पर-स्त्रियों की इच्छा करने के सदृश और कोई घोर पाप नहीं है। इसलिए तुम अपनी स्त्रियों पर ही अधिक प्रेम कर के अपने कुल की रक्षा करो।" मरनेवाले को कभी औषधि अच्छी नहीं लगती। उसी प्रकार मारीच का यह उपदेश रावण को नहीं भाया। तब उसने बिगड़ कर उत्तर दिया :—"किसी विषय में राजा के परा-मर्श लेने पर बुद्धिमान सचिव को, हाथ जोड़ कर, उसके अनुकुल ही अपना मत प्रकट करना चाहिए। अरे, मैं खर-दूषण का वध करनेवाले राम की भार्या सीता का अवश्य ही हरण करूँगा। और यदि तू इस कार्य में मुझे सहायक न होगा तो पहले तेरा ही नाश करके फिर मैं अपना इष्ट कार्य सिद्ध करूंगा।" तब मारीच को विवश हो, रावण का कहना मानना पड़ा। उसने हाथ जोड़ कर प्रार्थना की कि आप जो कुछ कहें, उसे मैं करने के लिए तैयार हूँ। फिर वे दोनों रथ में बैठ कर दंडकारण्य में, जहाँ पर श्रीराम का आश्रम था; पहुँचे। अनन्तर मारीच सुवर्ण मृग का रूप धारण करके राम के आश्रम के सामने चरने लगा। इतने में सीताजी कुश एकत्रित करने के लिए आश्रम के बाहर गईं; तो वहां उन्हें एक अत्यन्त आश्चर्यकारक मृग दिखाई दिया। उसके सींग रत्न के थे, मुँह पर सफेद और काले पट्टे थे, रक्त कमल की नाईं उसके

होंठ थे, कान इंद्रनील के सदृश नीले रंग के थे, और उसका पेट भी इन्द्रनील का सा ही नीला था, दोनों ओर मधु पुष्प के सदृश बड़े-बड़े पीले दाग थे तथा पाँव बिलकुल छोटे और वैडूर्य मणियों के थे।

उसकी वह इन्द्रधनुष के सदृश रंग-विरंगी पूंछ ऊँची उठी हुई थी। इस प्रकार अनेक रत्नों से भरा हुआ तथा सारे शरीर पर चांदी की सी छोटी-छोटी सफेद बुंदकियों वाला वह मृग इठलाता हुआ और अपनी गर्दन को टेढ़ी-मेढ़ी करता हुआ इधर-उधर घूम कर वृक्षों की पौधों की कोमल पत्तियाँ खा रहा था। उसे देख कर सीताजी बड़ी विस्मित हुईं और बड़े हर्ष से उन्होंने अपने पति और लक्ष्मणजी को पुकारा—"आर्यपुत्र, यहां आइये, वत्स लक्ष्मण जल्दी आओ। इस सुंदर मृग को तो देखो।" यों कह कर वे उस मृग की ओर देखती हुई उसका पीछा करने लगीं। इतने में श्रीराम लक्ष्मण उनके पास आ पहुँचे, तब सीताजी ने ने बड़े हर्ष और उत्सुकता से कहा:—"आर्यपुत्र, इस सुंदर मृग को पकड़ कर मुझे ला दीजिये। अहा! वह कैसा सुंदर है! वह चित्र विचित्र रंग वाला मृग मेरे चित्त को चुराए जा रहा है। यदि वह जीता ही आपके हाथों आ जाय, तब तो पूछना ही क्या! क्योंकि वनवास पूर्ण कर के मैं उसे अयोध्या ले जाऊँगी और अपने अन्तःपुर में रक्खूँगी, वत्स भरत और माता कौशल्याजी भी इस मृग को देख कर आश्चर्य चकित होंगी। यदि आप उसे जीता न पकड़ सकें तो खैर मार कर ही लाइये। यों भी उसका सुवर्ण केश-युक्त चमड़ा बैठने के लिए एक अनूठी चीज़ होगी।" इस प्रकार सीताजी के हर्ष और उत्सुकता-युक्त

संभाषण को सुन कर श्रीरामजी ने लक्ष्मणजी से कहा:—
"लक्ष्मण, मेरा धनुष्य तो ले आओ। सचमुच ही यह सुवर्ण के सदृश स्वरूप वाला मृग किसके चित्त को न चुराएगा? मैं तो समझता हूँ कि किसी भी अज, कदली या प्रियकी का चर्म इस मृग के चर्म के सदृश सुख-स्पर्श नहीं होगा। इसलिए तुम यहीं पर रह कर मैथिली की रक्षा करो। मैं शीघ्र ही इस मृग को जीता या मार कर ही ले आता हूँ।" यों कह कर अपने तीन स्थानों पर झुके हुए धनुष को ले कर जो एक सुंदर भूषण ही था, श्रीरामजी उस मृग का पीछा करने लगे। कभी उस मृग को भगाते और कभी तृण के लोभ से उसे फँसाने का प्रयत्न करते हुए वे उसका पीछा कर रहे थे। अंत में वह मृग शंकित हो आकाश में उछलने लगा। अब श्रीराम ने देखा कि शायद यह हमारे हाथ से निकल जायगा। अत: अचूक निशाना ताक कर अपने धनुष से श्रीराम ने ऐसा बाण छोड़ा कि वह सर्र से जा कर उस मृग के हृदय में जा घुसा। पर वह सचमुच का मृग तो था नहीं। बाण लगते ही मृग रूप नष्ट हो कर वह मारीच राक्षस मृत्यु-वेग से आकाश में एक ताड़ के इतना ऊँचा उड़ा और फिर प्राण छोड़ कर नीचे गिर पड़ा। पर एक बात वह नहीं भूला। ऊँचे उड़ते हुए उसने रावण के संकेत के अनुसार "हा सीता! हा लक्ष्मण! जैसे श्रीराम के शब्दों का अनुकरण कर के जोर से चिल्ला दिया। उस विचित्र कपट शब्द को सुन कर और मृग के स्थान पर राक्षस को मरा हुआ देख कर राम बड़े भयभीत हुए और उन्होंने निश्चयपूर्वक जान लिया कि यह राक्षसों का कपट है। यह सोच कर उनके शरीर के रोंगटे खड़े हो गये कि उस शब्द को सुन कर

लक्ष्मण और सीताजी की क्या दशा होगी। पर, वे धैर्य धारण कर के एक दूसरे मृग को मार कर अपने साथ लेते हुए शीघ्र ही राम जन-स्थान की ओर लौटे।

उधर आश्रम में सीताजी ने ज्योंही श्रीरामजी का वह आर्त स्वर सुना, त्योंही वे बड़ी घबड़ा कर लक्ष्मणजी से बोलीं:—वत्स "लक्ष्मण, दौड़ो। ज्ञात होता है कि आर्यपुत्र पर कोई संकट आया है; और वे तुम्हें पुकार रहे हैं। जाओ और दौड़ कर उनकी रक्षा करो।" पर, श्रीराम की आज्ञा का स्मरण कर के लक्ष्मण अपने स्थान पर से नहीं हटे। तब सीताजी ने अत्यन्त क्रुद्ध होकर उनसे कहा:—"लक्ष्मण, मालूम होता है कि तुम्हारे मन में मेरे विषय में कोई पाप समाया हुआ है। इसीलिए तुम श्रीरामजी की रक्षा के लिए नहीं जा रहे हो। श्रीरामजी पर जो संकट आया है मालूम होता है, तुम उससे खुश हो और इसलिए चुप-चाप बैठे हो। जान पड़ता है कि तुम नहीं चाहते कि वे सकुशल और सुरक्षित लौट आवें। यदि ऐसा था तो श्रीराम को अपना गुरु जान कर उनकी सेवा करने के लिए तुम यहाँ पर क्यों आये? उनका जीवन-संकट में पड़ जाने पर मुझ अकेली के जीने से लाभ ही क्या? इस प्रकार सीताजी के उक्त विचित्र संभाषण को सुनकर लक्ष्मण अत्यन्त दुखित हुए। उन्होंने हाथ जोड़ कर सीता से कहा—"आर्ये, पन्नग, असुर, गंधर्व, देव, दानव, और राक्षस इनमें से किसी में भी इतनी सामर्थ्य नहीं कि वे आपके पति को जीत सकें। मैं आपको यहाँ पर अकेली छोड़ कर नहीं जा सकता। राक्षस बड़े मायावी होते हैं। वे भिन्न-भिन्न मनुष्यों के शब्दों

का अनुकरण करके मनुष्यों को धोखा देते हैं और फिर उनकी हिंसा करते हैं। इसलिए आप उन शब्दों को आर्य श्रीराम के शब्द न समझें।" लक्ष्मण के ये वाक्य सुनकर तो सीताजी और भी अधिक क्रुद्ध हुईं और वे उनसे कठोर शब्दों में कहने लगीं:—"अनार्य, दुष्ट, कुल पांसन! सचमुच तुम्हारी आंतरिक इच्छा है कि श्रीरामजी की मृत्यु हो जावे। इसीसे तुम ऐसी बे सिर पैर की बातें कह रहे हो। पर, इसमें आश्चर्य की क्या बात है? सौतेले भाई इसी प्रकार मुंह पर मीठी बातें बना कर पीछे से आदमी पर छुरी फेरते हैं। तुम गुप्त रीति से अपने मन में मेरी प्राप्ति की इच्छा करके अथवा भरत को सहायता से षड्यंत्र रच कर ही श्रीरामजी की मृत्यु की राह देख रहे हो। पर, याद रखना मैं तुम्हारी उस इच्छा को पूरी न होने दूँगी। तुम्हारे सामने ही मैं अपने प्राण दे दूँगी, क्योंकि आर्यपुत्र श्रीरामजी के विना मैं इस पृथ्वी पर एक पल भर भी जीती नहीं रह सकती।" उनकी ये निश्चयात्मक कठोर बातें सुन कर लक्ष्मण बड़े दुःखित हुए, उन्होंने हाथ जोड़ कर कहा:—"इस समय मैं आपको कुछ भी उत्तर नहीं दे सकता। और चूंकि आप मुझे मेरी इष्ट-देवता के सदृश हैं। मैं आपकी आज्ञा को टाल भी नहीं सकता। यद्यपि आपके ये उद्गार स्त्री-स्वभाव का ही परिचय देते हैं, पर ये गरम तेल की तरह मेरे कानों को जला रहे हैं। हे बन देवताओ, मैंने जो योग्य सलाह दी और उसपर आर्या सीताजी ने जो कुछ कहा वह आप सुन ही चुकी हैं; अतः मैं आर्य श्रीराम की आज्ञा का उल्लङ्घन कर के इन्हें यहीं पर अकेली छोड़ जा रहा हूँ; आप इनकी रक्षा कीजिएगा। ज्येष्ठ-बंधु की

आज्ञा-पालन करते हुए भी आप मुझ पर स्त्री-स्वभाव के अनुसार व्यर्थ ही दोष मढ़ती हैं, इससे ज्ञात होता है कि जरूर ही आप पर कोई न कोई नवीन संकट आने वाला है। अस्तु। ये बन-देवताएँ तुम्हारी रक्षा करेंगी। यह देखिए, मैं आर्य श्रीराम की रक्षा करने के लिए जाता हूँ।" यों कह कर वे अपना धनुष बाण ले कर वहाँ से चल दिये। (अर० स० ६१-४५)

ज्योंही लक्ष्मण बाहर गये त्योंही मौक़ा देख कर रावण आश्रम की ओर चला। उसने त्रिदण्डी संन्यासी का भेष धारण किया था. गेरुए वस्त्र ओढ़ कर सिर पर अपने केशों की जटा बना ली थी। हाथ में छाता, पांवों में जूते, और बाएँ कंधे पर दंड और कमंडलु लटका लिए थे। इस प्रकार कपट रूप बना कर जिस प्रकार सूर्य, चंद्र-विहीन संध्या को अंधकार ग्रस लेता है उसी प्रकार श्रीराम-लक्ष्मण द्वारा अरक्षित सीताजी का हरण करने के लिए रावण ने आश्रम के द्वार में प्रवेश किया। उस समय उसने जो उग्र स्वरूप बनाया था उसे देख कर जनस्थान के वृक्षों तक के रोंगटे खड़े हो गये। भगवती गोदावरी नदी का शीघ्रगामी प्रवाह भी भय से मंद हो गया। समस्त पक्षी और मृग भी अपने-अपने स्थान पर ठिठक कर खड़े हो गये। ज्योंही रावण आश्रम-द्वार में, घुसा, सीताजी शोक करती और आँसू बहाती हुई उसे दिखाई दीं। उनके पूर्णेन्दु के सदृश मुख को देख कर रावण आश्चर्य-चकित हो कर बोला:—"हे रमणी, तेरे इस सुंदर शरीर और रति के सदृश सौंदर्य को देख कर मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है। भला कह तो, तू कौन है ? क्या तू श्री है ? लक्ष्मी है, या

कोई स्वर्गीय अप्सरा है ? और इस निर्जन वन में तू क्यों आई ?" सीताजी ने देखा कि अपने आश्रम पर एक सन्यासी आया है; उन्होंने उठ कर उसका स्वागत किया और फिर तृण से ढँके हुए कूप की तरह शांत भेष धारण किये हुए उस भयंकर राक्षस के प्रश्नों का उन्होंने यों उत्तर दिया। "अतिथे, मैं राजा दशरथ की पुत्र-वधू और जनक की कन्या हूँ। मेरे पति आर्य श्रीरामचन्द्रजी अपनी सौतेली माता के आग्रह और पिताजी की आज्ञा से चौदह वर्ष तक वन में रहने के लिए इस दण्डकारण्य में आये हुए हैं। और उन्हीं के साथ अपनी इच्छा से आनन्दपूर्वक मैं भी आई हूँ। मेरे एक छोटे देवर-लक्ष्मण भी हमारे साथ हैं। राम और लक्ष्मण अभी बाहर गये हैं। वे बहुत सा वन्यमाँस ले कर शीघ्र ही लौटेंगे और फिर आपका उचित आदरातिथ्य करेंगे। बताइए आप कौन हैं आपका गोत्र और कुल आदि तो सुनाइए। रावण ने उत्तर दिया :—
"इस चराचर सृष्टि के जड़ पदार्थ तथा देव, असुर मनुष्यादि सारे प्राणी जिसके नाम-मात्र से काँपते हैं, वही राक्षसों का अधिपति रावण मैं हूँ। कौशेय वस्त्र धारण किये हुए तुम्हारी इस सुवर्ण-तनु को देख कर मैं कामवश हो गया हूँ, इसलिए चलो, मैं तुम्हें अपने महल में ले चलूँ। सारे जगत् की उत्तमोत्तम और बल-पूर्वक लाई हुई सोलह सहस्र स्त्रियों में मैं तुम्हें अपनी पटरानी बना दूँगा। समुद्र से घिरी हुई मेरी राजधानी लंका त्रिकूट पर्वत के ऊँचे सिखर पर बसी हुई है। लंका के सुंदर रमणीय उपवनों में जब तुम मेरे साथ विहार करोगी, तब अयोध्या अथवा इस जन-स्थान का तुम्हें स्मरण भी न होगा। यह सुन कर सीताजी तो मारे क्रोध के आग बबूला हो गईं। उसका धिक्कार कर, वे बोलीं–

"अरे मूर्ख पर्वत के सदृश निष्कंप इन्द्र के समान पराक्रमशाली तथा सागर के सदृश अक्षोभ्य श्रीरामचंद्र जी की मैं पतिव्रता भार्या हूँ। सर्व लक्षण-संपन्न तथा एक महान् वट-वृक्ष की भांति सबको आश्रय देने वाले और सत्यसंध श्रीरामचंद्रजी की मैं पति-सेवा-परायण धर्मपत्नी हूँ। सिंह के सदृश गति, पराक्रम और क्रोध वाले उन महाबाहु पूर्ण-चंद्रानन श्रीरामजी की मैं प्रिय कान्ता हूँ। अरे गीदड़, सिंह-वधू की इच्छा करते हुए तुझे लज्जा नहीं आती? मूर्ख, मुझे पाने की इच्छा करना मानों भूखे सिंह के मुँह में घुसना या मंदर पर्वत को हाथ से उठाने का प्रयत्न करना या भयंकर कालकूट विष को पीकर सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करना ही है। अरे मूर्ख, श्रीरामजी की भार्या को हरण करना माना अपने गले में भारी पत्थर बांध कर समुद्र को लांघ जाने की इच्छा करना ही है। कहां श्रीराम और कहां तू? अरे, सिंह और लोमड़ी, हाथी और बिल्ली, गरुड़ और कौआ, चंदन और कीचड़, सोना और शीशा अथवा समुद्र और पानी के गढ़े के बीच जितना अंतर है, ठीक उतना ही श्रीरामजी और तुझ में है। यह सुन कर रावण बोलाः—"सीता, क्या तू मेरे पराक्रम को नहीं जानती? मैंने अपने भाई कुबेर को जीत कर उससे उसका प्यारा पुष्पक विमान छीन लिया है। समस्त देवताओं को मैं जीत चुका हूँ। वायु तथा सूर्य चंद्रादिग्रह-गण भी मेरे वशवर्ती हैं। फिर बेचारा राम मेरे सामने किस खेत की मूली है? वह तो पिता के द्वारा निर्वासित एक सामान्य मनुष्य है। वह तो मेरे सामने एक मच्छड़ है। भाग्योदय के कारण तेरे सामने आई हुई इस थाली का तू त्याग न कर; चल, मेरी स्त्री

बन कर त्रैलोक्य के राज्य का उपभोग कर।" यह सुन कर तो सीताजी का क्रोध बेहद बढ़ गया। उनका शरीर कांपने लगा, नेत्र क्रोध से लाल हो गये, वे अत्यंत रोषयुक्त स्वर से बोलीः—"अरे दुष्ट! तू वैश्रवण का भाई कहला कर पर-स्त्री पर इस प्रकार कुदृष्टि डालता है? जरूर ही तेरे इस बुरे आचरण से सारे राक्षसों का नाश होगा। अरे, जिस प्रकार इन्द्र की भार्या शची अप्राप्य है, उसी प्रकार राम की भार्या भी तुझे नहीं मिल सकती।" इस प्रकार सीताजी के धिक्कारयुक्त वाक्य सुन कर रावण ने अत्यंत क्रुद्ध हो जोर से एक ताली बजा कर अपना असली उग्र स्वरूप धारण कर लिया। एकाएक दस शिर और बीस भुजाओं वाला, वह भयंकर पर्वतप्राय राक्षस सीताजी के सामने खड़ा हो कर बोला—"क्या तुझे मेरा पराक्रम और बल मालूम नहीं है? अरी, मैं समुद्र को पी सकता हूँ, स्वयं यम को समरांगण में मार सकता हूँ सूर्य को तीक्ष्ण शरों से जर्जर कर सकता हूँ और इस पृथ्वी को भी नष्ट कर सकता हूँ। अरी उन्मत्त सीता, ले, अब तू मेरे पराक्रम को ही देख।" यों कह कर उसने आगे को बढ़ कर अपने एक हाथ से सीताजी के केश पकड़ लिये और दूसरे हाथ से उनके पैर पकड़ कर उन्हें उठा कर आश्रम के बाहर ले गया। उसके उग्र स्वरूप को देख कर सारी वन-देवताएँ भी भयभीत हो कर भाग गईं। इतने में उसका रथ भी वहाँ पर आ पहुँचा। झट उसने उसमें सीताजी को रक्खा, आप भी उसपर चढ़ा और रथ आकाश मार्ग से चल दिया। सीताजी जोर-जोर से रो रही थीं:—"हे आर्य पुत्र श्रीराम, हे लक्ष्मण, दौड़ो! यह कामरूपी राक्षस मुझे ले कर

भागा जा रहा है। हे राघव, तुम सब दुष्टों का नाश करने वाले हो। फिर तुम्हें यह दुष्ट कृत्य क्यों नहीं दिखाई देता? नाथ, दौड़ो? हाय अब तो कैकेयी के मनोरथ पूरे हो गये! क्योंकि, धर्मशील श्रीराम की धर्म-पत्नी को दुष्ट रावण लिये जा रहा है! हे लताओ और वृक्षो, श्रीरामजी को मेरे हरण के समाचार कह देना। माता गोदावरी, श्रीरामचंद्रजी से कहियो कि सीता को रावण ले भागा है। हे परमात्मा अब इस पंचवटी के दर्शन मुझे कैसे नसीब होंगे? वन देवताओ, अब मैं तुमसे बिदा माँगती हूँ। श्रीरामजी से मेरे समाचार कह दीजिए।" इत्यादि प्रकार से सीताजी विलाप करती जा रही थीं। राह में उन्हें अपने आश्रम से थोड़ी ही दूरी पर एक महावृक्ष पर बैठे ऊंघते हुए जटायु दीख पड़े। तब इस आशा से कि वे तो जरूर श्रीरामचंद्रजी से सारा वृत्तान्त कह देंगे, सीताजी ने चिल्ला कर उन्हें पुकारा:—"महाराज जटायो, यह देखो पापी-दुष्ट राक्षस मुझ अनाथा को ले जा रहा है? आप वृद्ध हैं; अतः आपसे तो इस समय कुछ भी न बन पड़ेगा। परन्तु इतना जरूर कीजिए कि श्रीरामचंद्रजी को ये समाचार अवश्य सुना दीजिए।" यह दीन वचन सुनते ही वृद्ध जटायु ने आँखें खोल कर देखा कि सचमुच रावण सीता को ले कर भागा जा रहा है। त्योंही वे चिल्ला कर बोले:—"हे दुष्ट दशग्रीव, यद्यपि मैं वृद्ध हूँ, और तू तरुण, रथारूढ़ और कवच खड्गधारी है, तथापि याद रख मैं तुझे वत्सा वैदेही को सरलता से न ले जाने दूँगा।" यों कह कर वे जोर से रथ पर झपटे। अपनी तीक्ष्ण चोंच और नाखूनों से उसके रथ के खच्चरों को मार जटायु ने डाला, तथा रावण की बाईं भुजा पर भी अनेक घाव कर

दिये। तब रावण भी सीताजी को रथ से उतार कर उनसे युद्ध करने के लिए तैयार हुआ। थोड़ी देर तक दोनों में घोर युद्ध होता रहा, पर अन्त में रावण ने अपने खड्ग से जटायु के पंख और पांव काट लिये। जटायु विवश हो पृथ्वी पर गिर पड़े। वह दुखदाई दृश्य देख कर सीताजी ने उस वृद्ध गृध्र के लिए बहुत शोक किया। "हे आर्य पुत्र! यह गृध्र पक्षी तक मेरी रक्षा के लिये दौड़ रहे हैं, फिर आपको अभी तक कैसे मेरे समाचार नहीं मालूम हुए? आर्यपुत्र यह देखो, तात जटायु मेरे लिए रावण से युद्ध करते-करते करते मर कर पृथ्वी पर गिर पड़े हैं। ओ काकुस्थ हे लक्ष्मण, दौड़ो इस अनाथा की रक्षा करो।" यों कहते हुए सीताजी इधर-उधर दौड़ने लगीं और वृक्षों से लिपटने लगीं। तब रावण ने शीघ्रता से उनके सिर के केश बल-पूर्वक पकड़ लिये। सीताजी चिल्ला रही थीं "अरे दुष्ट मुझे छोड़ दे।" सारी चराचर सृष्टि अंधकार मय हो गई। मानों सृष्टि ने सीताजी के इस असह्य दुःखों को देखने से आंखें मूंद लीं। पर रावण तो एक हाथ से सीताजी के बाल पकड़ के दूसरे हाथ से उन्हें उठा कर आकाश में उड़ कर भाग गया। उस समय सीताजी के शिर के बालों में खोंसे हुए फूल नीचे गिर पड़े। उनके चरणों से रत्न-भूषित नूपुर हाथों से कंकण और गले का हार भी टूट पड़ा। रावण की परछाईं को आवेग के साथ दौड़ती हुई, देख कर बन के सिंह और बाघ भी क्रुद्ध हो उसके पीछे दौड़ने लगे। पर्वत भी अपने शृंग-रूपी हाथों को ऊपर उठा कर दुःख से जल-प्रपात रूपी अश्रु-धारा बहाने लगे। सूर्य रजोध्वस्त हो कर दीन सा दिखाई देने लगा। सभी जीव शोकाकुल होने लगे। हिरनों के बच्चे चिल्लाने लगे, पर

सीताजी को ऐसा कोई न मिला न दिखा, जो उस दुष्ट राक्षस से उनको छुड़ा सके। अन्त में पर्वत के शिखर पर पाँच बन्दरों को बैठे हुए देख कर इस आशा से कि, कदाचित ये श्रीरामचंद्रजी से मेरे समाचार कह सकेंगे, सीताजी ने अपने अन्य आभूषण एक वस्त्र में बांध कर ऊपर से उनकी ओर फेंक दिये। उस समय रावण तो अपने जल्दी पहुँचने और विचारों की धुन में मग्न था। इसलिए उसके ध्यान में वह बात नहीं आई। इस प्रकार रावण शीघ्र ही पंपा सरोवर के ऊपर से होता हुआ नदियों और पर्वतों को पीछे छोड़ता हुआ धनुष्य से छूटे हुए बाण के सदृश तेजी से बात की बात में समुद्र को लाँघ कर ठेठ लंका को जा पहुँचा। लंका में पहुँचते ही उसने सब से पहले आठ बलवान् राक्षसों को श्रीरामचंद्रजी पर दृष्टि रखने की आज्ञा दे कर जन-स्थान को भेज दिया और सीताजी को अपना नंदनबन से भी अधिक सुंदर और सुख कर अन्तःपुर दिखा कर कहा:—"सीता मैं बाईस करोड़ राक्षसों का अधिपति हूँ। तीनों लोक मेरे वश में हैं। स्वभावतः समस्त त्रिभुवन के रत्न भी मेरे यहीं हैं। तेरे सौंदर्य पर मैं मोहित हो गया हूँ; इसलिए मुझसे विवाह कर के तू मेरी स्वामिनी हो जा और इन तीनों भुवनों पर अपनी हुकूमत चला। अब राम की आशा छोड़। यह लंका सुवर्ण की दीवाल से चारों ओर से घिरी हुई है, इस द्वीप के आस पास समुद्र है। राम तो अकेला है, पैदल है और तिसपर भी मनुष्य यहाँ से तेरी मुक्ति वह कदापि नहीं कर सकता। इसलिए उसका ध्यान अब छोड़ दे और मुझे अपना ले। यह देख जिसके कटाक्ष-मात्र से समस्त त्रैलोक्य में उथल-पुथल मच जाती है वह रावण अपना सिर तेरे पैरों पर रखता

है।" कामातुर रावण की इन चाटूक्तियों को सुन कर सीताजी ने अपने सामने वस्त्र लगा कर बड़े दुःख से उत्तर दिया:—"रावण, ज्ञात होता है, तेरी मृत्यु बहुत ही निकट आ गई है। अरे, तू देवासुरों के लिए भले ही अवध्य होगा, परन्तु श्रीरामचन्द्रजी अपने अमोघ बाणों से तुझे यम-लोक को भेजे बिना न रहेंगे। तेरे इन करोड़ों राक्षसों का युद्ध में संहार हो जायगा और वे मिट्टी में मिल जावेंगे। अरे चोर, यदि तू श्रीरामजी के सामने मुझे इस तरह हरण करने का प्रयत्न करता तो तेरे इन दशों शिरों को वे उसी समय अपने सुवर्ण मंडित शरों से तोड़ डालते।" सीताजी के इन कठोर वचनों को सुनकर रावण क्रोध से संतप्त हो कर बोला:—"सीता, मैं तुझे और भी एक वर्ष की अवधि देता हूँ। यदि इस अवधि में तू मेरे अधीन न हुई तो मेरे रसोइये तेरे टुकड़े-टुकड़े कर के, तेरे मांस को पका कर, मेरे प्रातःकाल के उपहार के लिये परोसेंगे। अरी राक्षसियो लो, इसे अशोक-बन ले जा कर रक्खो और इस पर खूब कड़ा पहरा करती रहो। इससे कोई बात-चीत न करने पाये और न कोई इसके आस-पास भी फटकने पावे।" रावण की आज्ञा होते ही सैकड़ों राक्षसियां सीताजी को घेर कर अशोक-बन को ले गईं। इधर ब्रह्माजी को चिंता हुई यदि कहीं निराशा और दुःख से सीताजी अपने प्राणों को ही न त्याग दें। नहीं तो वह एक महान आपत्ति होगी; इसलिए उन्होंने इन्द्र द्वारा उनकी ओर दिव्य पायस भेजा और उनपर पहरा देनेवाली राक्षसियों को निद्रा की सहायता से अचेत करके सीताजी को समझा बुझा कर उन्हें वह पिला दिया, जिससे वे क्षुधारहित हो गईं। उस दशा में भी वहाँ से श्रीरामजी द्वारा मुक्ति पाने की आशा से वे उस कष्ट-प्रद स्थिति

को सहने लगीं। (अरण्य सं० ४६—५७)

उधर श्रीरामचन्द्रजी मारीच राक्षस का वध करके और उसकी बनावटी अंतिम पुकार से कुछ चिंतित हो कर वहाँ से बड़ी शीघ्रता से चल दिये। रास्ते में पीछे की ओर से गीदड़ों का रोना सुन कर तो वे और भी अधिक भयभीत हो गये। उस अपशकुन के बाद ही दीन और शून्य दृष्टि किये लक्ष्मणजी उन्हें दिखाई दिये। तब उन्होंने बड़ी उत्सुकता से उनसे पूछा:—"लक्ष्मण तुम बिना मेरी आज्ञा के सीताजी को आश्रम ही में अरक्षित, अकेली कैसे छोड़ कर के चले आये?" लक्ष्मणजी ने बड़े दुःख से सारी घटना कह सुनाई। तब तो वे और भी अधिक भयभीत हो गये और झट से दौड़ते हुए आ कर देखा तो आश्रम शून्य! शोक से व्याकुल हो कर वे जोर-जोर रोने लगे—"लक्ष्मण, दंडकारण्य में भी मेरे साथ आनेवाली प्यारी वैदेही कहाँ चली गई? अरे, जिसने मुझ राज्यभ्रष्ट को अरण्य में भी नहीं छोड़ा, वह मेरी प्रिया सीता अब कहाँ है? वीर लक्ष्मण, सीताजी के बिना मैं पल भर भी नहीं जी सकता। लक्ष्मण, क्या सीता जीवित है? अरे कैकेयी, का मुझे दिया हुआ निर्वासन ही तो कहीं आज सफल नहीं हो गया? हाय, मेरी सीता कहाँ है?" यों कहते हुए आश्रम और उसके आस-पास सीताजी के क्रीड़ा करने, बैठने आदि के सभी स्थान उन्होंने ढूंढ डाले। "हाय! कहीं सीता की मृत्यु तो नहीं हो गई? बहुधा किसी राक्षस ने उसे खा लिया होगा? नहीं, अब ठीक ठीक याद आ गई, वह फूल चुनने के लिए अथवा सरोवर पर—नहीं नदी पर पानी लाने के लिए ही गई होगी।" यों कहते हुए श्रीरामजी चारों ओर दौड़ने लगे। रो-रो कर उनकी

आँखें तमाम सुर्ख हो गईं। वे उन्मत्त से दिखाई देने लगे। सीताजी के शोक ने मानों उन्हें पागल बना दिया। वे कदंब वृक्ष से लिपट कर उससे पूछने लगे:-"कदंब तू सीता को बहुत प्रिय था। इसलिए जल्दी कृपा करके कह तो सही कि मेरी सीता कहाँ पर है? हे बिल्व वृक्ष, पीले वस्त्र धारण करनेवाली मेरी सीता को यदि तू ने देखा हो तो कह दे कि वह इस समय कहाँ गई है? हे अर्जुन वृक्ष, सीता तुझे रोज पानी पिलाती थी। बता वह कहां है? वह जीवित तो है न? हे ककुभ, हे प्रियक, यदि तुम्हें मालूम हो तो उसका पता-ठिकाना बतला दो! हायःवह जनकसुता सीता कहाँ गई? हे अशोक, क्या तुम भी मुझे मेरी प्रिया का पता बतलाकर अपने नाम को सार्थक नहीं करोगे? ओ कर्णिक, सर्वदा तेरे फूलों को अपने कानों पर वह रखती थी। क्या तू ने मेरी सखी को देखा है"? इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी पागल की नाईं कटहर, जंबु, बकुल, पुन्नाग, चंदन आदि वृक्षों के पास जा जा कर उनसे सीताजी के समाचार पूछने लगे। पर जब उनमें से किसी ने भी कुछ उत्तर नहीं दिया, तब वे उन्मत्त के सदृश मृगों के पीछे दौड़ने लगे। "हे मृग, क्या मेरी प्राण प्रिया तुम्हारे यहाँ है? अरे बनराज, क्या तू कह सकता है कि मेरी सिंह-कटि प्रिया कहाँ है? गजेन्द्र, क्या तुमने मेरी गजगामिनी कांता को देखा है?" इस प्रकार विलाप करते हुए वे चारों ओर दौड़ने लगे। "वैदेही कितना सताओगी, बहुत हो चुका अब परिहास को छोड़ कर आओ प्यारी, मुझे दर्शन दो। उस वृक्ष के पीछे तो तुम नहीं न छिपी हो—प्रिये, मुझपर करुणा करो। सखी इतनी हंसी तो तुमने पहले कभी नहीं की थी। अहा, वह देखो मेरी जानकी खड़ी है। कहां है—हैं?

यह क्या हुआ। सखी सीता, तुम अभी की अभी कहाँ चली गई ? अरे, कहीं राक्षसों नेतो तुम्हें नहीं खा डाला ?" यों कह कर और निराश हो कर वे नीचे बैठ गये। "हे प्रिया, हे सीता" चिल्ला कर उन्होंने बहुत विलाप किया। उनके राजीव लोचन बारम्बार अश्रु-प्रवाह के कारण सुर्ख हो गये। तब लक्ष्मणजी ने हाथ जोड़ कर उन्हें सब प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया, पर उनका ध्यान कहां था ? बस वही विलाप, वही बड़बड़ाना वही उन्मत्तता ! "हे सीता, हे जानकी, हे प्रिया, वैदेही, तू कहां चली गई ? लो कैकेयी, अब तो तुम्हारे मनोरथ पूर्ण हो गये न ? सीता सहित मैं अध्योध्याजी से आया था, अब उसके बिना अयोध्या-निवासियों को अपना मुँह कैसे दिखाऊँगा ? पर अब मुझे अयोध्या में जा कर करना ही क्या है ? सीता के बिना अब तो स्वर्ग भी मेरे लिए शून्य है। वत्स लक्ष्मण जाओ। अब तुम अयोध्या को लोट जाओ, और वत्स भरत को दृढ़ आलिंगन दे कर उससे मेरा यह संदेश सुना दो कि 'भाई मेरी आज्ञा के अनुसार अब तुम ही राज-काज सँभालो और माता कौशल्या और सुमित्राजी का तुम ही पालन करो'। जाओ लक्ष्मण, अब देरी करने से क्या लाभ है ? मैं तो अब यहीं पर मरूंगा।" यों कह कर दीन स्वर से रोते हुए वे पृथ्वी पर लोटने लगे। इस प्रकार बहुत देर तक उनके शोक करने पर लक्ष्मणजी ने रामचन्द्रजी के पाँव पकड़ कर प्रार्थना की:—"महाराज, यदि आप ही शोक-मूढ़ हो कर धैर्य को त्याग देंगे तो फिर अन्य लोगों की क्या दशा होगी ? कुछ तो शांति धारण कीजिए। आर्य, संकट किस पर नहीं आते ? सारे जगत के नेत्र तथा धर्म प्रवर्तक सूर्य और चन्द्रमा को भी तो ग्रहण लगता है।

संसार में प्रत्येक मनुष्य अपने-अपने भाग्य का अधिकारी है। बुद्धिमान् मनुष्य तो अपनी बुद्धि के ही द्वारा दुःख का प्रतिकार करते हैं। स्वयं आपही ने सैकड़ों बार मुझे ज्ञान की बातें सुनाई हैं, तब मैं आपको क्या उपदेश कर सकता हूँ? आप स्वयं ही धैर्य धारण करके शान्ति पूर्वक ज़रा इसका विचार कीजिए।" तब श्रीरामचन्द्रजी ने उत्तर दिया :—"भाई लक्ष्मण इस समय तो मेरी बुद्धि बिलकुल काम नहीं देती। तुम्हीं बताओ कि मैं क्या करूँ, कहां जाऊँ और मेरी प्रिया को कहाँ पर ढूढूँ? लक्ष्मणजी ने उत्तर दिया :—"सब से पहले हमें जनस्थान को ही खोज डालना चाहिए।" यों कह कर वे चारों ओर घूमने लगे। शीघ्र ही उन्हें एक जर्जर रथ और उसके पास ही लोहू-लुहान और पंख कटकर नीचे गिरे हुए घायल, मरणोन्मुख जटायु दीख पड़े। तब इन दोनों भाइयों को देखकर जटायु खून की कय करते हुए दीन स्वर में बोले:-"वत्स श्रीराम जिसे तुम औषधि की तरह ढूँढ रहे हो, उस तुम्हारी प्रिय कांता को मेरे प्राणों सहित, रावण हर ले गया है। तुम दोनों को आश्रम में न देख कर लङ्का का राजा रावण तुम्हारे आश्रम में घुस गया और उस वत्सा को बल पूर्वक उठा कर रथ में डाल ले उड़ा। वत्स करुण क्रन्दन सुन कर सीता का मैंने उसके रथ पर झपट कर उसे तोड़ डाला। घोड़े मार गिराये, स्वयं रावण के धनुष को भी तोड़ डाला। पर जब उसने अपने खड्ग से मेरे पंख काट लिये तब मैं विवश हो गिर पड़ा और वह सीता को उठा कर आकाश मार्ग से चला गया।" उस गृध्र के मुँह से ये समाचार पा कर श्री रामजी को तो इतना दुःख हुआ कि वे मूर्च्छित हो कर पृथ्वी पर गिर पड़े। पर कुछ ही देर में सचेत हो कर वे बोले:—

"लक्ष्मण, मैं अपने दुर्भाग्य का कहां तक वर्णन करूँ? मैं राज्यभ्रष्ट हुआ, जो सीताजी मुझे बन में भी सुख देती थी, वह भी नष्ट हो गई। तथा यह मेरा सखा और सहायक पक्षी भी मारा गया। इस समय यदि मैं समुद्र में डूब मरने के लिए जाऊँ तो मुझे भय है मेरे दुर्भाग्य के कारण बेचारा वह भी सूख जायगा! अरे, यह मेरे पिताजी का मित्र भी आखिर मेरे लिए लड़ कर मारा गया!" यों कह कर उन्होंने प्रेमपूर्वक उस गिद्ध के शरीर पर अपना हाथ फेरा। तब उसने अपनी गर्दन फैला कर और पाँव पसार कर श्रीरामचन्द्रजी के चरणों में अपने प्राण त्याग दिये। "लक्ष्मण, सहस्रों वर्ष तक इस दण्डकारण्य में सुख पूर्वक रह कर इसने अन्त में मेरे प्रीत्यर्थ अपने प्राण त्यागे हैं। अतः इसकी अन्तिम क्रिया अब मुझे ही करनी चाहिए। यह पितृ-सखा हमें पूज्य और माननीय है। तुम शीघ्रही लकड़ी ले आओ, हम इसके और्ध्वदैहिक संस्कार करेंगे।" इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञानुसार लक्ष्मणजी ने शीघ्र ही सूखी लकड़ी इकट्ठी की और उन दोनों भाइयों ने अग्नि जलाकर जटायु के अन्तिम संस्कार कर दिये। अनन्तर वे गोदावरी पर गये और स्नान कर के जटायु को उन्होंने उदक दिया।

इस प्रकार जटायु की अंतिम क्रिया कर लेने पर वे दोनों फिर सीताजी की खोज में निकले। कुछ देर तक वे पश्चिम दिशा की ओर गये और फिर दक्षिण दिशा की ओर मुड़े। फिर वे जनस्थान से तीन कोस की दूरी पर क्रौंचारण्य में पहुँचे। उसे पार करके पूर्व की ओर मुड़ने पर उन्हें एक और घोर वन में से हो कर जाना पड़ा। फिर वे भयंकर खोह में से हो कर एक महारण्य में घुसे वहां उन्हें एकाएक भयंकर शब्द सुनाई दिया।

ज्योंही उन्होंने आगे की ओर देखा तो उन्हें एक भयंकर राक्षस, मार्ग को रोके हुए दीख पड़ा। उसके पर्वत-प्राय शरीर में शिर का कहीं पता ही न था। उस महा-भयंकर कबन्ध राक्षस के वक्षस्थल में एक विकराल आँख जरूर थी। पेट के स्थान में फैलाया हुआ बड़े बड़े दांतोंवाला मुंह भी दूर से दिखाई देता था। उसकी जांघें टूटी हुई थीं और इसीसे वह एक ही स्थान पर पड़ा रहता था। पर, उसके हाथ बड़े ही लंबे पूरे एक एक योजनके थे! उन हाथों के फेर में जो प्राणी आ जाता फिर वह हिरन, बाघ या हाथी ही क्यों न हो, बस उसे पकड़ कर वह सीधा अपने मुँह में रख शीघ्र ही चट कर जाता। हाँ, तो उस कबंध के भयंकर शरीर को देखते ही लक्ष्मणजी का तो धीरज ही जाता रहा और वे जोर जोर से चिल्ला कर श्रीरामचन्द्र से सावधान हो जाने के लिये, कहने लगे। परन्तु इतने में वे दोनों भाई कबंध के उन लम्बे लम्बे हाथों के चक्कर में आ ही तो गये और लगा वह इन दोनों को अपने मुँह की ओर खींचने। यह देखकर श्रीरामचन्द्रजी ने लक्ष्मणजी से कहा:—"भाई लक्ष्मण, घबराओ नहीं। लो इसके हाथों को हो हम नष्ट कर डालें।" और उन दोनों ने फौरन अपने तीक्ष्ण खड्गों से उसके दोनों हाथों को छाँट दिया। हाथों के कटते ही कबंध जोर से चिल्लाकर औंधे मुंह गिर पड़ा। उसने पूछा:—"तुम कौन हो?" तब लक्ष्मणजी ने कहा:—"ये दशरथी श्रीरामचन्द्र पिता की आज्ञा पा कर वन में रहने के लिए आये हैं।" यह सुनकर तो उसे बड़ा ही आनन्द हुआ और वह बोला:—"अहा आज तो आपके दर्शन पाकर मैं धन्य और शापमुक्त हो गया हूँ। मैं मनु का पुत्र हूँ। पहले मैं भयंकर स्वरूप

धारण करके ब्राह्मणों को डराया करता था। तब महर्षि स्थूलशिरा ने क्रुद्ध हो कर कहा:—"तुम्हारा ऐसा ही स्वरूप हो जावेगा।" तभी से मैं इस प्रकार भयंकर स्वरूप वाला हो गया हूँ। अनंतर मैंने तपस्या करके ब्रह्माजी से दीर्घायु प्राप्त कर ली। और उन्मत्त मतिभ्रष्ट होकर, मैंने इन्द्र पर चढ़ाई की। इन्द्र ने मुझ पर वज्र फेंका, जिससे मेरा शिर पेट में घुस गया और जांघें टूट गई। पर, जब मैंने इन्द्र से प्रार्थना की, तब उन्होंने ब्रह्माजी के वर के अनुसार मेरे दीर्घायु होने के लिए मुझे ये लम्बे हाथ प्रदान किये जिससे मैं अपना पेट भर सकूं और कहा कि जब श्रीरामचन्द्रजी तेरी भुजाएँ काट कर तुझे जला देंगे, तब तुझे अपना पूर्व स्वरूप प्राप्त होगा। इस प्रकार श्रीरामजी के दर्शन होने से मैं आज मुक्त हो गया हूँ। अब आप मुझे गढ़े में ढकेल कर मेरे इस शरीर को जला दें, जिससे मुझे अच्छी गति मिले। पर जब लक्ष्मणजी ने उससे पूछा कि—"क्या सीताजी को लेकर भागते हुए रावण को तुमने देखा है?" तब उसने कहा:— "यहाँ से दक्षिण की ओर पंपा सरोवर के तट पर, ऋष्यमूक पर्वत है उस पर सुग्रीव नामक एक बन्दर रहता है, उससे पूछने पर वह आपको सारा हाल बता देगा। और, यदि आप उसकी कुछ सहायता करेंगे तो वह भी आपकी बहुत कुछ सहायता करेगा।" यह सुन कर राम-लक्ष्मण बहुत आनन्दित हुए। तब उन दोनों ने एक गढ़ा खोद कर कबंध को उसमें ढकेल दिया और उस पर लकड़ी डाल कर उसे जला दिया। कबंध का शरीर जल कर खाक हो गया। अकस्मात उसमें से एक दिव्य शरीर प्रकट हो कर आकाश की ओर चला गया (अर०स०५८–७२)

वह दिव्य शरीर धारी दानव चलते समय श्रीरामजी से बोला:—"भगवन् इस पश्चिम के मार्ग द्वारा जाइए। वहां आपको रास्ते में जामुन, कटहर, अशोक आदि फल-फूलों से युक्त अनेक प्रकार के वृक्ष मिलेंगे, उनके मधुर फलों को खाते हुए, और एक टीले से दूसरे टिब्बे पर होते हुए आप बहुत जल्दी पंपा सरोवर पर पहुँचेंगे। पंपा का निर्मल और स्फटिक के सदृश स्वच्छ जल देखकर आप बहुत प्रसन्न होंगे। हंस, सारस आदि सरोवर के तट पर बैठे हुए पक्षी इतने निडर हैं कि वे आपको देखकर भी नहीं उड़ेंगे। क्योंकि वहाँ पर उन्हें कोई कभी नहीं मारता। उस सरोवर का जल कमल-पत्रों के दोनों से पीयेंगे तब आपको बड़ा आल्हाद होगा। संध्या के समय बैल के सदृश शब्द करनेवाले, भव्य शरीर धारी पीले बन्दर पानी पीने के लिए पंपा पर आवेंगे, तब उन्हें देखकर आपको बड़ा आश्चर्य होगा। उसी प्रकार बड़े बड़े हाथी और हाथी के बच्चे भी क्रीड़ा करते हुए वहाँ पर आपको दिखाई देंगे। उन सब को देख कर निःसन्देह आपका शोक हलका जायगा। पंपा के तट पर ऐसे भी अनेक माल्य, पुष्प और कमल हैं जो कभी सूखते ही नहीं और न टूट कर पृथ्वी पर ही गिरते हैं। पहले वहाँ पर मतंग ऋषि तप करते थे। उनके शिष्य जब वन से वन्य पदार्थों के बोझ सिर पर उठा कर लाते, तो सब पसीने से तर हो जाया करते और उनके पसीने की बूंदें जहाँ जहाँ पर गिरी थीं, वहाँ वहाँ पर दिव्य पुष्प उत्पन्न हो गये। उन दिव्य पुष्पों को देखकर के भी अवश्य आपका कुछ मनोरंजन होगा। मतंग ऋषि की वृद्धा परिचारिका शबरी अभी तक वहीं रहती है। वह भी आपही की राह देख रही है। पंपा के पश्चिमी

तीर पर ही मतंग ऋषि का आश्रम है। वहाँ पर कोई हाथी या बाघ भी नहीं जा सकता। जिससे मतंग वन नंदनवन के सदृश रमणीय तथा नाना प्रकार के मृग तथा पक्षियों से युक्त हो रहा है। उस वन को देख कर भी आपको बहुत आनन्द होगा। पंपा सरोवर के पूर्व की ओर ऋष्यमूक पर्वत है। वह इतना ऊंचा है कि उस पर चढ़ना अत्यन्त कठिन है। उसके शिखर पुष्पित वृक्षों से भरपूर हैं। उन शिखरों पर सोने से रात में स्वप्न में जो देख पड़ता है, वही दूसरे दिन प्रातःकाल में मनुष्य को मिल जाता है। अस्तु, पर्वत की एक भव्य गुफा में सुग्रीव रहता है। है। उसे उसके भाई किष्किंधा के राजा बाली ने अपने राज्य से निकाल दिया है। वह सर्वदा उस गुफा के द्वार पर एक भारी शिला रक्खे रहता है। उस गुफा के पास ही स्वच्छ ठंडे पानी से भरा हुआ एक सुन्दर सरोवर है। सुग्रीव कभी-कभी उस पर्वत के शिखर पर भी जा बैठता है। आप उससे अवश्य मिलें।"

इस प्रकार उन्हें उस प्रदेश का विस्तार पूर्वक ज्ञान करा कर वह दानव दानव-लोक को चला गया। तब राम-लक्ष्मण कबंध के बतलाये हुए मार्ग से चल दिये और शीघ्र ही पंपा सरोवर पर जा पहुँचे। उसके पश्चिम तट पर ही शबरी का आश्रम था। उनके वहाँ पहुँचते ही उन्हें देख कर शबरी हाथ जोड़ कर दौड़ी और उसने उन दोनों भाइयों को प्रणाम किया। अनन्तर उन्हें जल, अर्घ्य आदि देकर वन के उत्तमोत्तम फल उनके सामने रख कर बोली:—"भगवन् जब आप चित्रकूट गये थे, तभी मुझे आपके समाचार मालूम हो गये थे। उसी समय से मैं आपकी राह देख रही हूँ। आपके दर्शन करके आज मैं कृतार्थ, मुक्त हो गई। अब

उत्तम लोक में जा बसूंगी। यह आश्रम मेरे गुरु ऋषि मतंग का है और वे अनेक तप करके दिव्यलोक को चले गये हैं।" यों कहकर उसने उन्हें सारा आश्रम और वे कभी न कुम्हलाने वाले पुष्प भी बतलाये। फिर शबरी ने स्वयं चिता रच कर उसपर अपनी देह रख दी और उसमें आग जला दी एवं अग्नि के सदृश तेजस्वी देह धारण करके वह उत्तम लोक को चली गई। इसके बाद श्रीराम-लक्ष्मण भी पंपा सरोवर के पूर्व-तट की ओर चल दिये।

किष्किंधा कांड

पंपा सरोवर की शोभा को देख कर श्रीरामचंद्र का शोक और भी अधिक बढ़ गया। हेमंत ऋतु का अंत और वसंत-ऋतु का आरंभ-काल था। चारों ओर सुगंधित पुष्प प्रस्फुटित हो रहे थे, और उनका पराग मंद-मंद बहने वाली वायु के साथ-साथ दूर तक फैल रहा था। उस शीतल मन्द सुगंध वायु से तो श्रीरामचंद्र का शोक और भी धधक उठा। तब उन्होंने लक्ष्मणजी से कहा:—"लक्ष्मण, इ चों की शोभा को तो देखो। ये पुष्पयुत वृक्ष मेघों के सदृश चारों ओर से पुष्पों की वर्षा कर रहे हैं। पृथ्वी पर तो मानों पुष्पों का गलीचा ही बिछा दिया है! यह वायु मानों पुष्पों के साथ क्रीड़ा कर रही है। नीचे पुष्पों का ढेर लग गया है। कुछ पुष्प गिर रहे हैं, और कुछ तो वृक्षों पर ही अटक गये हैं। पर्वतों की इन खोहों में वायु मानों गा रही है। मत्त कोयलों की कूक से सारा वन गूंज रहा है। और उस संगीत से मस्त हो ये वृक्ष भी झूम रहे हैं। लक्ष्मण, इस कर्णिक वृक्ष पर कितने पुष्प खिले हैं? मानों पीले वस्त्र धारण कर तथा सोने के आभूषण पहिने कोई मनुष्य ही खड़ा है। इन अशोक वृक्षों के पुष्प गुच्छ अग्नि की सदृश लाल रंग के दिखाई देते हैं; इधर भ्रमर अलग अपनी भनभनाहट कर रहे हैं। वृक्षों के नूतन पल्लव अग्नि की ज्वालाओं के सदृश देख पड़ते हैं। लक्ष्मण, वह वसंत-रूपी अग्नि मुझे जला रहा है।

वह देख मयूर अपने पंख फैला कर इधर-उधर नाचते फिरते हैं। वह मयूरी अपने पति को नाचते देख कर स्वयं भी उसके साथ नाचने लग गई. अब मयूर अपने पंख समेट कर उसके पीछे-पीछे दौड़ने लग गया। लक्ष्मण, मयूर की कांता को राक्षस ने नहीं चुराया तभी तो वह अपनी प्रिया के साथ नाच रहा है। वायु के कारण उस तिलक-मंजरी के हिलते ही भृंग उस पर जोर से धावा कर रहे हैं। और ये कुसुमित आम्रवृक्ष शरीर में अंग-राग लगाये हुए पुरुषों के सदृश देख पड़ते हैं। इस पर्वत के उतार पर के पल्लवहीन पलाश वृक्ष केवल लाल पुष्पों ही से आच्छादित हो रहे हैं, जिससे यह पर्वत आग के सदृश देख पड़ता है। यह वसन्त समीर एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर तथा एक पर्वत पर से दूसरे पर भिन्न-भिन्न रसों का आस्वादन करते हुए मानों मस्त हो कर घूम रहा है। उसी प्रकार मधुर सादे पुष्पों की परीक्षा करते-करते इस भ्रमर का जी ही नहीं भरता। वह तो अलग ही नहीं होता। ये मृग अपनी मृगियों सहित आनंदपूर्वक चरते हुए घूम रहे हैं। लक्ष्मण, मेरी सीता इस समय कहाँ है ? पिता के मुझे वन को भेज देने पर भी जिसने मेरा त्याग नहीं किया, वह मेरी प्रिया कहाँ है ? उसका वह कमलपत्रों के सदृश विशाल नेत्रों से सुशोभित वदन मुझे नहीं दिखाई देता; इसीसे मेरा मन भ्रांत होने लगा है। लक्ष्मण, क्या अब मुझे फिर से उसका वह हँसता हुआ मुख दिखेगा। वह मधुर संभाषण पुनः इन श्रवणों को सुनाई देगा ? लक्ष्मण, अब मुझे अपनी दशा अच्छी नहीं दिखाई देती। अब तो मुझसे एक पैर भी नहीं चला जा सकता। हा ! मुझे मेरी प्रिया कैसे मिल सकेगी ? लक्ष्मण, अब मैं अपने

प्राण को कैसे सँभालूँ ?" इस तरह विलाप करते-करते वे तो नीचे बैठ गये। लक्ष्मणजी ने उनकी सांत्वना करते हुए कहा:—"महाराज, इस तरह शोक करने से कैसे काम चलेगा ? धैर्य धारण कीजिए। आपके सदृश महान् पुरुषों की बुद्धि कदापि विचलित नहीं होती। महाराज, रावण पाताल में चला जायगा पर तो भी अब वह नहीं बच सकता। इसलिए अब हमें उसीका पता चलाने का प्रयत्न करना चाहिए। आप हिम्मत न हारिए। हिम्मत के सदृश और दूसरा कोई बल नहीं है। हिम्मतवर लोगों के लिए इस जगत में कुछ भी दुर्लभ नहीं होता और हिम्मतवर पुरुष कभी निराश नहीं होता।" इस प्रकार लक्ष्मणजी के उत्साह-जनक शब्द सुन कर रामचंद्रजी शोक और मोह का त्याग कर के उठ खड़े हुए और सुग्रीव से मिलने के लिए ऋष्यमूक पर्वत की ओर चल दिये। (कि० स० १)

पंपा सरोवर के तट से ऋष्यमूक की ओर आते हुए उन दोनों तरुण धनुर्धारी राजपुत्रों को सुग्रीव ने देख लिया। तब उन्हें देखते ही उसके मन में आशंका हुई। ये कौन हैं—शत्रु या मध्यस्थ ? कहीं ये वालि के भेजे हुए तो नहीं हैं ? इस विचार से उन्होंने अपने चार मित्रों में से केवल हनूमान जी से ही अपनी आशंका कही। तब हनूमान बोले :—"यह मलयगिरि का भाग है; यहाँ वालि से कोई भय नहीं है।" पर, सुग्रीव ने उन्हें फिर से पूछा :—"राजाओं को अनेक मित्र मिल जाते है, अतः बहुत संभव है वे वाली के ही मित्र होंगे ? अन्यथा धनुष,बाण, तलवार धारण करके ये बलवान् और देवताओं के सदृश तरुण पुरुष हमारे इस ऋष्यमूक पर्वत की ओर क्यों आने-लगे ? इसलिए तुम आगे की ओर जा कर, उनको बात-चीत आदि से उनके

दिल का पता लगाओ।" सुग्रीव की आज्ञा पा कर हनुमानजी उस पर्वत से उड़े और कपि-रूप त्याग कर भिक्षु बन कर के श्रीराम-लक्ष्मण के निकट पहुँचे, एवं उन्हें प्रणाम करके पूछा :—"हे तेजस्वी पुरुषो, देवताओं के सदृश सुन्दर और तपस्वियों का सा भेष धारण करके आप इस देश में कैसे आये ? आप के आगमन से ये बन्यमृग और अन्य प्राणी भयभीत हो गये हैं। इस स्थान पर सुग्रीव नामक एक वानर रहता है। उसे उसके भाई ने स्वदेश से निकाल दिया है, जिससे वह बहुत दुःखित हो कर विदेशों में भ्रमण कर रहा है। उसी सुग्रीव की आज्ञा पा कर मैं आपका स्वागत करने के लिए यहां आया हूँ। आपसे मित्रता करने की उसे बड़ी इच्छा है। मैं पवन-सुत हनूमान-उसका मन्त्री हूँ।" इस प्रकार हनूमान के वचनों को सुन कर श्रीरामचंद्र लक्ष्मणजी से बोले:—"लक्ष्मण, ये अत्यन्त प्रसन्न-मुख देख पड़ते हैं। हम सुग्रीव से मिलने की इच्छा करते थे, उसीकी ओर से ये आये हैं। संसार में ऐसा कौन होगा जिसे इनका शुद्ध और सरल संभाषण सुन कर प्रसन्नता नहीं होगी ?" लक्ष्मणजी ने हनूमानजी को उत्तर दिया:—"विप्रवर हम वानरेश्वर सुग्रीव की प्रशंसा सुन कर ही उनसे मिलने ही के लिए यहाँ पर आये हैं। आपके कथनानुसार हम भी उनसे मित्रता करने के लिए उत्सुक हैं। यह सुन कर हनूमानजी ने पुनः पूछा:—"तब तो बड़ा ही अच्छा हुआ। पर कृपया यह तो बतलाइये कि आप इस कानन में क्यों कर आये हैं ?" लक्ष्मणजी ने उत्तर दिया:—"अयोध्या के धर्मवत्सल राजा दशरथजी के ये ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामचंद्रजी हैं। और मैं इनका छोटा भाई लक्ष्मण हूँ। पिताजी ने

इन्हें चौदह वर्ष बनवास की आज्ञा दी है अतः मुझे साथ में ले कर ये इस वन में आये हैं। इनकी पतिव्रता भार्या सीताजी भी सूर्यानुगामिनी प्रभा के सदृश, इनके साथ ही आई थीं। कुछ समय से यहीं जनस्थान में गोदावरी तीर पर पंचवटी में हम एक कुटिया बना कर रहते थे। एक दिन जब हम दोनों भाई मृगया के लिए चले गये थे तब रावण नामक कोई राक्षस हमारे आश्रम से सीताजी को चुरा कर ले भागा। भाई हम बड़े दुखी हैं और उसी राक्षस का पता लगाने के लिए इधर आये हैं। यही संक्षेप में हमारा परिचय है। और इसी आशा से हम इस पर्वत की ओर आये हैं कि सुग्रीव शायद हमारी सहायता कर सके। क्या तुम अपने मालिक से हमें मिला सकते हो? हम दशरथ पुत्र आप लोगों की शरण में आये हैं; हे विप्रवर! हम सुग्रीव की कृपा के इच्छुक हैं। आर्य श्रीरामजी तो भार्या के विरह के कारण अत्यन्त शोकाकुल हो गये हैं; अतः हमारी यही प्रार्थना है कि सुग्रीव उनपर दया करें।" यों कहते हुए मानधनी लक्ष्मण की आँखों में आंसू छलछला आये। यह देख कर कोमल हृदय हनूमानजी का हृदय उमड़ आया। वे प्रेमपूर्वक बोले:—"धन्य भाग्य हैं हमारे, जो आप जैसे बुद्धिमान पुरुष वानरों के राजा सुग्रीव से मिलने के लिए आ रहे हैं। मैं आपको उनसे अवश्य ही मिला देता हूँ। उन्हें भी उनके भ्राता ने राज से निकाल कर उनकी पत्नी को छीन लिया है है; इसीसे वे दुःखित हो वन में रहते हैं। अर्थात् वे भी श्रीरामजी के सम दुःखी हैं। वे आपकी अवश्य ही सहायता करेंगे और सीताजी को ढूँढ लावेंगे।" यों कह कर उन्होंने पुनः कपि-रूप धारण कर लिया और उन दोनों वीरों को अपनी पीठ

पर बैठा ऋष्यमूक पर्वत को लाँघ कर, माल्यवान पर्वत पर ले गये और उतार दिया। अनन्तर हनूमानजी ने सुग्रीव के पास जा कर उनसे उनकी सारी कथा कही। तब सुग्रीव अत्यंत सुंदर स्वरूप धारण करके, श्रीरामचन्द्रजी से मिले और उन्होंने बड़े प्रेम से कहा:—"श्रीरामचन्द्र, आइए। मैं आपका स्वागत कैसे करूँ? मैं अपना अहोभाग्य समझता हूँ कि आप मुझसे मित्रता करने की इच्छा से यहाँ पधारे हैं? लीजिए, मैं अपना हाथ आपकी ओर बढ़ाता हूँ।" सुग्रीव के वचन सुन कर श्रीरामचन्द्रजी ने भी अपना हाथ आगे को बढ़ा कर उनके हाथ से हाथ मिलाया। तब उन दोनों को बड़ा आनन्द हुआ, और उन्होंने एक दूसरे को अपने हृदय से लगा लिया। तब तक हनूमानजी इधर उधर से लकड़ी ले आये और उन्होंने अग्नि को प्रज्वलित किया। यह देख उन दोनों ने हाथ में हाथ मिला कर उसकी परिक्रमा कर के अग्नि के सामने अपने आपको अटल मित्रता के बन्धन में बाँध लिया। उस समय वे एक दूसरे को देख कर तृप्त नहीं हो सके। सुग्रीव ने तो बार-बार बड़े प्रेम से श्रीरामजी से कहा:—"आप मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। मेरे सेवक हनूमान ने मुझसे कहा कि आपकी प्रिय भार्या सीताजी को रावण, जटायु को मार कर, चुरा ले गया है। पर आप शोक न करें; मैं अभी सीताजी का पता लगा कर उन्हें यहाँ पर ला देता हूँ। मेरा खयाल है, कि शायद सीताजी को ले जाते हुए मैंने रावण को देखा भी है। रावण उन्हें आकाश द्वारा ले जा रहा था। और वे हा आर्यपुत्र श्रीराम, हा लक्ष्मण कह कर विलाप करती जा रही थीं। और उन्होंने हम पाँचों को पर्वत पर बैठे हुए देख कर आकाश से हम पर अपने कुछ आभूषण भी

डाल दिये थे; जिन्हें हमने संभाल कर रख छोड़ा है। देखियेगा, यदि आप उन्हें पहिचान सकें, तो मैं अभी उन्हें यहाँ पर ले आता हूँ।" यों कह कर, गुफा में प्रवेश कर सुग्रीव उन अलंकारों को ले आये और श्रीरामचंद्रजी के सामने रख दिये। ज्योंही श्रीरामजी उन्हें अपने हाथ में ले कर देखने लगे, त्योंही उनकी आँखों से आँसुओं की धाराएँ बह निकलीं। कुहरे से चन्द्रमा जैसे मलिन हो जाता है वैसे ही बात की बात में उनका मुख कुम्हला गया। नहीं, उनका तो सारा धैर्य ही नष्ट हो गया और "हा प्रिये" कह कर वे एकाएक पृथ्वी पर गिर पड़े, तथा उन आभूषणों को अपने हृदय पर रख कर, लम्बी-लम्बी साँस छोड़ते हुए बोले:—"लक्ष्मण, देखो तो बेचारी सीताजी ने इन अलंकारों को त्याग दिया है। जान पड़ता है ये आकाश से हरी भूमि पर गिरे होंगे; क्योंकि देखो न, इन्हें यह हरा रंग लगा हुआ है।" तब लक्ष्मणजी बोले:—"आर्य, मैं इन केयूर और कानों के कुंडलों को नहीं पहिचानता। केवल सीताजी के पाँव के उन नूपुरों को ही मैं तो जानता हूँ। मैं हमेशा जब उनके चरणों की बंदना करता था, तब वे मुझे देख पड़ते थे।" फिर श्रीरामजी ने सुग्रीव से पूछा:—"सुग्रीव, जानते हो वह राक्षस किस ओर से किस दिशा को गया? तुमने जिस राक्षस को सीताजी को ले जाते हुए देखा, वह कहाँ पर रहता है?" तब सुग्रीव ने उत्तर दिया:—"उस दुष्ट और पापी राक्षस का नाम, कुल वा निवास स्थान स्वयं मुझे तो मालूम नहीं है। पर महाराज, आप शोक और चिन्ता न कीजिएगा। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि आपकी भार्या को ढूँढ़ कर उन्हें आपके पास ला दूँगा। मैं राक्षसगणों सहित रावण को मार कर अपने पराक्रम को सार्थक

करूँगा और शीघ्र ही आपका इष्ट कार्य सिद्ध कर दूँगा। इसलिए आप सदा की तरह धैर्य धारण कर के इस शिथिलता को छोड़ दीजिए। आप जैसों की बुद्धि कभी विचलित नहीं होती। मैं भी भार्या-विरह से दुःखी हूँ; पर मैंने धैर्य को नहीं त्यागा है। शोक करने से केवल सुख ही नष्ट नहीं होता, वरन् मनुष्य का तेज भी कम हो जाता है। अतः आप शोक न कीजिए। मैं मित्र-भाव से आपको समझा रहा हूँ। आपको उपदेश करने की तो मुझमें योग्यता नहीं है। मेरे मित्रत्व का सत्कार कर के आप शोक को छोड़ दें।" इस प्रकार सुग्रीव का सांत्वनायुक्त मधुर भाषण सुन कर अपने वस्त्रों से आँखें पोंछ कर और चित्तवृत्ति को पूर्ववत् स्थिर कर के श्रीराम सुग्रीव को अपने हृदय से लगा कर बोले:—"प्रेमी और हित-तत्पर मित्र के अनुसार ही तुम्हारा इस समय का आचरण है। अब मेरी बुद्धि पूर्ववत् ही शांत और स्थिर हो गई है। इस जगत् में तुम्हारे सदृश मित्र विशेष कर संकट के समय तो मिलना अत्यंत कठिन है। अब मेरी तुमसे यही प्रार्थना है कि सीता को ढूँढ़ने के लिए तुम्हें शीघ्र ही प्रयत्न करना चाहिए। इसके बदले में मैं तुम्हारे लिए क्या कर सकता हूँ, यह भी मुझे निःशंक हो कर कहो।" सुग्रीव ने प्रसन्न हो कर उत्तर दिया:—"मेरा हाल तो आपको मालूम ही है। मेरे ज्येष्ठ भ्राता बालि ने मेरी भार्या को छीन कर मुझे अपने राज्य से निकाल दिया है? तब से मैं इस ऋष्यमूक पर्वत पर भयभीत हो कर घूमता रहता हूँ। अतः मुझे बालि से निर्भय कर दो।" तब श्रीरामचन्द्रजी ने उत्तर दिया:—"सुग्रीव, मित्रता का फल उपकार और शत्रुता का अपकार होता है; अतः तुम्हारी भार्या हरने वाले

बालि का मैं आज ही नाश किये देता हूँ। मेरे ये दिव्य सुवर्ण भूषित बाण बालि को पर्वत की करार गिरने के सदृश, अभी पृथ्वी पर लिटा देंगे।" तब उनके उक्त आवेशयुक्त संभाषण का गौरव करके सुग्रीव बोलेः—"आप पहले बालि का पराक्रम सुन लीजिए फिर जैसा उचित समझें कीजिए।" यों कह कर उन्होंने चंदन की एक कुसुमित टहनी को तोड़ कर उसे श्रीरामचन्द्रजी को बैठने के लिये दे दी और अपने लिये भी एक दूसरी टहनी तोड़ कर आप उसपर बैठ गये। (कि० सं० ८-८)

सुग्रीव बोलेः—"महाराज बाली मेरा सहोदर और इन्द्र का पुत्र है। वह इतना बलवान् है कि नित्य प्रातःकाल में उठकर पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण इन चारों समुद्रों के दर्शन करके सूर्यास्त के पहले पहल, वापिस आ जाता है और इतना अधिक परिश्रम करने पर भी उसका दम तक नहीं फूलता जब दुंदुभि नामक असुर ब्रह्माजी से वर प्राप्त करके नौ सहस्र हाथियों का बल मांग कर के गर्वित हो होकर समुद्र से लड़ने पर उतारू हो गया तब समुद्र ने उसे प्रणाम करके हिमालय की ओर भेज दिया। हिमालय ने भी उसे प्रणाम करके बाली की ओर उंगली से इशारा करके भेज दिया। तब वह मदान्ध असुर, भैंसे का स्वरूप धारण करके किष्किंधा के द्वार पर आया और गरज गरज कर अपने सींगों से द्वार को तोड़ने लगा। वह देखकर बाली बड़े क्रोध से उसपर दौड़ चढ़ा। उस भैंसे और बाली का युद्ध अपूर्व था, जिसे देखने के लिए देव, राक्षस और गंधर्व भी एकत्र हो गये। अन्त में बाली ने उसे उठा कर पृथ्वी पर दे मारा; तब वह रक्त की कय करके मर गया। फिर बाली ने

उसकी लाश को अपने एक हाथ से उठा कर उसे इतनी जोर से फेंका कि वह ठेठ इस पंपा वन में आ करके गिरी। वह देखो, सामने उसीकी हड्डियों का ढेर दिखाई दे रहा है। लाश को फेंकते समय उस महिष के नाक और मुँह से खून टपक ही रहा था जो राह में मतंगऋषि के आश्रम में भी गिर गया। अपने आश्रम को शोणित से अपवित्र हुआ देखकर के मतंग ऋषि ने बाली को शाप दिया कि यदि तू इस पंपा वन में आवेगा तो अपने प्राण से हाथ धो बैठेगा। यही कारण है कि बाली इस मतंग-बन पर्वत ऋष्यमूक पर नहीं आ सकता। यदि वह कहीं यहाँ पर आ सकता तो अबतक मुझे भी अवश्य मार डालता. अस्तु, एक समय दुंदुभी के पुत्र मायावी तथा बाली में स्त्री-विषयक शत्रुता उत्पन्न हो कर वह भी बाली से युद्ध करने के लिए नगर-द्वार पर आया और गर्जना करने लगा। यह देख बाली भी क्रोधित होकर उसका सामना करने के लिए तैयार हो गया। यह देख उसकी सहायता करने के लिए मैं भी उसके साथ हो लिया। उस समय हमारे पिता की मृत्यु हो चुकी थी, बाली राज्य करता था और मैं आनन्द पूर्वक उसकी सेवा करता था। जब हम दोनों को देखकर मायावी अकस्मात् डर कर भागने लगा, तब हमने उसका पीछा किया। पर, मायावी एक गुफा में घुस गया। यह देख कर बाली ने मुझसे कहा—"सुग्रीव, तू इस गुफा के द्वार पर खड़ा रह; तब तक मैं गुफा के भीतर घुस कर उसे मार कर लौट आता हूँ।" यह कह कर वह तो गुफा के अन्दर घुस गया, और मैं गुफा के द्वार पर, इस विचार से पहरा देते हुए बैठा रहा कि मायावी कहीं वहां से निकल न भागे। पूरे एक वर्ष तक मैं

वहीं पर पहरा देता रहा, न बाली लौट कर आया और न मायावी ही वहां से निकला। तब राज्य के सभी मन्त्रियों की सलाह से गुफा के द्वार पर एक बहुत बड़ी शिला रख करके मैं वहां से लौट आया। किष्किन्धा लौटने पर मेरी इच्छा न होते हुए भी सचिवों ने मुझे राजगद्दी पर बिठा दिया। पर मेरा राज-तिलक हुए कुछ ही दिन बीते होंगे कि बाली अत्यन्त क्रुद्ध हो कर अकस्मात् मेरे सामने आ कर खड़ा हो गया। उसे देखते ही मैंने झट उठ कर उसे प्रणाम किया और सारी बातें कह सुनाईं। पर उसने मेरी निर्भत्सना करते हुए कहा:—"मैंने गुफा में मायावी को बहुत ढूँढा पर उसका कहीं पता न चला। अन्त में लौटने का विचार कर ही रहा था कि वह वहीं पर मिल गया। तब उसे मार कर मैं गुफा के द्वार पर लौटा और देखा तो तेरा कहीं पता न था। वहां पर एक भारी शिला रक्खी हुई थी। खैर, उसे बड़े कष्ट से हटा कर मैं बाहर आया हूँ। पर, अब यहां आ कर देखता हूँ तो तू मेरा राज्य चुरा बैठा है। धिक्कार है तुझे।" मैंने उसे बहुत समझाया, पर उसने एक न मानी। बल्कि मुझे उसने राज्य से निकाल दिया और मेरी स्त्री रुमा को अपने घर में रख लिया। तभी से हम दोनों में शत्रुता हो गई है। बाली को मतंग ऋषि का शाप है। इसीलिए मैं इस ऋष्यमूक पर्वत पर निडर हो कर रह सका हूँ। हे श्रीराम, उस अतुल बलशाली बाली का नाश करना अत्यन्त कठिन है। आप भी अत्यन्त सामर्थ्यशाली और पराक्रमी हैं, पर मुझे अभी तक आपके बल का परिचय नहीं प्राप्त हुआ है। बाली ने तो उस विशालकाय भैंसे को अपने एक ही हाथ से कई योजन पर फेंक दिया था; अतः यदि आप उसकी हड्डियों के ढेर को फेंक देंगे, तब मैं

आपके और उसके बल की कुछ तुलना कर सकूंगा।" यह सुन कर श्रीराम ने हँस कर कहा:–"सुग्रीव, लो तुम्हें मैं विश्वास दिलाये देता हूँ।" यों कह कर उन्होंने अपने पाँव के अँगूठे से सहज ही में उस हड्डियों के ढेर को दश योजन लंबा फेंक दिया। पर सुग्रीव को फिर भी विश्वास नहीं हुआ। वह बोला—"ये हड्डियां तो बरसों से यहीं पर पड़ी हैं अतः वे हलकी हो गई हैं; बाली ने जिस समय दुंदुभी के शरीर को फेंका था, उस समय तो वह मांसयुक्त, अतएव भारी था। इस प्रकार शंका प्रकट करते हुए उसने फिर से श्रीराम से कहा:– "महाराज, इन सात ताल के वृक्षों को देखिए। इन वृक्षों को बालि ने हिला-हिला कर उनके पत्ते नष्ट कर डाले थे। यदि आप एक ही बाण से इन सातों को उखाड़ कर गिरा दें तो मुझे ज़रूर आपके बल का विश्वास हो जायगा। सुग्रीव के ये शब्द सुन कर श्रीराम बोले:—"अच्छा सुग्रीव लो, तुम्हारे कथन के अनुसार मैं यह कार्य भी करके दिखा देता हूँ।" यों कह कर उन्होंने धनुष्य पर बाण रक्खा और निशाना ताक कर उसे छोड़ दिया। बाण उन सातों वृक्षों को छेदता और उन्हें उखाड़ कर, गिराता हुआ पुनः उनके तर्कश में प्रविष्ट हो गया। उनके बाण का वह अद्भुत चमत्कार देख कर सुग्रीव भय-भीत हो श्रीराम के चरणों पर शिर रख कर और हाथ जोड़ कर बोला:—"महाराज, आप तो इन्द्रादि देवताओं को भी समरांगण में अपने बाणों से नष्ट कर सकेंगे, फिर बाली के विषय में तो कहना ही क्या है? रण-भूमि पर आप से कौन लोहा ले सकता है? अतः अब तो आप से हाथ जोड़ कर मेरी यही प्रार्थना है कि मेरे शत्रु बाली को आज ही मार कर मुझे भय से मुक्त कर दीजिए।" तब उन्होंने सुग्रीव की प्रार्थना को मान लिया और वे

शीघ्र ही किष्किन्धा को चल दिये। सुग्रीव ने जोर से चिल्ला कर बाली को युद्ध करने के लिए आह्वान किया। सुग्रीव की गर्जना सुन कर बाली भी शीघ्र ही क्रुद्ध हो किष्किन्धा के बाहर निकल आया और छिड़ा उन भाइयों में भयंकर बाहुयुद्ध। श्रीराम दूर खड़े रह कर उनका युद्ध देख रहे थे। शीघ्र ही सुग्रीव युद्ध में हारने लगा, पर बाली और सुग्रीव सहोदर होने के कारण उनका रूप रंग और आकार आदि एक ही थे। अतः श्रीरामचन्द्र यह निश्चय न कर सके कि इनमें से बाली कौन है। उन्हें यह डर था कि कहीं भूल से सुग्रीव को बाण न लग जाय। इसलिए वे बाण नहीं छोड़ सके। आखिर सुग्रीव हारा, और वहाँ से जो भागा सो ऋष्यमूक पर्वत आकर उसने दम लिया।

शीघ्र ही हनुमान् आदि सुग्रीव के सचिव तथा श्रीराम-लक्ष्मण भी उसके पीछे-पीछे ऋष्यमूक पर्वत पर वापिस लौट आये; तब सुग्रीव ने दीन हो कर श्रीरामचंद्र से कहाः—"रामचन्द्र-जी, यदि आपको मेरी इस तरह फजीहत करना मंजूर था, तो आपने मुझे वैसा पहले ही से क्यों नहीं कह दिया?" यह सुन कर श्रीरामचंद्रजी ने उन्हें समझाते हुए कहाः—"भाई तुम दोनों के एक ही से तो शरीर थे। मैं यही निश्चय न कर सका कि किस पर बाण छोड़ूँ और यदि भूल से बाण तुम्हीं को लग जाता तो तुम्हारी भी हानि होती और मेरा भी कार्य अधूरा रह जाता। अतः भाई इस बार की तो मुझे क्षमा करो। फिर लक्ष्मण की ओर मुड़ कर वे बोले—"लक्ष्मण, पीले पुष्पों वाली उस गज-बेलि को तो ले आओ।" शीघ्र ही उस गजबेली की माला सुग्रीव के गले में पहिना कर उन्होंने कहाः—सुग्रीव

आओ, अब इस माला के कारण मैं तुमको जरूर पहिचान सकूँगा। चलो, फिर हम वहीं पर चलें। अब तो तुम निश्चय समझ लो कि तुम्हारे शत्रु का नाश हो ही गया। श्रीरामचंद्र के ये प्रिय वचन सुनते ही सुग्रीव फिर से आशान्वित हो, युद्ध करने के लिए तैयार हो गया। वे सभी बन्दर और राम-लक्ष्मण ऋष्य-मूक पर्वत पर से निकल कर पुनः अनेक पर्वतों तथा सरोवरों की शोभा देखते हुए किष्किंधा को जा पहुँचे। राम, लक्ष्मण, तथा हनुमानादि चार बन्दर पहले ही की तरह इस बार भी झाड़ी में घुस बैठे और सुग्रीव ने फिर से नगर द्वार पर जा कर जोर से गर्जना की और बाली को युद्ध के लिए ललकारा। बाली अपने रंग महल में तारा से बात चीत कर रहा था। एकाएक सुग्रीव की ललकार सुनकर वह आग बबूला हो उठा, और एकदम अपने मंच पर से कूद पड़ा। तब तारा ने उसके चरण पकड़ कर प्रार्थना की:—"नाथ, अब की पराजित शत्रु ने फिर से चढ़ाई की है और उसके शब्द भी पहले की अपेक्षा अधिक भयंकर सुन पड़ते हैं; इसलिए अवश्य ही कोई दगाफ़रेब जान पड़ता है। आप युद्ध के लिए न जाइयेगा। मैं आपके पैरों पड़ती हूँ। अंगद के दूत हाल ही में यह खबर लाये हैं कि राजा दशरथ के अतुल पराक्रमी पुत्र राम-लक्ष्मण दण्डका में आये हुए हैं। अतः यदि सुग्रीव ने उनकी सहायता प्राप्त कर ली होगी तो आप मेरा कहना मान कर युद्ध के लिए न जाइयेगा। आखिर सुग्रीव आप ही का भाई है; अतः उसके अपराध क्षमा कर के उसे अपने पास ही रखिए। इस समय मुझे अपशकुन हो रहे हैं। मेरी दाहिनी आँख फड़क रही है; आप न जाइयेगा।"

आदि अनेक प्रकार से तारा ने बाली की प्रार्थना की। पर उसकी बात को न मान कर बाली गर्जना करता हुआ किष्किंधा से बाहर निकल पड़ा। तब उन उभय बन्धुओं का फिर से बाहु-युद्ध आरम्भ हुआ। उन्होंने परस्पर लातें, घूंसें, थप्पड़ें और वृक्षों की डालियों का भी उपयोग किया। बड़ी देर तक कोई भी न हारा। हां अन्त में सुग्रीव हारता हुआ दिखाई दिया। तब श्रीरामचन्द्रजी ने पूर्व संकेत और प्रतिज्ञानुसार धनुष पर बाण चढ़ा कर बाली पर बाण छोड़ा। उस बाण के लगते ही बाली चिल्ला कर पृथ्वी पर गिर पड़ा। (किष्कि० ९–१६)

जिस प्रकार आश्विन मास की पूर्णिमा के दिन फहराता हुआ इन्द्र, ध्वज गिर पड़ता है, उसी प्रकार, ग्रीष्म के अन्त में बाली श्रीरामजी के बाण से घायल हो कर गिर पड़ा। पर, इन्द्र की दी हुई सुवर्ण माला उसके शरीर पर होने से उसका प्राणान्त नहीं हुआ, अथवा उसके चेहरे पर मृत्यु के चिन्ह नहीं देख पड़े। तब श्रीराम-लक्ष्मण उसे देखने के लिए आगे को बढ़े। उस समय श्रीरामजी को देख कर बाली बोलाः—"श्रीरामचन्द्र-जी, आप सत्यपराक्रमी, धर्मशील, तेजस्वी तथा सन्मार्गवर्ती कहलाते हैं। फिर जब मैं दूसरे के साथ युद्ध कर रहा था, आपने छिप कर मुझे बाण से कैसे मारा? क्या यह अन्याय नहीं हुआ? श्रीराम प्रजा के सच्चे शुभचिंतक हैं; वे समय को पहि-चानने वाले हैं आदि कह कर सब लोग आपकी तारीफ करते हैं; फिर आपने यह सरासर अधर्म कैसे कर डाला? इससे तो ज्ञात होता है कि आप धर्म की ध्वजा फहरा कर अधर्म का आचरण करने वाले तथा मीठी बातें बना कर पापाचरण करने वाले हैं—

तृण से ढँके हुए कूँए के सदृश, हैं। मैंने आपके राज्य या नगर में आ कर आपका कोई अपराध नहीं किया था; फिर बताइए आपने मुझ निरपराधी को क्यों मारा? छिप कर मारने वा अपने साथ युद्ध न करने वाले को मारना—क्या सज्जन पुरुष अत्यंत अयशस्कर नहीं मानते? अतः ऐसा घोर कर्म कर के भी क्या अब आप अपना मुँह सज्जनों को दिखा सकेंगे? यदि आप मेरे सामने आते, कम से कम यदि आप मुझे देख भी पड़ते, तो मैं आपको सीधा स्वर्ग को भेजे बिना न रहता। अस्तु। अब जो कुछ हो गया सो तो हजार प्रयत्न करने पर भी सुधर नहीं सकता अतः अब आप मेरे पीछे सुग्रीव को ही राजगद्दी पर बैठाइए। यद्यपि जिस तरह आपने मेरा वध किया है, वह निन्द्य है, तथापि मेरे पश्चात् सुग्रीव को ही राज्य मिलना योग्य है।" इस प्रकार बाली के निन्दायुक्त दुःखोद्गार सुन कर श्रीरामचंद्रजी ने शांति-पूर्वक उत्तर दियाः—"बाली, युक्तायुक्त और धर्माधर्म को न पहिचान कर तुम व्यर्थ ही मुझे दोष दे रहे हो। इस सारी पृथ्वी की सार्वभौम सत्ता इक्ष्वाकु वंश के हाथों में है। इस समय अयोध्या में धर्म कामार्थ का योग्य निर्णय करने वाले उस वंश में राजा भरत राज्य करते हैं। उन्हीं की आज्ञा को पा कर हम और अन्य सभी नरेश धर्माचरण की स्थापना करने के प्रीत्यर्थ पृथ्वी पर घूम रहे हैं। इस समय तुम केवल कामांध बन कर धर्माचरण को छोड़ निन्द्य कर्म करते थे तथा सन्मार्ग और राजमार्ग का त्याग कर दिया था। जिस प्रकार धर्माचरण करने वाले के लिए बड़ा भाई, तथा विद्या-दाता पिता के समान होते हैं, उसी प्रकार छोटा भाई, और शिष्य भी पुत्र के समान हैं। ऐसी दशा में तुम

धर्म त्याग कर के, सुग्रीव के जीवित होते हुए भी उसकी स्त्री अर्थात् स्नुषा का भोग कर रहे थे, यह कितना बड़ा पाप था ? अरे, ऐसा निन्द्य कर्म करने वालों के लिए तो यही दंड योग्य है। जो मैंने तुम्हें दिया है। ऐसे पापियों के लिए नीतिकारों ने भी वध की सज़ा बताई है। बाली, महाराज मनु ने सद्धर्म की स्थापना के लिए दो नियम बताये हैं और सभी धर्मा-चरणी पुरुषों ने उनका स्वीकार किया है। मेरा यह आचरण भी उन्हीं नियमों के अनुसार है। यदि मनुष्य ने कोई पाप किया हो तो उसे राजदंड मिलने पर वह पापमुक्त हो पुण्यशाली पुरुषों की तरह स्वर्ग को जाता है। पर, यदि राजा उसे उसके पाप का दंड न दे तो उसका फल राजा को ही भोगना पड़ता है। इस नियम के अनुसार कई पापी राजा का दंड भोग कर पाप से मुक्त हो गये हैं। तुम्हारे पाप के बदले भी तुम्हें योग्य दंड मिला है। अतः अब तुम भी उस पाप से मुक्त हो गये हो। अब तुम छिप कर मारने का दोष मेरे सिर पर मढ़ते हो; अतः उसके विषय में भी मेरा उत्तर सुनो। उसे सुन लेने पर तुम मुझे दोषी नहीं बनाओगे। मनुष्य बन के पशुओं को जाल में फँसा कर, फंदे लगा कर या अन्य उपायों से भी मारते हैं; सामने खड़े हो कर मारते हैं और छिप कर भी उनका वध किया जाता है। मृगया का यह नियम सब दूर प्रचलित है कि मृग को उसके दौड़ते समय, उसे थका कर जाल में फांद कर या चुपचाप बैठे हुए भी मारा जा सकता है। बड़े-बड़े राजर्षि भी इसी नियम के अनुसार मृगया करते हैं; और तुम हो शाखा मृग (बन्दर)। तब तुम्हारे सामने, छिप कर युद्ध करते हुए या वैसे ही बाण द्वारा तुम्हें मारने से मुझे कोई

दोष नहीं लग सकता।" श्रीरामजी के ये वचन सुन कर वाली ने अपनी भूल को मान लिया और फिर उसने हाथ जोड़ कर कहा:—"हे श्रीरामचंद्र, आप न्यायी और सत्य-पराक्रमी हो। आपका कथन सर्वथा योग्य ही है। अब मुझे मरने का दुःख नहीं है; अतः आप केवल मेरी एक प्रार्थना को सुनिए। मेरा प्रिय पुत्र अंगद मेरे बिना जलरहित सरोवर की नाईं सर्वदा दुखी रहेगा; अतः अब उसकी चिन्ता आपही को है। मुझे मेरी प्रिय भार्या तारा की कोख से जन्मा हुआ वही एक-मात्र पुत्र है। वह अभी निरा बालक है; अतः उसकी रक्षा करना आपका परम धर्म है। आप तो सब तरह से समर्थ हैं, योग्यायोग्यता का आपको भली-भाँति ज्ञान है, तथा सारे राज के आप ही स्वामी हैं; अतः जिस प्रकार सुग्रीव की रक्षा करने का आपने निश्चय किया है, उसी प्रकार अंगद को भी अपना लीजिए।" बाली की यह प्रार्थना सुन कर रामचंद्रजी ने बाली को वचन दिया कि तुम्हारी इच्छा जरूर पूर्ण की जायगी। और उसी समय सुग्रीव को आज्ञा दी कि अंगद का यौवराज्याभिषेक शीघ्र ही कर दिया जाय। तब वाली ने भी सुग्रीव को अपने पास बुला कर कहा:—"भाई पहले तो हम दोनों में बहुत प्रेम था पर पीछे से परस्पर शत्रुता उत्पन्न हो गई और मैं तो इधर राज को भोगता रहा और तुमको बन में रहना पड़ा; अस्तु इसे प्रारब्ध की ही गति समझना चाहिए। और क्या! भाई अब तुम इस राज्य को सँभाल कर अंगद की भी रक्षा करना। इन्द्र की दी हुई यह कांचन-माला जब तक मेरे गले में है, तब तक मेरे शरीर से प्राण नहीं निकलेंगे। इसलिए अब मैं इसे तुम्हें देता हूँ।

तुम ही इसके योग्य हो।" यों कह कर वाली ने अपने गले में से वह माला निकाल कर सुग्रीव को पहिना दी। माला को हटाते ही एक पल भर में बाली की मुख कांति मलीन हो कर उसके प्राण पँखेरू उड़ गये। और सुग्रीवादि सब बन्दरों ने बड़ा शोक किया।

इधर ज्यों ही तारा को मालूम हुआ कि श्रीरामजी ने अपने बाण से बाली को मार डाला त्यों ही वह तो मारे दुःख के बांवली सी हो गई। अपने पुत्र को साथ ले कर किष्किंधा के बाहर वह दौड़ती हुई गई और समर-भूमि से कभी पीठ न फेरने वाले अपने शूर पति की देह को रणभूमि पर पड़ी हुई देख कर वह उसपर गिर पड़ी और खूब जोर जोर से विलाप करने लगी। उसके विलाप और पितृहीन अंगद को देख कर सुग्रीव को भी अत्यंत दुःख हुआ। और वह भी विलाप करने लगा। तारा अपने पति के मुख को चूम कर बोली:—"हे प्राणनाथ तुमने मेरा कहा नहीं माना और अब इस पत्थर की भूमि को शय्या बना कर सोये हो। मालूम होता है आपको मेरी अपेक्षा यह पृथ्वी अधिक प्रिय है। हे हृदयेश्वर मुझसे कुछ बात चीत तो कर लो। आपने तो पृथ्वी को गले से लगाया है, पर मेरी ओर भी तो एक बार देख लो। मुझ अभागिनी को अकेली छोड़ कर, हे नाथ आप स्वर्ग को कैसे चले गये? कहा जाता है कि शूरों के साथ अपनी कन्या का विवाह नहीं करना चाहिए। उस कथन की सत्यता मुझे आज मालूम हुई है। अरे, संसार यह देख ले मैं एक शूर पुरुष की भार्या आज अकस्मात् विधवा हो गई हूँ। मेरे सारे मनोरथ भग्न हो गये और अब सर्वदा के लिए मेरी दुर्दशा हो गई। हे नाथ, मुझे

शोक-सागर में ढकेल कर आप कैसे चल दिये ? हे आर्यपुत्र अपने इस प्रिय पुत्र की ओर तो जरा देख लो ! यह देखो, वह आपको प्रणाम कर रहा है ! आप आज इसे दीर्घायु होने का आशीर्वाद क्यों नहीं देते ? महाराज, मैं भी आपके साथ चलती हूँ; मुझे भी अपने साथ ले चलिये ।" यह कह कर वह बाली के मृत शरीर पर लोटने लगी । पर, थोड़ी देर में वह उठ खड़ी हुई और श्रीरामचंद्रजी को देख कर बोली:—"आप त्रैलोक्य नाथ हैं दीनन दुख हरन अनाथों की रक्षा करने वाले हैं; अतः जिस बाण से आपने बाली को मारा, उसीसे मुझे भी परलोक को भेज कर मेरे दुःख को मिटा दीजिए। बाली मेरी राह देखते होंगे । वे स्वर्गीय अप्सराओं का अस्वीकार कर के मेरे विरह से व्यथित हो रहे होंगे । महाराज, वियोग के दुःख का तो आपको भली-भांति अनुभव है ही । इसलिए मुझ पर दया करिए और बाली के साथ ही मुझे भी स्वर्ग को भेज दीजिए। तारा के उन दुःखोद्गारों को सुन कर श्रीरामजी को भी बड़ा दुःख हुआ और उनकी आँखों से आँसू टपकने लगे । पर स्वयं शोका-कुल हो जाने पर भी उन्होंने तारा को समझा कर कहा:—"तारा, शोक करने से मृत शरीर को अच्छी गति नहीं मिलती और न उसका हित ही होता है । मृत्यु सब के पीछे लगी है; कर्म का फल भी वही देती है । कर्मवीर पुरुष को काल के अनुसार ही बुद्धि होती है। कोई किसी का कुछ नहीं कर सकता । अपने स्वभाव के अनुसार ही मनुष्य की प्रवृत्ति बनती है और कालानुसार उसे उसका फल मिलता है । काल किसी को भी नहीं छोड़ता । यम भी काल की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर

सकता। काल के बिना कोई कुछ नहीं कर सकता। काल का कोई बन्धु नहीं। वह पराक्रम को भी नहीं देखता। सैकड़ों मित्र और संबन्धी होने पर भी वह नहीं रुकता। सारांश, बुद्धिमान् मनुष्य को उसके परिणाम और महिमा को ध्यान में रखना चाहिए। धर्मार्थ काम भी कालक्रम से मुक्त नहीं है, तुम्हारे पति बाली की मृत्यु अच्छी हुई है; अतः उसका स्मरण करके तुम शोक न करो। अब जो कुछ परिस्थिति प्राप्त हुई है, उसीके अनुसार अपना आचरण करो।" तब लक्ष्मणजी ने किंकर्तव्यमूढ़ सुग्रीव को सुझाया कि बाली का उत्तरकार्य विधि अनुरूप करो और तार नामक बन्दरों के सरदार से कहा:—"तार, तुम शीघ्र ही नगर में जा कर शिबिका ले आओ। ऐसे समय पर हमें शीघ्रता करनी चाहिए।" यह सुन कर तार शीघ्र ही नगर से एक शिविका ले आया। तब सहस्रों बन्दर बाली की अंतिम क्रिया के लिये एकत्र हो गये। फिर उन्होंने बाली के शव को उठा कर उस शिबिका में रख दिया; और बड़े-बड़े शूर बन्दर उस शिबिका को उठा कर ले चले; क्योंकि शूरों के प्रेतकार्य शूरों को ही करना चाहिए। उस समय अंगद का हाथ पकड़ कर तार आगे को चलने लगा। तथा सुग्रीवादि बन्दर उसके पीछे-पीछे जाने लगे। इसी प्रकार तारा प्रभृति बानर-स्त्रियाँ भी उनके पीछे विलाप करती हुई चलने लगीं। उनके शोक से तो वह सारा बन भी शोकमय हो गया था। सुग्रीव और अंगद ने तब चन्दन काष्ठ की चिता पर बाली के शरीर को रखा और यथाशास्त्र उसका अग्नि संस्कार किया। अनन्तर दोनों ने चिता की परिक्रमा की। इस प्रकार श्रीरामजी ने अपने सामने सुग्रीव से बाली का अन्तिम

संस्कार कराया। वह सब हो जाने पर सुग्रीव सब वानर सरदारों सहित श्रीराम के पास गये। तब हनूमान ने श्रीरामचन्द्रजी से यों प्रार्थना की:—"महाराज, आपके कृपा-प्रसाद से ही सुग्रीव को वानरों का यह बलवान और संपन्न राज्य मिला है; अतः यदि आपकी आज्ञा हो तो हम नगर में जा कर राज्यारोहण का उत्सव करके माला, रत्न, वस्त्रादि से आपकी यथाशक्ति पूजा करें; आप भी हमारे साथ चलिए।" श्रीरामचन्द्रजी ने उत्तर दिया:—"हनूमन, पिताकी आज्ञा के अनुसार मुझे तो चौदह वर्ष तक किसी नगर या ग्राम में जाना योग्य नहीं है; तुम्हीं सब इस समृद्ध किष्किन्धा गुफा में जा कर सुग्रीव का यथायोग्य राज्याभिषेक करो। अंगद के यौवराजाभिषेक को न भूलना। अंगद सुग्रीव के ज्येष्ठ भ्राता का ज्येष्ठ पुत्र, और सर्वगुण-संपन्न है अतएव वह युवराज बनने के सर्वथा योग्य है। हनुमान, अब वर्षाऋतु का प्रथम मास श्रावण आरम्भ हुआ है। अभी हमें अपने उद्योग को आरंभ करने का अनुकूल समय नहीं है; अतः तुम किष्किन्धा जा कर इस वर्षाऋतु को सुख पूर्वक बिताओ। हम भी चार मास तक इसी पर्वत पर रहेंगे।" यों कह कर उन्होंने सुग्रीवादि सभी बन्दरों को वहाँ से बिदा किया। अनन्तर सभी सचिवों ने नगर में जा कर सुग्रीव को राजा-सिंहासन पर बैठाया और उन्हें प्रणाम किया। तब सुग्रीव ने उन सब का यथायोग्य सत्कार किया। अनन्तर उन्होंने श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा के अनुसार अंगद का यौवराज्याभिषेक भी कर दिया। यह देख सभी बन्दरों ने सुग्रीव की साधु-साधु कह कर बहुत प्रशंसा की। गिरि कंदराओं में बसी हुई किष्किन्धा नगरी पताकादि

से सुशोभित हो कर आनन्दोत्सव में मग्न हो गई। ((किष्किन्धा स० १७–२६)

सुग्रीव के किष्किन्धा चले जाने पर श्रीरामचन्द्रजी प्रस्रवण अर्थात् माल्यवान् पर्वत पर चले गये और उस पर्वत की शोभा को देख कर वे बहुत आनन्दित हुए। वह पर्वत चंदन, तिलक, शाल तमाल, अतियुक्त, पद्मक, अशोक वानीर, तिमिंद, बकुल. केतकी, हिंताल, तिनिश, नीप, वेतस आदि अनेक प्रकार के वृक्षों से युक्त था। मालती, कुंद मोगरा, शिरीष, कदंब, अर्जुन आदि पुष्प वृक्ष भी वहाँ पर कुसुमित हो रहे थे। स्थान-स्थान पर बड़े-बड़े काले रंग के पत्थर थे। कई स्थानों पर पर्वत की टूटी हुई करारों में श्वेत और लाल पत्थर भी देख पड़ते थे। मधुर स्वर से गाने वाले रंग-बिरंगे पक्षी भी उन वृक्षों पर किल्लोल कर रहे थे। उस रमणीय पर्वत पर घूमते हुए उन्हें एक गुफा दिखी। उसका द्वार ईशान्य की ओर था। उसे देख कर श्रीरामजी ने लक्ष्मणजी से कहा:—"लक्ष्मण, हमारे रहने के लिए यह गुफा बहुत अच्छी है। इसके पास ही यह छोटा सा जल से भरा हुआ सरोवर भी है। इस गुहा की पीठ पश्चिम की ओर होने से उसमें अधिक वायु भी नहीं आ सकती तथा यहाँ से हम सारे पर्वत और अरण्य की शोभा भी देख सकते है। किष्किन्धा भी यहाँ से बहुत दूर हम नहीं है। वह सुनो, वहाँ से मृदंगादि वाद्यों का ध्वनि सुनाई देता है। ज्ञात होता है कि सुग्रीव अथवा अंगद के अभिषेकोत्सव को बन्दर बड़े आनन्द से मना रहे हैं। लक्ष्मण, वर्षाऋतु बिताने के लिए हमारे लिए यही उत्तम स्थान है।" श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा होते ही लक्ष्मणजी ने गुफा को साफ़ किया और फिर वे उस गुफा में रहने लगे। वर्षाकाल का आरम्भ था। चारों ओर से मेघ

उमड़ आये और वर्षा होने लगी। उस समय की शोभा लक्ष्मण जी को बतलाते हुए श्रीरामजी बोले:—"लक्ष्मण, आकाश ने सूर्य की किरणों द्वारा समुद्र के पानी को ऊपर सोख कर उसे नौ मास तक रक्खा। अब आकाश से रस रूपी उस गर्भ की प्रसव क्रिया हो रही है। यह देखो पर्वत पर मेघ कैसे एक दूसरे पर रखे हुए दिखाई देते हैं! मालूम होता है, हम इन मेघ रूपी सीढ़ियों पर चढ़ कर पर्वत पर के कुड़ा, अर्जुन आदि वृक्षों के पुष्पों की मालाएं सूर्य देव के गले में पहिना सकेंगे। संध्या-समय के लाल रंग के मेघ, भीतर से श्वेत होने के कारण, ऐसे मालूम होते हैं मानों आकाश क घाव हो गया है। और उन पर मानों ये कपड़े की पट्टियाँ बाँध दी गई हैं। उन मेघों के अंदर की जल-युक्त वायु कर्पूर-दल के सदृश ठंढ़ी मालूम होती है। उस वायु के साथ-साथ केतकी की सुगंध इतनी आ रही है कि इच्छा होती है उससे अंजली भर-भर कर पीलें। यह देखो, सामने के पर्वत पर पुष्पित अर्जुन वृक्ष हैं जिन पर मेह बरस रहे हैं, वहाँ की दावाग्नि बुझ गई। शत्रु के नष्ट हो जाने पर पुष्पमाला धारण किये हुए सुग्रीव की तरह, उस पर मानों अभिषेक हो रहा है। इस मेघ में बिजली चमकती है और बाद में उसकी गर्जना भी सुनाई देती है, मानों सोने के चाबुक की फटकार की वेदनाओं के कारण आकाश चिल्ला रहा है। चारों ओर की धूल नष्ट हो गई है और वायु में भी ठंढक आ गई है। चक्रवाक, हँस आदि पक्षी मानस सरोवर को लौट गये हैं। वर्षा के कारण लीक नष्ट हो जाने से ग्रामों की गाड़ियाँ भी बहुत कम चलती हुई देख पड़ती हैं। आकाश में कहीं तो उजाला हो गया है और कहीं-कहीं अँधेरा है। उसमें मेघ भी इधर-

उधर घूमते फिरते हैं और ऐसे दिखाई देते हैं मानों पवत पर बिलकुल गिर गये हों। इनके कारण आकाश मानों तूफान आये हुए समुद्र की नाईं दिखाई देता है। इस पर्वत की नदियों का लाल रंग वाला और नाना प्रकार के कदंबादि वृक्षों के पुष्पों से भरा हुआ पानी बड़े वेग से बह रहा है और उनके तटों को मोर अपनी केका से गूँजा रहे हैं। इस समय काले और रस भरे जामुन जितने भी खाये जावें थोड़े होंगे। आम्रवृक्ष के पके हुए पीले और लाल फल पृथ्वी पर गिर रहे हैं। संध्या के समय वन-धरा अत्यंत मनोहर दिखाई देती है। इस वनस्थली के मैदान अब पानी से तर हो गये हैं। और ताजी-ताजी घास से हरे भरे हो रहे हैं, चारों ओर मोर आनंदित हो कर नाच रहे हैं और बगुलों के झुंड, पानी में भींग जाने पर भी, आकाश में उड़े जा रहे हैं। ये बड़े-बड़े मेघ पानी का बोझ ले कर घोर शब्द करते हुए आकाश की सैर करते और प्रत्येक पर्वत के शिखर पर विश्रांति लेते हुए जा रहे हैं। इन नवजात इंद्रगोप (बीरबहूटी) कीड़ों के रंग-बिरंगे स्वरूप और इस हरी भूमि को देख कर मालूम होता है मानों पृथ्वी ने लाल झांक मारने वाला हरे रंग का दुशाला ही ओढ़ लिया है। लक्ष्मण, कैसा सुंदर दृश्य हैं। नदियाँ बह रही हैं, मेघ वर्षा कर रहे हैं और मदमत्त हाथी चीत्कार कर रहे हैं। वन-प्रदेश सुशोभित देख पड़ता है। मोर नाच रहे हैं और बंदर इधर-उधर दौड़ते हुए देख पड़ते हैं। वन-गज केतकी पुष्प की सुगंधि से मत्त हो कर जल-क्रीड़ा करते हुए चिल्ला रहे हैं और उनके शब्द में ऊँचाई से गिरने वाले सोतों के शब्द भी मिल गये हैं। पके हुए फलों से

लदे हुए जामुन के वृक्षों पर मानों भ्रमरों के झुंड झूलते हैं। वह देखो पर्वत पर के वन में रहने वाला हाथी मेघ की गंभीर ध्वनि को सुन कर उसके पीछे दौड़ रहा है, पर पीछे की ओर उसकी प्रतिध्वनि को सुन कर किसी शत्रु के भय से वह देखो वापिस लौट रहा है। कमल के पत्तों पर गिरे हुए मोतियों के सदृश स्वच्छ जल को पानी में भींगे हुए प्यासे पक्षी बड़े आनन्द से पी रहे हैं। भृंगों के शब्दों की सितार, बन्दरों की आवाज और मेघों की गर्जनारूपी मृदंग को सुनते ही आभास होता है, मानों वन में कोई अलौकिक संगीत हो रहा है। कुछ मोर नाच रहे हैं, कुछ रह-रह कर केकाओं से वनथली को गुँजा रहे हैं और कई वृक्षों पर बैठकर शांतिपूर्वक यह सब देख रहे हैं। उस दृश्य को देख कर मालूम होता है कि मानों वन में महफिल जमी हुई है। सोये हुए बन्दर भी मेघ की गड़गड़ाहट से एकदम जाग कर नये पानी की धाराएँ अपने शरीर पर लेते हुए चिल्ला कर इधर-उधर कूद फाँद कर रहे हैं। पानी के भरे हुए काले मेघों के झुंड दावाग्नि से दग्ध काले पर्वत की पंक्तियों के सदृश देख पड़ते हैं।" कुछ ही दिनों के बाद समुद्र-गर्जना की तरह गर्जना करने वाले मेघ पानी के बोझ से लद कर आकाश में झूमने लगे। नदियाँ, सरोवर, कूँए आदि में बल्कि सारी पृथ्वी पर जल बहने लगा। संपूर्ण आकाश व्याप्त हो कर लगातार दो दो चार-चार दिन तक सितारे ग्रह, चंद्र और सूर्य भी अदृश्य रहने लगे। पृथ्वी जल से तृप्त हो गई। दिशाएँ अंधकार से व्याप्त होने के कारण कुछ भी नहीं देख पड़ता था। पर्वत की बड़ी-बड़ी करारें साफ धुल जाने से उनपर से गिरने वाले जल प्रपात ऐसे

मालूम होते थे, मानों उसके गले में बड़े-बड़े मोतियों की मालाएँ लटक रही हैं। कई स्थानों पर से, प्रपात बीच में पर्वत की बड़ी-बड़ी शिलाओं से टकरा कर गिरते हुए ऐसे दिखाई देते थे मानों मोतियों के हार टूट-टूट कर मोती बिखर रहे हों। जब वर्षा की बड़ी-बड़ी बूँदें गिरने लगीं तब तो ऐसा मालूम होता था, मानों सुर-स्त्रियों के कण्ठ-हार ही टूट-टूट कर गिर रहे हैं! वर्षा में सूर्यास्त का ध्यान, पक्षियों के अपने घोंसलों में घुसने और कमलों के अपनी पखड़ियाँ बन्द कर लेने से ही होता था। वर्षा-ऋतु ने देश के मार्ग और राजाओं के झगड़े मिटा दिये। तब रामचंद्रजी ने कहा—"लक्ष्मण, इस वर्षा ऋतु की नदियों के तट की तरह मेरा भी धैर्य कम होता जा रहा है और इस वर्षा ऋतु के जल-प्रलय की तरह मुझे रावण भी अपार मालूम होने लगा है; पर फिर भी सुग्रीव तथा नदियों के प्रसाद की राह देखते हुए हमें इस पर्वत पर ही रहना चाहिये। अस्तु। (कि०स०२-७२८)

चार मास बीत जाने पर वर्षाऋतु का अंत हो गया और शरद ऋतु का समय प्राप्त हुआ। आकाश स्वच्छ हो कर कहीं-कहीं सफेद मेघ शेष रह गये थे। रात्रि के समय भी आकाश स्वच्छ हो जाने से चंद्र प्रकाश सफेद और तेजस्वी देख पड़ता था। दीर्घ और गम्भीर शब्द करनेवाले मेघ चार मास तक काम करके थक कर चुपचाप बैठ गये और मदस्राव बन्द हो जाने वाले हाथियों के सदृश शान्ति धारण किये हुए थे। चन्द्रवती रातों में धुले हुए स्वच्छ पर्वत बड़े शोभायमान् देख पड़ते थे। उस समय सृष्टि की शोभा खूब बढ़ गई। तारे और चन्द्रमा का प्रकाश विशद हो गया। वृषभ मस्त हो गये, नदियों का जल स्वच्छ और

स्वादिष्ट हो गया। सिर्फ मोर ही ऐसे थे जो पीछों का त्याग करके; अपनी प्रिया के विषय में चिंता रहित हो कर उत्सव हीन तथा ध्यानस्थ बैठे हुए देख पड़ते थे। सुंदर कमलों में हाथी अपनी सूंडों से पानी को हिला-हिला कर वहां क्रीड़ा करनेवाले चकवे और हंसों को कष्ट पहुँचा रहे थे। वर्षाकाल के कारण साँप अपने बिलों में घुसे बैठे थे; अतः वे भी अब तीन मास के अनन्तर क्षुधा से व्याकुल हो कर तथा भयंकर विषैले बन कर अपने बिलों से बाहर निकलने लगे। नया धान खा कर सारसों की पंक्तियाँ आकाश में उड़नेवाली माला के सदृश देख पड़ती थीं। गहरे तालाबों का श्यामल जल उनमें खिले हुए छोटे छोटे कमलों के कारण, दूर से तारा युक्त आकाश की तरह शोभा दे रहा था। बैल तो मानों डकारने में एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा कर रहे थे और चारों दिशाओं को गरजा रहे थे। वायु मन्द-मन्द बहने लगी, कमल खिलने लगे, क्रौंच पक्षी बोलने लगे, साल पीली पड़ गई, जलाशय प्रसन्न हो गये; और चन्द्रमा की किरणें तेजस्वी हो गईं। सारांश, वर्षाऋतु समाप्त हो कर शरदऋतु का पूर्ण प्रादुर्भाव हो गया था, तो भी सुग्रीव को आते हुए न देख कर श्रीरामचन्द्रजी चिंतातुर हो कर लक्ष्मणजी से बोले:—"लक्ष्मण, भावी आशा के बल पर ही मैंने गत चार मास तक सीताजी के विरह को सहा, पर सुग्रीव अभी तक क्यों कृपा नहीं करता ? मेरी भार्या नष्ट हो गई और मेरा राज्य भी चला गया ! सुग्रीव को तो भार्या और राज्य दोनों मिल गये। फिर उसे मेरा स्मरण क्यों कर होगा ? इसलिए तुम्हीं किष्किन्धा चले जाओ और सुग्रीव से कहो कि—"सच्चा वीर पुरुष तो वही है जो मनुष्य एक बार किसी कार्य को अपना लेने

पर फिर वह शुभ हो या अशुभ, बराबर निभाता है; जो मित्र कृत-कार्य हो कर अपने अकृतकार्य मित्र को भूल जाते हैं, उस कृतघ्न को राक्षस फाड़-फाड़ कर खाते हैं। लक्ष्मण सुग्रीव से यह भी कहो कि जिस मार्ग से बाली स्वर्ग को गया है, वह अभी संकुचित नहीं हो गया, इसलिए कृपा करके बाली के मार्ग का अवलम्ब न करो।" इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी के अति कठोर संदेश को ले कर लक्ष्मण शीघ्र हो किष्किन्धा को जा पहुँचे। उस रत्नों से भरी हुई दिव्य गुफा को देख कर वे तो आश्चर्यचकित हो गये। वहाँ सहस्रों विस्तीर्ण भवन नाना प्रकार के रत्नों से सुशोभित देख पड़ते थे। चारों ओर सभी प्रकार के पुष्प और फूलों के वृक्ष लगे हुए थे। देव और गन्धर्वों से जन्मे हुए कामरूपी बन्दर, सुन्दर सुन्दर वस्त्र धारण करके, इधर उधर घूम रहे थे। चंदन, अगंजा और कमल से सुगंधित मैरेय और मधु बाज़ार में स्थान-स्थान पर बिकने के लिये रक्खे हुए थे। अन्त में एक प्रचण्ड श्वेत पर्वतों से चारों ओर से घिरा हुआ, भीतर श्वेत पाषाण निर्मित प्रासाद-शिखर के कारण कैलाश पर्वत की नाईं दिखाई देने वाला और सभी पुष्प-वृक्षों से सुशोभित सुग्रीव का मन्दिर लक्ष्मण को दिखाई दिया। तब वे निडर हो कर उसमें घुस गये; किसी ने भी उन्हें नहीं रोका। जब सात चौक लाँघ कर वे भीतर गये तो उन्हें कहीं से तन्त्री की मधुर झंकार सुनाई दी। ताल बराबर जारी था आवाज बड़ी मीठी थी और गायन के अक्षर भी बड़े मधुर थे। वे आगे बढ़े। सुंदर स्त्रियाँ इधर-उधर घूमती देख पड़ीं। तब नाचनेवाली स्त्रियों के नूपुर और उनकी कटि का रण-त्कार सुन कर लक्ष्मण कुछ लज्जित पर क्रुद्ध भी हो गये और

उन्होंने महफिल का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने तथा क्रोध जाहिर करने के लिए जोर से एकाएक अपने धनुष्य का टंकार किया। उस भयंकर ध्वनि के सुनते ही सभी प्रकार के शब्द बन्द हो गये और सुग्रीव ने भयभीत हो तारा से कहा:—"तारा, मृदु अन्तःकरणवाले श्रीरामजी के भ्राता नाराज हो कर यहाँ पर कैसे आ रहे हैं; जरा देखो तो। जाओ उन्हें अपनी मधुरवाणी से प्रसन्न करके यहाँ ले आओ। सुग्रीव की आज्ञा को मान कर वह रूपैश्वर्यवती बहुमूल्य आभूषण पहिने और मधुपान के कारण ईषद् आरक्त नयना तारा लजाती हुई लक्ष्मणजी के पास गई। अपनी ओर एक स्त्री को आते हुए देख कर लक्ष्मणजी का क्रोध शांत हो गया और उन्होंने संकोचवश अपनी आंखें नीचे कर लीं। तब तारा प्रणय पूर्वक बोली:—"राजपुत्र, आप क्रोधित क्यों हो रहे हैं? बताइए किसने आपकी आज्ञा का उल्लंघन किया है? सूखे वन में आग लगाने पर कौन उतारू हुआ है? बताइए, मैं अभी उसका नाश करवाये देती हूँ। हे राजपुत्र मेरा विश्वास है कि स्वजनों पर आपको कभी क्रोध नहीं आवेगा। मेरे प्रिय पति को, वानर-वंश के स्वामी को, मेरे सहवास में लुब्ध हो कर निश्चिंत पड़े रहनेवाले अपने भ्राता को, आप क्षमा कीजिए। हे महाबाहो, मैं आपके मित्र की पत्नी हूँ। आइए अपने प्रिय मित्र से मिलने के लिए चलिए।" तब उसके नम्र कथन को सुन कर लक्ष्मणजी उसके साथ अन्तःपुर में गये। उन्हें देखते ही सुग्रीव अपने सुवर्णासन से उठकर उनका स्वागत करने के लिए दौड़ा। तब लक्ष्मण बोले:—

"सत्वशाली, जितेंद्रिय, दयाशील, कृतज्ञ तथा सत्यवादी पुरुष जगत् में आदरणीय समझा जाता है। यदि अश्व के लेन-देन में कोई असत्य

बोलता है तो उसके सौ मनुष्य मरते हैं, गाय के विषय में असत्य बोलता है तो सहस्र मनुष्य का नाश होता है। पर यदि मनुष्य के विषय में असत्य बोलता है तो उसका और उसके सारे मनुष्यों का नाश होता है। गाय को मारने वाला, शराबी तथा चोर वा व्रतघात करने वाला मनुष्य प्रायश्चित का भागी बनता है। श्रीरामचंद्र ने तुम्हारा अभीष्ट कार्य तो पूरा किये चार मास हो गये हैं; अब बताओ उनका बदला चुकाने के लिए, सीताजी की खोज करने के उद्योग में तुम कब लगोगे? सुग्रीव, बाली जिस मार्ग से स्वर्ग को चला गया, वह मार्ग अभी बंद नहीं हुआ है; तुम बाली के मार्ग का अवलम्बन न कर के अपनी प्रतिज्ञा को पूरी करो। लक्ष्मणजी के ये कठोर शब्द सुन कर सुग्रीव का सारा नशा जाता रहा। उसने अपने गले से चित्र-विचित्र पुष्पों की माला को तोड़ कर फेंक दिया और बड़ी नम्रता से लक्ष्मणजी से कहा:—"लक्ष्मणजी मुझे मेरी स्त्री और यह राज्य श्रीरामचन्द्र की कृपा से ही प्राप्त हुआ है। उन पराक्रमी श्रीरामचंद्रजी के उपकारों का थोड़ा भी बदला चुकाने का सामर्थ्य किसमें है? वे तो अपने ही बल पर सीताजी को ला कर रावण का नाश करेंगे। मैं तो केवल सहायता करने वाला नाम-मात्र का अधिकारी हूँ; अतः अब मैं श्रीरामजी के लिए युद्ध की सामग्री शीघ्र ही एकत्रित कर देता हूँ।" सुग्रीव के ये नम्रता भरे वाक्य सुन कर लक्ष्मणजी संतुष्ट हो कर बोले:—"मेरे प्रिय बंधु को तुम्हारी सहायता की सचमुच ही बड़ी आवश्यकता है। तुम धर्मज्ञ, कृतज्ञ और युद्ध-भूमि पर से अपनी पीठ न फेरने वाले हो; अतः

तुम्हारी सहायता का बहुत महत्व है। इसलिए अब शीघ्र ही मेरे साथ चलो और शोक पीड़ित रामचन्द्रजी को समझाओ।"
यह सुन सुग्रीव ने शीघ्र ही हनूमानजी को आज्ञा दी कि पृथ्वी पर के सभी बन्दरों को साम दाम दण्डादि प्रयत्न से शीघ्र ही एकत्रित करो। तदनुसार हनुमानजी ने चारों ओर दूत भेज दिये। शीघ्र ही चारों दिशाओं के बन्दर, सुग्रीव की आज्ञा को मान कर वहां पर एकत्र हो गये। तीन करोड़ बंदर तो उसी प्रदेश से एकत्र हो गये; पश्चिम की ओर के अस्तगिरि पर रहनेवाले दस करोड़ बन्दर भी बात की बात में वहाँ पर पहुँचे कैलाश पर्वत के प्रदेश से सिंह व्याघ्र के सदृश बलवान् सहस्र करोड़ बन्दर आ गये; हिमालय के प्रदेश से भी सहस्र-सहस्र कोटि बन्दर उपस्थित हुए, विन्ध्य पर्वत से लाल रंग वाले भयावने बन्दर सहस्रों करोड़ की संख्या में आ पहुँचे; और इसकी तो गिन्ती ही नहीं की क्षीर सागर के तट पर रहनेवाले तमाल-वन के, और नारियल बन के कितने बन्दर आये, गिरि-गुफाओं में से और भिन्न-भिन्न नदियों के तट पर बन्दरों की इतनी सेना आई कि उससे सूर्य भी ढँक गये। वे बन्दर सुग्रीव को भेंट करने के लिए अपने-अपने प्रदेश के दिव्य वनस्पति भी साथ में लाये थे जो उन्होंने आदर पूर्वक सुग्रीव को भेंट किये (कि०स०२९-३७)

अनन्तर अनेक शस्त्रधारी बानरों से घिरे हुए तथा श्वेत छत्र, चामर आदि राजचिन्हों से सुशोभित सुग्रीव तथा लक्ष्मणजी एक रत्न-खचित शिबिका में बैठ कर प्रस्रवण पर्वत की ओर चले। पर्वत पर पहुँचते ही सुग्रीव और अन्य सभी बन्दर श्रीरामचंद्रजी के सामने हाथ जोड़ कर खड़े हो गये। उन सब की प्रणामा-

जलियाँ विशाल सरोवर में से कमल-कलियों के सदृश सुशोभित दिखाई देने लगीं। सुग्रीव को देख कर तो श्रीरामचंद्रजी को अत्यंत आनंद हुआ। जब सुग्रीव ने श्रीरामचंद्रजी को साष्टांग प्रणाम किया, तब उन्होंने सुग्रीव को उठा कर प्रेमपूर्वक हृदय से लगा लिया और अपने पास बैठा लिया और कहा:-"जो राजा यथावकाश और यथाकाल धर्म, अर्थ और काम का सेवन करता है, उसकी सब जगह विजय होती है। पर जो केवल काम ही में रत रहता है उसका नाश होता है। सुग्रीव, अब हमारे अपने काम में लगने का समय प्राप्त हो गया है; अब हमको उस के विषय में विचार करना चाहिए। सुग्रीव ने हाथ जोड़ कर कहा:—"महाराज आपही की कृपा से मुझे यह संपत्ति और राज्य मिला है। जो उपकार का बदला नहीं चुकाता वह मनुष्य अधम कहाता है। मैंने पृथ्वी पर के सभी बंदरों को बुला लिया है। कुछ तो आ पहुँचे हैं और कुछ आ रहे हैं। शीघ्र ही विन्ध्य, हिम, मन्दर, मेरु, समुद्र-तीर आदि स्थानों से करोड़ों नहीं कितने ही पद्म संख्या में बंदर आपके कार्य के लिए आवेंगे और उस अधम राक्षस का नाश कर डालेंगे।" यह सुन कर रामचंद्रजी अत्यंत आनंदित हुए और उन्होंने सुग्रीव को अपने हृदय से लगा कर कहा:—"यदि इन्द्र पर्जन्य की वर्षा करे वा सूर्य अंधकार का नाश करे तो उसमें आश्चर्य मानने की कोई बात नहीं है। हाँ, यदि तुम जैसे उत्तम मित्र उपकार न करें तो अवश्य ही आश्चर्य होगा!" श्रीरामचंद्रजी यह चर्चा कर ही रहे थे कि इतने में चारों ओर एकाएक अंधकार छा गया, सब दूर धूल उड़ने लगी और पृथ्वी काँपने लगी।

करोड़ों बंदरों की सेना बात की बात में अपने-अपने स.-दारों सहित वहाँ पर एकत्र हो गई। दस सहस्र करोड़ बन्दरों को अपने साथ ले कर वहां पर शतबली आ पहुँचा। कांचन की तरह दैदीप्यमान् तारा का पिता भी करोड़ों बंदरों को अपने साथ ले आया। रुमा का पिता भी उपस्थित हो गया। हनुमान जी के पिता केसरी भी अनेक कोटि बंदर अपने साथ ले आये। गवाक्ष भी अपने साथ गौओं की पूंछ की नाई पूंछ वाले बंदर लाया। करोड़ों रीछ लिये धूम्र भी वहाँ पर आ पहुँचा। तीन करोड़ बंदर सेना सहित पनस भी वहाँ पर उपस्थित हुआ। नील अपने साथ दस करोड़ काले बंदर लाया। पांच करोड़ बंदर अपने साथ ला कर गवय ने प्रणाम किया। हरीमुख भी कोटि सहस्र बंदरों को ले कर सुग्रीव के सामने खड़ा हो गया। कोटि-कोटि बंदर-सेना के अधिपति अश्विनी के पुत्र मैंद और द्विविद भी वहाँ पर आये। तीन करोड़ ऋक्ष सेना ले कर बूढ़ा जाम्बवन्त भी वहाँ उपस्थित हो गया। तेजस्वी रूमण भी दस करोड़ बंदर अपने साथ ले कर वहाँ पर आ पहुँचा। बलवान् की शतकोटि बंदर सेना भी वहाँ पर देख पड़ी। ग्यारह सौ सहस्र कोटि बंदरों को साथ ले कर गंधमादन भी सुग्रीव की सेवा में उपस्थित हो गये। एक पद्म सहस्र और एक शत-खंड के समान प्रचंड बंदर सेना ले कर स्वयं युवराज अंगद भी वहाँ आ गये और श्रीरामजी को प्रणाम कर के वे उनके पास खड़े हो गये। पाँच करोड़ बंदर अपने साथ ले कर तार भी दूरी पर खड़े रहे। ग्यारह करोड़ बंदर सहित इंद्रजानु भी वहाँ पर आये। दस हजार ग्यारह सौ बंदर अपने साथ ले कर रंगयूथप भी वहाँ

आये। दो करोड़ सेना के अधिपति दुर्मुख वहाँ पर उपस्थित हुए। कैलास शिखर के सदृश ऊँचे और भव्य एक सहस्र करोड़ श्वेत वर्ण के बंदरों को अपने साथ ले कर हनूमानजी अपनी कमर बाँधे खड़े रहे। शत करोड़ और शत सहस्र बंदर अपने साथ लिये नील भी वहाँ पर आ पहुँचे। शर, कुमुद, वन्हि, रंभ, आदि अनेक वानर-समुदाय और सैनिक अपनी-अपनी सेना सहित उपस्थित हो गये और उन्होंने समग्र पर्वत और सारी समथर भूमि व्याप्त कर ली। फिर उन्होंने सुग्रीव को प्रणाम कर के यथावकाश अपनी-अपनी सेना को उतारा तथा सुग्रीव ने उन सब का परिचय श्रीरामचंद्रजी को कराया। तब सुग्रीव ने उन सारी बंदर-सेना का आधिपत्य श्रीरामचंद्रजी को समर्पण कर के प्रार्थना की:—"महाराज, आप इस अपरंपार सेना के स्वामी हैं; अतः आपकी आज्ञा के अनुसार कार्य करने के लिए यह सेना तैयार है।" तब श्रीरामचंद्रजी ने कहा:—"मैं तो तुम्हें ही सेना का अधिपति मानता हूँ; अतः तुम उसका योग्य प्रबंध कर के जो कुछ करना हो सो करो, तथा सीताजी की खोज करने और रावण का पता लगाने के लिए जो आवश्यक कार्य करना हो करो।" उनके ये वचन सुन कर सुग्रीव ने चारों दिशाओं में बंदरों के चार दल भेज दिये। विनता नामक यूथप को पूर्व दिशा की ओर भेजा और बहुधा सीताजी का पता लंका में ही लगेगा; इस आशा से बड़े-बड़े सरदार—अग्नि के पुत्र नील, वायु-पुत्र हनूमान, पितामह-पुत्र जाम्बवन्त तथा सुहोत्र, शरारि, शरगुल्म, गज, गवाक्ष, गवय, सुषेश, सुषभ, मैंद, द्विविद, गंध-मादन, उल्कग मुख, अनन्द और अंगद को दक्षिण की ओर

भेजा। तारा के पिता और अपने श्वशुर सुषेण को उसने पश्चिम दिशा में जा कर खोजने के लिए प्रार्थना की। उत्तर की ओर शतबल नामक बंदरों के सरदार को भेज दिया और प्रत्येक को उन दिशाओं के देश, प्रांत और नदियों का हाल कह कर आज्ञा दी कि "बड़ी चतुरता से सभी नदी, पर्वत, देश तथा नगरों को खोज कर एक मास के भीतर ही लौट आओ। जो कोई सबसे पहिले सीताजी की खबर ला देगा, उसे मैं बड़ा पारितोषक दूँगा। और जो एक मास की अपेक्षा अधिक समय लगावेगा, उसे मैं दंड दूँगा।" इस प्रकार सभी को आज्ञा दे कर सुग्रीव ने उन्हें निश्चित दिशाओं की ओर भेज दिया। पर, उन्होंने विशेष कर हनुमानजी से कहा कि "तुम बड़े पराक्रमी बुद्धिमान्, तेजस्वी और अपने पिता की तरह शीघ्र-गामी हो तथा मेरे अत्यन्त प्रिय मित्र हो। मैं खास कर के तुम्हें दक्षिण की ओर भेजता हूँ। तुम्हें बहुधा लंका ही में सीताजी का पता चल जावेगा। इस लिए जाओ। हर किसी तरह सीताजी का पता लगाओ।" तब हनुमानजी ने सुग्रीव और रामचन्द्रजी को प्रणाम किया। श्रीरामचन्द्रजी ने भी बड़ी उत्सुकता और प्रेम से उन्हें बिदा किया और अपने हाथ की अँगूठी निकाल करके उन्हें दे कर कहा कि "हनुमानजी यदि सीताजी का पता लग जाय तो तुम उन्हें यह अँगूठी दे देना। जिससे उनको विश्वास हो जायगा कि तुम मेरे ही दूत हो। और उन्हें यह भी विश्वास दिलाना कि हम तुम को शीघ्र ही यहाँ से छुड़ावेंगे।" इस प्रकार रामचन्द्रजी की आज्ञा और अँगूठी को ले कर वे, अंगदादि सभी सरदारों को अपने साथ ले कर, दक्षिण की ओर चल दिये। अन्य बन्दर सरदार भी अपनी अपनी दिशा को चले गये।

पूर्व, पश्चिम और उत्तर दिशा को गये हुए बन्दर तो एक मास ही में प्रस्रवण पर्वत पर वापिस लौट आये और उन्होंने सुग्रीव से कह दिया कि सीताजी का पता कहीं पर भी नहीं चला। (कि०स०३८-४७)

हनुमानजी अंगद आदि वीर दक्षिण दिशा की ओर चल दिये थे वे प्रत्येक नद, नदी, पर्वत वन, नगर, ग्राम आदि खोजने लगे। सारी पृथ्वी का दक्षिण भाग देख कर थक गये, पर उन्हें कहीं पर भी सीताजी और रावण का पता नहीं लगा। उन्होंने विन्ध्य पर्वत की समस्त घाटियों और गुफाओं को ढूँढ़ डाला पर सीताजी नहीं मिलीं। अन्त में मार्ग में थक कर वे बहुत प्यासे हो गये, तब उन्हें एक स्थान पर पृथ्वी के भीतर एक विस्तीर्ण गुफा दिखाई दी। उसमें से हँस, सारस आदि पक्षियों को पानी में भीगे हुए बाहर निकलते देख कर वे बड़े आश्चर्य चकित हो गये और पानी मिलने की आशा से वे उस बिल में घुसे वहां पर उन्हें अँधेरा दिखाई दिया। कोई किसी को नहीं देख सकता था; तो भी वे धैर्य धारण कर के आगे बढ़ते ही चले गये, तब उन्हें कुछ प्रकाश देख पड़ा और आगे चल कर एक सुंदर उपवन भी मिला। उत्तमोत्तम जल फल और पुष्प युक्त वृक्षों के कारण उस उपवन की शोभा अपूर्व थी। उस उपवन में स्थान-स्थान पर छोटे-बड़े सरोवर सुवर्ण कमलों से भरे हुए और चारों ओर से सुवर्ण की सीढ़ियों से युक्त देख पड़ते थे। उन्होंने आगे की ओर बढ़ कर देखा तो उन्हें बड़े-बड़े सुवर्ण वृक्ष दिखाई देने लगे। पानी में मछलियां भी सुवर्ण की थीं इस प्रकार जिधर-तिधर दैदीप्यमान प्रभा देख कर और विस्मित हो कर उस वन के स्वामी की वे खोज करने लगे। इतने में एक

तपस्वी का भेष धारण किये, सामने आसन पर बैठी हुई, एक स्त्री उन्हें दिखाई दी। तब उन्हें देख कर सभी ने प्रणाम किया और पीने के लिए जल माँगा। तापसी ने उनका प्रेमपूर्वक बड़ा सत्कार किया और खाने के लिए उन्हें फल भी दिये। फिर उनके पूछने पर हनूमानजी ने अपना सारा हाल कहा और बोले:—"इस बिल में घुसे हमें कितने दिन बीत गये, इसका बिल्कुल पता नहीं है। यदि एक मास की अवधि पूरी हो गई होगी तो हम अपने राजा के बड़े अपराधी कहलावेंगे। अतः अब हमें कृपा कर बिल के बाहर पहुँचा दो। बिना आपकी सहायता के हम बाहर न निकल सकेंगे तथा हमें यह भी जानने की इच्छा है कि आप कौन हैं, और आपका इस उपवन से क्या संबंध है! हम आपकी शरण आये हैं। हनुमानजी के उक्त वाक्य सुन कर वह तापसी बोली:—"यह दिव्य उपवन मयासुर का बनाया हुआ है। वह यहाँ पर हेमा नामक अप्सरा के साथ रहता था। पर जब इन्द्र ने उसे वज्र से मार डाला, तभी से ब्रह्माजी ने इसे मुझे दे दिया है। मैं मेरुवासमा की कन्या हूँ और यहाँ पर तप करती हूँ। यदि तुम इस बिल से बाहर जाना चाहो तो अपनी आंखें बन्द कर लो, मैं तुम्हें अभी बाहर पहुँचाये देती हूँ।" यों कहते ही बन्दरों ने अपनी आंखें बन्द कर लीं, तब उस तापसी ने उन्हें एकदम उस बिल के बाहर ले जा कर विन्ध्य पर्वत के एक टीले पर रख कर उनसे अपनी आंखें खोलने के लिये कहा, और फिर वह बोली:—"इस विन्ध्य पर्वत देखो। इस ओर ही प्रस्रवण पर्वत देख पड़ता है। और तुम्हारे सामने ही वह समुद्र भी दिखाई देता है, अतः अब मैं जाती हूँ।" यों कह कर वह तापसी अपने बिल

में चली गई। उसके चले जाने पर वे बन्दर उस विन्ध्य पर्वत के शिखर पर बैठ कर चारों ओर देखने लगे उन्हें अपने सामने असीम तथा ऊँची ऊँची लहरों वाला गर्जना करता हुआ समुद्र दिखाई दिया। पर जब उन्होंने उस पर्वत पर वसन्तऋतु में फूलने वाली नाना प्रकार की बेलियाँ देखीं, तब वे सभी अत्यन्त दुःखित हुए। अंगद तो बहुत ही दुःखित हो कर बोलेः— "भाइयो, हम तो आश्विन मास के थोड़े ही दिनों के अनंतर चल दिये थे और हमने एक मास में लौट जाने का निश्चय किया था, पर अब तो वसंत ऋतु के भी चिन्ह दिखाई देने लगे हैं। इस बात का हमें बिलकुल ज्ञान नहीं रहा कि हम उस बिल में कितने दिनों तक रहे; सीताजी का भी अभी तक पता नहीं चला है और अब तो इस अपार समुद्र ने हमारी राह रोक ली है अतः अब लौट जाने की अपेक्षा मर जाना ही कहीं अच्छा है। राजा सुग्रीव का क्रोध बड़ा तीव्र है। उनकी आज्ञा का उल्लंघन करने के कारण वे हमें मृत्यु का दण्ड दिये बिना न रहेंगे। और यदि सीताजी का पता चलाये बिना ही हम वापिस जावेंगे तो श्रीरामचन्द्र भी हम पर दया नहीं करेंगे। इसलिए अब मुझे तो यही ठीक जँचता है कि प्रायोपवेशन करके प्राणों का त्याग कर दें।" यों कहकर अंगद ने प्रायोपवेशन से अर्थात् अपनी साँस रोक कर दर्भ डाल कर प्राण त्याग करने के निश्चय से पृथ्वी पर सिर रख दिया। उनकी उस दीन दशा को देखकर अन्यान्य बानर भी उसी तरह सांस रोक कर प्राण त्याग करने के लिए तैयार हो गये। इस प्रकार उन सैकड़ो बन्दरों को एक पंक्ति में निश्चल बैठे हुए देखकर उस पर्वत पर रहनेवाला एक बड़ा गिद्ध

उनके पास आया और बोला—"परमेश्वर ने मेरे लिए भोजन की अच्छी व्यवस्था कर दी है। अब इन बन्दरों के मर जाने पर मैं आनन्दपूर्वक इनका माँस खाऊँगा।" उसके वे घोर शब्द सुनकर अंगद हनूमानजी से बोले:—"जटायु जैसे गिद्ध तो सीताजी के लिए अपने प्राण न्यौछावर करने पर तैयार हो गये, पर यह तो, हम सब की मृत्युकी ही बाट जोह रहा है!" जो सीताजी के लिए मरने जा रहे हैं जटायु का नाम सुनकर वह गिद्ध चौंका और बोला:— "हे बन्दरो, जटायु तो मेरा सगा भाई था मेरा नाम संपाति है। क्या जटायु अब इस संसार में नहीं है? वह क्यों और कैसे मरा? कृपा पूर्वक वह सारा हाल मुझसे कहो। उसकी मृत्यु के समाचार पाकर मुझे बड़ा दुख हुआ है। भाई क्या तुम सीताजी का पता न पाने के कारण ही प्राण त्याग रहे हो? अभी ऐसा न करो। मैं तुम्हें सीताजी का पता बतलाता हूँ। मुझे वे यहीं से देख पड़ रही हैं। परमेश्वर ने हम गिद्धों को दीर्घ-दृष्टि प्रदान की है। सीताजी समुद्र की उस ओर लंका में रावण की अशोक वाटिका में हैं और राक्षसियाँ उन पर पहरा दे रही हैं।" संपाति के ये शब्द सुनते ही वे सारे बन्दर मारे आनन्द के कूदने लगे और उस गिद्ध के आस पास एकत्र होकर उन्होंने राम, लक्ष्मण तथा सीताजी का सारा हाल उसे कह सुनाया। अन्त में उन्होंने उससे पूछा—"तुम यहाँ पर क्यों आये हो? क्या रावण का हाल तुम्हें मालूम है? और क्या तुमने उसे सीताजी को ले जाते हुए देखा है?" तब संपाति ने उत्तर दिया:—"मुझे और जटायु को एक बार अपनी शक्ति पर गर्व हुआ और हम दोनों सूर्य के साथ हिमालय पर से

आकाश में उड़े। उस समय जब जटायु सूर्य के निकट जाने से घबराने लगा, तब मैंने उसे अपने पंखों के नीचे ले लिया। पर, कुछ देर में मेरे पंख जल गये और मैं यहाँ इस विंध्य पर्वत पर गिर पड़ा। जटायु तो मेरे पहले ही जन-स्थान में गिर पड़ा था। जब मुझमें उड़ने की शक्ति बिलकुल न रही, तब मैंने भूख प्यास के दुख से बिलकुल दीन हो कर अपने प्राण त्याग देने का निश्चय किया। इतने में मुझे एक ऋषि मिले। उन्होंने दयार्द्र दृष्टि से मेरी ओर देखकर मुझसे सारा हाल पूंछा। मैंने उनसे अपना सारा हाल कह सुनाया। तब ऋषि बोले:—"संपाति, तुम अपने प्राण न त्यागो। जिस समय तुम श्रीरामचन्द्रजी का कार्य करोगे, तब तुम्हारे नये पंख उत्पन्न होंगे। तुम तब तक जीवित रहो। तुम्हारा निर्वाह किसी न किसी तरह अवश्य ही होगा।" उसी समय से मैं इस विंध्य पर्वत पर ऋषि के वचनों का स्मरण करते हुए पड़ा हूँ। मेरा पुत्र मुझे भोजन ला देता है। इस प्रकार मैं आज दिन तक यहाँ पर उस सुअवसर की राह देख रहा था। सीताजी को ले जाते हुए मैंने रावण को देखा था। "राम राम" कहकर वे चिल्ला रही थीं। इस समुद्र के उस पार, सौ योजन पर, लङ्का नामक द्वीप है। वहाँ पर रावण राज्य करता है। उसके अन्तःपुर में मुझे सीताजी दिखाई दे रही हैं। इसलिए तुम प्रयत्न करो और समुद्र को लाँघ करके सीताजी की खोज करो।" ये वचन कहते हुए संपाति के पंख उत्पन्न हो गये। तब वह आनन्दित हो कर ऋषि ने वचन दिया था कि; श्रीरामचन्द्रजी के कार्य में सहायता करने पर तेरे पंख उत्पन्न होवेंगे। तदनुसार

ये पंख उत्पन्न हो गये हैं। इसलिए तुम मेरा बिश्वास करो और सीताजी का पूरा-पूरा पता लगा लो, तब वापिस जाओ। यहीं पर अपने प्राण मत त्यागो।" इस प्रकार उन बन्दरों को विश्वास और धैर्य दिलाकर अपने उड़ने के बल की जाँच करने के लिए वह गिद्ध उस स्थान पर से उड़कर पर्वत के एक शिखर पर जा कर बैठ गया। (कि० स० ४८-५२)

संपाती के कथन से उन सभी बन्दरों को विश्वास हो गया कि सीताजी रावण के अंतःपुर में ही हैं। वे बड़े आनन्दित हुए और सिंह के सदृश उछलते हुए, समुद्र तट पर जा पहुँचे। पर, समुद्र का भयंकर और अपार स्वरूप देख कर वे फिर निराश हो गये। कुछ स्थानों पर शांत और कहीं पर्वत के सदृश लहरों को उछालते हुए भयंकर स्वरूप वाले, नक्र-सर्प-दानवादि से युक्त और आकाश के सदृश अनन्त देख महासागर को देख कर, भावी कार्य-क्रम का निश्चय करने के लिए, वे सभी अंगद के आस-पास खड़े हो गये। तब अंगद ने उन सब को समझा कर कहा कि हताश हो जाने से मनुष्य निरुत्साही और निर्वीर्य बन जाता है; इस लिए विषाद का त्याग कर के मुझे कहो कि तुममें किसमें कितने योजन तक उड़ने की शक्ति है? उस समय गज, गवाक्ष, गवय, शरभ, गंधमादन, मैंद, द्विविद, सुषेण, जांबवन्त, हनुमान बन्दरों के सरदार अंगद के आस-पास बैठे हुए थे। गज ने कहा मैं दस योजन तक उड़ सकता हूँ।" तब गवाक्ष ने बीस, गवय ने तीस, शरभ ने चालीस, गंधमादन ने पचास, मैंद ने साठ, द्विविद ने सत्तर, सुषेण ने अस्सी; इस प्रकार उत्तर दिये। तब जांबवंत बोले:—"मैं तो अब

वृद्ध हो गया हूँ। जिस समय बलि के यहाँ पर यज्ञ हुआ था और वामन ने त्रिविक्रम रूप धारण किया था, उस समय मैंने उन्हें परिक्रमा दी थी। पर अब वृद्धावस्था में मेरी शक्ति का मुझे अनुमान नहीं है। तौ भी नब्बे योजन तक तो मैं सरलता से चला जाऊँगा।" फिर अंगद बोलेः—"तुम मत घबराओ। मैं सौ योजन लम्बे समुद्र को लांघ कर सीताजी के समाचार ले आता हूँ।" तब जांबवंत बोलेः—"हमारे अधिपति अंगद को ही इस कार्य के लिए भेजना योग्य नहीं है। सेना नायक की तो बहुत सावधानी से रक्षा करनी चाहिये। अभी तक हम सब से श्रेष्ठ वीर हनुमानजी ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया है। हनुमानजी की शक्ति बड़ी विलक्षण है। वे हमें अवश्य ही इस संकट से उबारेंगे। वे ही हमें सुग्रीव के दंड से बचा कर अपने कुटुंबियों से हमारी भेंट करावेंगे तथा हमें कृतार्थ करके श्रीराम-लक्ष्मणजी के दर्शन करने के लिये ले जावेंगे। हनुमानजी का सामर्थ्य भी महान् है। मैं उनसे प्रार्थना करता हूँ कि वे ही इस कार्य को करें।" यों कह कर जांबवन्त हनूमानजी की ओर देखने लगे। हनुमानजी एक ओर बैठे हुए थे। उनका यह नियम था कि अपने मुँह अपनी बड़ाई न की जाय। पर औरों के द्वारा प्रशंसित होते ही वे बड़े आनन्द से कोई काम करने के लिए तैयार हो जाते थे। जांबवन्त तो उनके स्वभाव को अच्छी तरह से जानते ही थे। इसलिए उन्होंने कहाः—"हे वीरवर हनुमान, तुम सभी शास्त्र जानने वालों में श्रेष्ठ हो। तुम एक ओर मौन धारण किये क्यों बैठे हो? हमें ज्ञात है कि तुम अपना पराक्रम अपने मुँह से कभी न कहोगे।

पर हनुमान, तुम बंदरों के राजा सुग्रीव के समान वीर हो। केवल इतना ही नहीं वरन् तुम्हारा पराक्रम तो राम-लक्ष्मण के सदृश है। अरिष्टनेमि का पुत्र गरुड़ आकाश से समुद्र में डुबकी लगा कर बड़े सर्पों को ले आता है। उस गरुड़ के पंखों में जितना कल है, उतना ही बल तुम्हारी भुजाओं में है। तुम्हारी बुद्धि तुम्हारा बल और तुम्हारा तेज सभी प्राणियों की अपेक्षा अधिक है। तुम आगे क्यों नहीं बढ़ते? सभी अप्सराओं में श्रेष्ठ अंजनी शापित हो कर वानरी हुई और उसने केसरी से विवाह किया। उनकी कोख में वायु से तुम्हारा जन्म हुआ है। जब वायु अंजनी के स्वरूप पर मोहित हो गये और उन्होंने अपने मन ही में उन्हें आलिंगन दिया, तब वह पतिव्रता उनपर बहुत क्रोधित हुई। उस समय वायु ने उन्हें समझा कर कहा:— यद्यपि मैं तुम्हारे पातिव्रत्य का भंग नहीं करूँगा, तथापि मैं वर देता हूँ कि तुम्हें मेरे ही सदृश महान् पराक्रमी और तेजस्वी पुत्र उत्पन्न होगा।" तदनुसार सूर्योदय के समय अंजनी की कोख से तुम्हारा जन्म हुआ है। उसी समय तुम सूर्य को एक लाल रंग का फल जान कर उसे पकड़ने के लिए दौड़ पड़े थे। तुम आकाश में तीन-सौ योजन तक चले गये तो भी तुम्हारा कुछ भी नहीं हुआ। अन्त में जब इन्द्र ने कुपित हो तुम्हारे मुँह पर वज्र फेंका, तब तुम्हारी ठुड्डी (हनु) टूट गई। तभी से तुम हनुमान कहाने लगे। इन्द्र को तुम पर प्रहार करते देख कर वायु बड़ा नाराज़ हुआ। वह तुम्हें सँभालने के लिए रुक गया। पर इससे इधर लोगों के पंच-प्राण व्याकुल हो गये। तब ब्रह्मदेव ने वर दिया कि तुम्हें किसी भी शस्त्र से हानि न पहुँचेगी। इन्द्र ने भी तुम्हें इच्छामरण का

वर दिया है। इस प्रकार तुम महान् पराक्रमी वायु के पुत्र हो और उन्हीं के सदृश बलवान् और वेगवान भी हो। अतः तुम्हीं हमें इस संकट से मुक्त करो। जब मैं तरुण था, तब मैंने त्रिविक्रम वामन को इक्कीस बार परिक्रमा लगाई थी। पर, अब तो मैं वृद्ध हो गया हूँ, इससे इस शतयोजन विस्तीर्ण समुद्र को लाँघ की शक्ति अब मुझमें नहीं रही है। तुम तरुण हो इसलिए अब यह काम तुम्ही को करना चाहिए। अतः हे कपिश्रेष्ठ हनुमान, उठो, हम सब की रक्षा करो, और त्रिविक्रम विष्णु की तरह अभी इस समुद्र को लांघ जाओ। ये सभी बंदर तुम्हारी ओर आशा से टकटकी लगाये देख रहे हैं।" इस प्रकार जाम्बवन्त के प्रार्थना करने पर हनूमानजी अत्यंत उत्साहित हो उठे और वे जोर से गर्जना कर के अपनी पूँछ को फटकारने लगे। जिस प्रकार सिंह हाथी को देख कर गर्जना करता है, उसी प्रकार हनूमानजी भी गरज कर अपना शरीर बढ़ाने लगे। तब वे सभी बंदर आनंदित हो कर उनकी ओर आश्चर्य से देखने लगे। वृद्ध बन्दरों द्वारा अपनी स्तुति को सुन कर हनूमानजी का तेज बढ़ गया और उनका स्वरूप दर्शनीय हो गया। वे बोले:—"मैं ही शतयोजन विस्तीर्ण समुद्र को लांघ कर सीताजी का पता लगा दूँगा; तुम सब निडर हो जाओ। मैं सारे समुद्र को पी जाऊंगा अथवा पर्वत को चूर चूर कर दूंगा। एक पल भर में गरुड की तरह आकाश में उड़ कर सीताजी का पता लगा लाऊँगा। मेरी अन्तरात्मा भी मुझ से यही कह रही है कि सीताजी मुझे अवश्य ही दिखाई देंगी। इसलिए अब तुम जरा भी चिन्ता न करो। मेरा तो विश्वास है कि मैं वायु अथवा गरुड के समान वेष धारण करके इस शत-

योजन समुद्र को सरलता पूर्वक लाँघ जाऊँगा। इस उड़ान का प्रहार सहने के लिए यह पर्वत भी काफी समर्थ है; अतः इस पर्वताग्र पर खड़ा हो कर मैं अब उड़ता हूँ।" यों कह कर हनूमानजी एक शिखर पर गये। तब सब बन्दर भी आनन्दित हो कर उछल-फाँद करते हुए उनके साथ चले। अन्त में जांबवन्त उनकी प्रार्थना करके बोले:—"हे केसरीसुत, हे मारुतात्मज, तुमने अपने सारे जातिबन्धुओं के शोक को नष्ट कर दिया है; अतः हम सब इन वनस्पतियों के पुष्पों से तुम्हारी पूजा करते हैं। तुम पर सब ऋषि, सब वृद्ध बन्दर और सभी गुरुजनों की सदा कृपा बनी रहे! उनके आशीर्वाद से तुम इस महत्कार्य को पूर्ण करके शीघ्र ही लौट आओगे। तुम्हारे लौट आने तक हम सब एक पैर पर खड़े हो कर तपस्या करते रहेंगे और हम सब के प्राण तुम्हारे आगमन पर ही अवलम्बित रहेंगे।" यह सुन कर हनूमानजी को और भी अधिक आनन्द हुआ और उन्होंने उस पर्वत पर से उड़ान लगाने का निश्चय किया। उनका तो मन भी लंका में श्रीसीताजी के चरणों में जा पहुँचा। (कि० स० ६४—६७)

सुन्दरकांड

इस प्रकार हनुमान जी सौ-योजन समुद्र को लांघ जाने के लिए कटिबद्ध हो गये। उन्होंने पहले अपनी गर्दन और शिर को उठा कर समुद्र का अवलोकन किया। अनन्तर पूर्व की ओर मुँह फेर कर उन्होंने वायु को नमस्कार किया और फिर दक्षिण दिशा की ओर उड़ने के इरादे से वे अपने शरीर को बढ़ाने लगे, तब सब बन्दर उनकी ओर टकटकी लगाए देखते रहे। जिस प्रकार किसी पर्वकाल के समय समुद्र बढ़ने लगता है, उसी प्रकार श्रीरामजी की उत्तम सेवा रूपी पर्व को साधने के लिए बहुत लम्बा उड्डान करने के हेतु से, उन्होंने अपना देह बड़ा बना लिया। अनन्तर उन्होंने अपने पर्वतप्राय शरीर के हाथ और पैरों से पर्वत पर जोर दिया। उसके साथ ही वह प्रचण्ड पर्वत भी हिलने लगा और उस पर के सारे वृक्षों के पुष्प टूट कर गिर पड़े। करारें गिर गईं। और सोना, चांदी, अंजन और पत्थर की चट्टानें खुली दिखाई देने लगीं। शिलाजित युक्त शिला भी टूट कर नीचे को गिरने गिरने लगीं। पर्वत के एकाएक हिलने के कारण उस पर के सभी जानवर चिल्लाने लगे। बड़े-बड़े साँप अपने बिलों से बाहर निकल कर अपनी फनें फैला कर क्रोधित हो पत्थर पर फनें पटकने लगे और मुँह से विष उगलने लगे। पर्वत के नष्ट हो जाने के डर से तपस्वी, मुनि, यक्ष, विद्याधर आदि

देवयोनि के लोग पर्वत पर से आकाश में उड़े और वहाँ से उन पर्वत प्राय हनुमानजी की ओर बड़े आश्चर्ययुक्त हो कर देखने लगे। हनुमानजी ने अपने शरीर को हिला कर बाल फैला दिये और मेघ की तरह गर्जना की। उन्होंने अपने मोटे और लंबे बाहु फैला दिये, पैर पेट से भिड़ा लिये और गर्दन को सीधी कर के वे सत्य और तेज से स्फुरित हो उठे। फिर उन्होने आकाश की ओर निगाह डाली, हृदय में पल भर सांस को रोक लिया, कान ऊँचे उठा कर संकुचित कर लिये तथा पावों को दबा कर उड़ान लगाने की बैठक पक्की कर ली। और "हे बन्दरो, श्रीराम के छोड़े हुए बाण की तरह मैं सीधा लंका को जाता हूँ" यों कह कर हाथ और पावों से पर्वत पर थाप मारी और एक दम आकाश में उड़े। तब उनके साथ सैकड़ों वृक्ष और बेलियाँ पृथ्वी से उखड़ कर आकाश में चली गई! जब हनूमानजी उन पुष्पित वृक्षों सहित आकाश में उड़े तब वे ऐसे दिखाई दिये मानों पर्वत के ही पंख उत्पन्न हो कर वह आकाश में उड़ा जा रहा है। जब थोड़ी देर में वे वृक्ष समुद्र में गिर पड़े, उस समय हनुमानजी का पर्वत-प्राय शरीर आकाश में उड़ता हुआ सभी को दिखाई दिया। आगे की ओर फैले हुए उनके बाहु ऐसे मालूम होते थे, मानों पांच फणों वाले भयंकर साँप ही उस पर्वत से निकल पड़े हैं। उनकी लाल-लाल आंखें पर्वत की दावाग्नि के सदृश दिखाई देती थीं। उनका प्रचंड लाल रंग का कटिपश्चाद् भाग पर्वत की टूटी हुई लाल करार की तरह दिखाई देने लगा। लंबी फैलाई हुई और लटकती हुई उनकी पूँछ मानों उठाये हुए साँप की तरह

दिखाई देती थी। उनकी गति से वायु को विशेष वेग प्राप्त हो गया। समुद्र के जिन प्रदेशों से वे जाने लगे, वहाँ का पानी कटता सा दिखाई देने लगा और भीतर के जलचर, नक्र, मछलियाँ आदि स्पष्ट दिखाई देने लगे। उनकी दश योजन चौड़ी और तीस योजन लंबी परछाईं समुद्र की सतह पर से दौड़ने लगी। वह एक अपूर्व दृश्य था। इस प्रकार उनके उस अद्भुत कर्म को देख कर देव, दानव और गंधर्वों ने आकाश से उनपर पुष्प-वृष्टि की।

"श्रीरामचंद्र के पूर्वजों ने ही मुझे निर्माण किया है। उनके कार्य में मुझे भी सहायक होना चाहिए तथा दुःसाध्य कर्म करने वाले हनूमानजी को राह में विश्रांति देनी चाहिए;" यह सोच कर ज्योंही समुद्र ने अपने पेट में छिपाये हुए मैनाक पर्वत को बाहर निकलने के लिए आज्ञा दी, त्यों ही मैनाक एकाएक समुद्र से बाहर निकल आया। पर, उसे बीच ही में एक विघ्न उपस्थित होते जान कर हनूमानजी ने एक चांटा लगा कर नीचे दबा दिया और आप हँसते हुए आगे चल दिये। उनके उस दूसरे महत्कर्म को देख कर देव, सिद्ध, महर्षि आदि सभी आश्चर्य चकित हो गये। तब उन्होंने सुरसा माता से हनूमानजी के बल की परीक्षा लेने के लिए कहा। सुरसा एक भयावनी राक्षसी का स्वरूप धारण कर के, हनूमानजी के मार्ग पर दश योजन चौड़ा मुँह फैलाये खड़ी हो कर कहने लगी:—"हनुमान, मैं तुझे अवश्य ही खा डालूँगी। मुझे यह वर मिला है कि बिना मेरे मुँह में गये कोई भी जीव नहीं छूट सकता।" तब उस दूसरे संकट को देख कर हनुमानजी ने अपने स्वरूप को और भी अधिक विशाल कर लिया। सुरसा ने भी अपना मुँह पच्चीस

योजन लंबा फैला दिया। तब हनुमामजी ने यह सोच कर कि यहाँ शक्ति के बदले बुद्धि से ही काम निकालना चाहिए, उन्होंने अपना स्वरूप संकुचित कर के एक अँगूठे के सदृश बना लिया और उस राक्षसी के मुँह में गिर कर फिर से आकाश में उड़े और कहा:—"हे माता राक्षसी, मैंने तुम्हारा कहना मान लिया। मैं तुम्हारे मुँह में गिर कर फिर से बाहर निकल आया हूँ।" इस प्रकार सुरसा के फन्दे से बच कर वे आगे की ओर बढ़े। तब सुरासुरों ने हनुमानजी की बुद्धि, बल और सत्व की बहुत प्रशंसा की। अंत में हनुमानजी को सामने का किनारा दिखाई देने लगा। तब समुद्र तट के वृक्षों की श्रेणियाँ तथा विभिन्न नदियों के उस समुद्र में गिरने वाले मुखों को देख कर वे अत्यंत आनंदित हो गये। पर उन्होंने सोचा कि मेरा प्रचंड शरीर देख कर राक्षस भयभीत और सावधान भी हो जावेंगे; अतः उन्होंने अपना हमेशा का स्वरूप धारण कर लिया और वे लंबगिरि के एक सुंदर शृंग पर जा बैठे। (सुं० स० १)

शतयोजन समुद्र को लाँघ कर ज्यों ही वह महापराक्रमी बंदर उस लंबगिरि पर्वत पर उतरा त्यों ही सारा पहाड़ काँप गया और वृक्षों ने उस बन्दर पर अपने पुष्पों की वर्षा की। उस समय उनके मुँह पर किसी प्रकार की भी ग्लानि अथवा परिश्रम के चिन्ह नहीं देख पड़ते थे, न उनका दम ही फूला था। उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक चारों ओर दृष्टि डाल कर देखा तो उन्हें त्रिकूट पर्वत के शिखर पर बसी हुई सुवर्ण की लंका मानों आकाश में तैरती हुई देख पड़ी। अब देरी कैसे? वैसे ही उठ कर उन्होंने हरे भरे मैदान, नाना प्रकार की सुगंधि से भरे हुए

बन और मधुमक्खियों के छत्तों से युक्त पर्वत की करारों के बीच में से लंका के मार्ग को आक्रमण करना आरंभ किया। पुष्पित बन और वृक्षों से आच्छादित पर्वतों को पार कर वे शीघ्र ही सुवर्ण प्राकार से घिरी हुई लंका-नगरी के निकट जा पहुँचे। तब नगर के बाहर उत्तमोत्तम पुष्प-वृक्ष, फल-वृक्ष, कूप, सरोवर आदि से युक्त उद्यान देख कर हनुमानजी बड़े आनंदित हुए। वे उस नगर में प्रवेश करने के योग्य किसी मार्ग को ढूँढ़ने लगे। पर वे ऐसा मार्ग चाहते थे, जिससे हो कर जाने से उनके कार्य की हानि न हो, शतयोजन समुद्र को लाँघने के परिश्रम व्यर्थ न हो जावें और रावण जैसे बलवान् राक्षस के जाल में फँस कर सीताजी का पता लगाने में कोई असुविधा न हो। इस प्रकार एक तरफ खड़े हो कर बहुत देर तक सोच विचार कर के उन्होंने छोटी सी बिल्ली का सा स्वरूप बनाया और उसी रूप में रात के समय नगर में प्रवेश करने का निश्चय किया। उन्होंने सोचा कि यदि कोई और दूसरा रूप बनाऊँगा तो राक्षस मुझे शीघ्र ही पहिचान लेंगे; अतः उन्होंने छोटे से बंदर का ही रूप धारण किया और संध्या का समय एक उद्यान में बिताया, सूर्यास्त हो जाने पर वे वहाँ से चल दिये और अनेक वृक्षों से युक्त उपवनों को लाँघ कर लंका के सुवर्ण तट के समीप जा पहुँचे। उस ऊँचे और दृढ़ तट के पास ही पानी से भरी हुई एक गहरी खाई थी। उसमें अनेक सुंदर कमल, कुछ खिले और कुछ अध खिले, दिखाई दे रहे थे। जब से रावण सीताजी को चुरा लाया था, उसने नगर के प्राकार पर बड़ा ही कड़ा पहरा बैठा दिया था। गढ़ पर थोड़ी-थोड़ी दूरी पर ही बुर्ज बने हुए थे और उनपर तथा

उनके द्वारों पर बलवान् राक्षस रात दिन खड़े रह कर पहरा देते थे। हनुमानजी उन पहरे वालों की ओर दृष्टिपात करते और दीवाल के उस ओर की नगर की शोभा को देखते हुए धीरे-धीरे एक वृक्ष पर से दूसरे वृक्ष पर जाने लगे। नगर के भीतर भी रमणीय उपवन थे और असंख्य प्राणियों से युक्त वह लंका-नगरी बड़ी सुंदर दिखाई देती थी। शरदऋतु की मेघ-पंक्तियों के सदृश श्वेत रंग के ऊँचे भवन एक दूसरे से मिले हुए दिखाई देते थे। समुद्र की स्वच्छ और ठंढी वायु सारे नगर में फैल रही थी, तथा उसकी मंद-मंद और मधुर ध्वनि भी सुन पड़ती थी। नगर में स्थान-स्थान पर सुंदर द्वार बने हुए थे और उनपर बन्दनवार लटक रहे थे। कहीं-कहीं एक-एक और कहीं-कहीं दो-दो हाथी चित्रित किये गये थे। प्राकार के बुर्जों पर भी पताकाएँ फहरा रहीं थीं। जिनमें छोटी-छोटी घंटाएँ लटक रही थीं। प्रायः सभी प्रासादों के द्वार सोने के थे, और उनके बाहर वैडूर्य मणियों की बैठकें बनाई गई थीं। भीतर के फर्श स्फटिक के थे और उनपर रत्नों और मोतियों में बेल बूटें बनाये गये थे। प्रासाद की सीढ़ियाँ भी योग्य स्थानों पर ही बनाई गई थीं और वे वैडूर्य की थीं। वहां पर स्फटिक की भूमि होने के कारण अन्दर कहीं भी मिट्टी होने की संभावना न थी। प्रत्येक प्रासाद में बड़े बड़े भव्य और सुशोभित कमरे बने हुए थे और उनके ऊपर पक्की छतें थीं। उन पर से राजहंस, मोर आदि पक्षियों के मनोहर शब्द भी सुनाई देते थे। सारांश, उस लंका नगरी को देख कर कि जहाँ पर सब प्रकार की मणि रत्नादि संपत्ति समुद्र-जल की तरह अपार थी, हनुमानजी बड़े आश्चर्य

चकित हो गये। उन्हें यही चिंता हो गई कि इस दुर्ग मेंमेरा प्रवेश होना कठिन है; वे चुपचाप खड़े हो गये। इस प्रकार नगर की शोभा को देखते और दीवाल पर चढ़ने के लिए निर्भय स्थान की खोज करते हुए वे एक स्थान पर चढ़ गये जहां कोई न थे और यह सोच कर प्रसन्न हो हां रहे थे कि अब मैं यहाँ से सरलतापूर्वक नगर में पहुँच जाऊँगा, एक भयंकर राक्षसी उनके सामने आ कर खड़ी हो गई। वह उन्हें डरा कर पूंछने लगी:—"अरे बन्दर, बता तू कौन है और भीतर क्यों घुसता है?" तब हनुमानजी ने उत्तर दिया:—"श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा से सीताजी का पता लगाने के लिए मैं इस नगर में आया हूँ।" उनका यह उत्तर सुनते ही उसने हनुमानजी को जोर से एक चांटा लगाया। तब हनुमानजी ने भी अपना पराक्रम एक घूंसे से ही उसे बतला कर पृथ्वी पर लिटा दिया। राक्षसी की अकल ठिकाने आ गई और वह हनुमानजी के चरणों पर गिर कर बोली:—"भाई, तुम आनन्दपूर्वक नगर में प्रवेश करो। मैं स्वयं लंका नगरी हूँ। ब्रह्मदेव ने मुझे वर दिया है कि जब एक बन्दर तुझे जीत लेगा तब राक्षसों का नाश हो कर यह ऊजड़ बन जायगी, अतः वह समय आ पहुँचा है। अब सीताजी के कारण, रावण के द्वारा राक्षस-कुल का अवश्य ही नाश होगा; इसमें कोई संदेह नहीं है।" यों कहकर वह राक्षसी वहीं पर गुप्त हो गई।

हनुमानजी ने किसी द्वार से शहर में घुसना ठीक न समझा। योंही प्राकार को फांद कर वे नगर में पहुँच गये—बल्कि यों कहना चाहिए कि उन्होंने शत्रु के मस्तक पर अपना पाँव रख दिया! तब वे एक उपबन में हो कर एक प्रासाद के शिखर पर चढ़ गये

और फिर नगर के एक बड़े मार्ग से हो कर जाने लगे। उस समय सहस्रों राक्षस मार्ग से इधर-उधर जाते हुए उन्हें दिखाई दिये। कोई घोड़े पर, कोई हाथी पर, कोई रथ में और कोई पैदल घूम रहे थे। कोई उत्तम वस्त्र धारण किये हुए थे। किसी ने जटा धारण कर रुद्राक्ष की मालाएँ पहन ली थीं, कोई खूबसूरत था तो कोई कुरूप। किसी के हाथों में शस्त्र थे तो किसी के हाथ में कमंडलु। कई राक्षस अपने प्रासाद में ही आनन्दपूर्वक खेल रहे थे। इस प्रकार लोगों की लीलाएँ देखते हुए वे गृहों की छत पर से जाने लगे। मार्ग में स्थान स्थान पर गुल्म अर्थात् पुलिस की चौकियाँ थीं और वहाँ पर शस्त्र धारण किये हुए बलवान राक्षस पहरा दे रहे थे। फिर वे बड़े बड़े प्रासादों के भीतर सीताजी को खोजने के लिए घुसने लगे और उन्होंने राक्षसों की सहस्रों सुन्दर और कुरूपा स्त्रियों को निःशंक और निष्पाप मन से निहार कर देखा पर उनमें उन्हें सीताजी के होने का विश्वास न हुआ। रावण के मंत्रियों और अन्य सरदारों के बड़े बड़े भवनों तथा उद्यानों में ढूँढ़-ढूँढ़ कर भी वे थक गये।

मध्य रात्र के समय चारों ओर शांति फैल गई थी। इतने में घूमते-घूमते उन्हें एक विस्तीर्ण मैदान दिखाई दिया और आगे की ओर एक विशाल राजमहल भी आधे जोजन चौड़ी और एक योजन लंबी परिधि के भीतर अनेक सुन्दर प्रासाद उन्हें देख पड़े। निधि के अधिपति कुबेर अथवा देवताओं के राजा इन्द्र के प्रासाद में जो लक्ष्मी रहती है, वही रावण के महलों में सर्वदा विराजती थी। अस्तु, उस प्रासाद के मध्य भाग में एक ऊँचा स्थान था और वहाँ पर सभी प्रकार के रत्नों से सुशोभित किया

हुआ एक पुष्पक विमान उन्हें दिखाई दिया। कुबेर ने कठिन तपस्या करके इसे ब्रह्मदेव से प्राप्त किया था। रावण उसीको कुबेर से जीत कर, लंका ले आया था। उस विमान के सारे खंभे सोने के थे और उसकी बैठकें भेड़िया के मुँह के सदृश थीं। उस विमान के शिखर मेरु-मंदार के सदृश ऊँचे, सुन्दर और विचित्र प्रकार की कारागरी से युक्त थे। उसकी खिड़कियाँ जालीदार और स्फटिक की बनाई हुई थीं। उसकी बैठकें इन्द्रनील मणियों की थी। उसका फर्श हीरे, मोती आदि से चित्रित किया गया था। उसके द्वार तथा अन्य आवश्यक स्थानों पर सुगंधित लकड़ी का उपयोग किया गया था और उसपर सोने की पच्चीकारी का काम किया हुआ था। इस प्रकार उस दिव्य विमान को उस छोटे से, बिल्ली के सदृश, बन्दर ने बड़े आश्चर्य से देखा। फिर उस पर चढ़कर उन्होंने चारों ओर निगाह डाली। तब राजमहल का सारा भाग उन्हें दिखाई दिया। उस राजमहल के आस पास चार चार दांत वाले बलवान् हाथी बँधे हुए थे। स्थान स्थान पर राक्षस पहरा दे रहे थे। राजमहल की सीमा में अनेक मंदिर थे जो एक से एक बढ़कर और सुन्दर थे। वहाँ आकाश के मध्य भाग में चन्द्र सर्वदा प्रकाशित होता था। मणि रत्नादि के बनाये हुए अनेक सुन्दर पक्षी स्थान स्थान पर शोभा दे रहे थे। बड़े बड़े राजमार्ग पुष्पों के गमलों से सुशोभित किये गये थे। इस प्रकार उस राजमहल की अपूर्व शोभा को देखकर हनुमानजी अत्यन्त आश्चर्य चकित हो गये। रावण के अन्तःपुर से आल्हादकारक सुगन्ध आ रही थी। वहाँ पर सोने के दीपक जल रहे थे। सीताजी का पता चल जाने की आशा से हनुमानजी उसीकी

ओर बढ़े। पहले कमरे में उत्तमोत्तम व्यंजन और बढ़िया स्वादिष्ट पेय सुवर्ण-पात्रों में रखे हुए उन्हें दिखाई दिये। उससे निकल कर वे रत्नों के खंभों वाले दूसरे विशाल कमरे में पहुँचे। वहाँ पर रत्न की सीढ़ियों वाले सोपान बने हुए थे; सोने की नक्काशीदार खिड़कियाँ थीं; कई स्फटिक के फ़र्श और बीच बीच में हाथी दाँत के चित्र बनाये गये थे। उन चित्रों में मोती हीरे और सोने की पच्चीकारी की गई थी। दालान के बीच में स्वच्छ और उत्तम वस्त्रों से आच्छादित पलंग रखे थे। और अगरु-चंदन के धूप की सुगंधित वायु भी चारों ओर फैल रही थी। सुवर्ण दीपों के प्रभाव से, मणि रत्नादि के तेज से और रावण के प्रताप से वह दालान प्रदीप्त हो रहा था। पर वहां पर उन्हें रावण की एक सहस्र स्त्रियाँ अव्यवस्थित रूप से निद्रित देख पड़ीं। नाना प्रकार के अलंकारों से भूषित, विभिन्न वेश-और अनेक प्रकार के सौंदर्य के कारण मन को मोहित करनेवाली, नाना देश और लोकों से लाई हुई उन निद्रित स्त्रियों को हनुमानजी ने अच्छी तरह ध्यानपूर्वक देखा। पर, वहाँ पर सीताजी के होने की उन्हें आशंका तक नहीं हुई। खिले हुए कमलों से भरे हुए सरोवर की नाई दिखाई देनेवाले उस सहस्र नारियों वाले दालान से निकल कर हनुमानजी आगे बढ़े। तब उन्हें एक बड़ा भारी रत्नों से युक्त पर्यंक देख पड़ा। उस पर्यंक की शोभा, हाथी-दाँत सोना, हीरे, और मोती की अनुपमेय कारीगरी के कारण, दिव्य थी। उस पर एक ओर सफेद, रेशमी, मोतियों की झालर से सुशोभित दिखाई देनेवाला छत्र, पूर्ण चंद्रमा की तरह चमक रहा था। पर्यंक पर कृष्णमेघ की तरह प्रचण्ड, कानों में कानों में उज्वल कुंडल धारण किये हुए, सफेद वस्त्र पहिने, सुगं-

धित रक्तचंदन से चर्चित होने के कारण संध्या समय प्रकाश के कुछ आरक्त से दिखाई देनेवाले और बारम्बार बिजली चमकाने वाले काले मेघ की नाईं, सुन्दर और भयंकर रावण उन्हें दिखाई दिया। तब उसके पास की एक ऊँची वेदिका पर चढ़ कर वह छोटा सा बन्दर रावण को निहार कर देखने लगा! उसकी प्रचंड और बलिष्ठ भुजाओं पर सुवर्ण के बाहुभूषण थे। उसके पुष्ट कंधों पर ऐरावतों से लड़ाई करते समय उनके दाँतों के जो घाव लगे थे, वे स्पष्ट रूप से देख पड़ते थे। उसके सिर पर से थोड़ा सा एक तरफ झुका हुआ उसका रत्नजटित मुकुट, उसके बदन पर बड़ा शोभायमान् दिखाई देता था। उसकी चौड़ी और मजबूत छाती पर मोतियों का हार पड़ा हुआ था। उसकी नाक से जोर की साँस निकलती थी और उसके द्वारा मद्य की गंध फैल रही थी। इस प्रकार उस रावण के समग्र स्वरूप का हनुमानजी ने भय और आश्चर्य से अवलोकन किया। फिर ज्यों ही उन्होंने उसके आस-पास निगाह डाली, त्यों ही उसकी और भी दशपाँच लावण्य-शाली स्त्रियाँ उन्हें देख पड़ीं। अन्त में एक ओर महामूल्यवान् पलंग पर सोई हुई एक अत्यन्त सुन्दर स्त्री को उन्होंने देखा। उस कनक-गौरा रूपवती मन्दोदरी को देखते ही हनुमानजी ने सोचा, कि कहीं यही तो सीताजी न हो। उस विचार से उन्हें जो आनन्द हुआ; उसे वे दबा नहीं सकते थे। फिर बन्दरों के स्वभाव के अनुसार उन्होंने अपनी छोटी सी पूँछ को बारम्बार चूमा। वे कनक स्तंभ से नीचे कूद पड़े और फिर से ऊपर को चढ़ गये तथा उन्होंने अपने मुँह से कई बार चीत्कार किया। इधर-उधर घूम कर और उन निद्रित स्त्रियों को देख कर उन्होंने बारम्बार

अपनी पूँछ को जमीन पर पटका, इस प्रकार आनन्द के आवेग में वे अपने आपको भी भूल गये। पर उनकी बुद्धि से कौन समता कर सकता था ? उन्होंने जरा विचार किया। सोचा श्रीरामजी के वियोग के कारण सीताजी किसी भोग को नहीं भोगेंगी, वे अपने शरीर पर आभूषण न पहिनेंगी, मधु-पान नहीं करेंगी और बहुधा शोक के कारण निद्रा भी नहीं लेंगी; और यह सोई हुई स्त्री तो आनन्दित दिखाई देती है, इसने मधुपान भी किया है, शरीर पर अलंकार भी पहिने हुए हैं—जो कुछ भी हो, ये सीताजी तो कदापि नहीं हैं। हाँ, रावण की पटरानी जरूर होगी; पर इस विचार से उन्हें अपने कार्य की अफलता पर दुःख भी हुआ और वैसे ही वे उस अंतःपुर से चल दिये। वहाँ से बाहर जाते समय उन्हें यह एक आशंका आई कि मैंने पर-स्त्रियों को निद्रितावस्था में देखकर बड़ा भारी पाप किया है। पर, उन्होंने फिर से यह सोच कर कि मेरा मन निश्चल और निष्पापी है, सीताजी को खोजने ही को लिये मैंने रावण के अन्तःपुर में प्रवेश किया था, स्वयं अपनी शंका का निराकरण कर लिया। (सु० स० ५—११)

रावण के अन्तःपुर से बाहर चले जाने पर हनुमान जी ने उस राज-महल के विस्तीर्ण उद्यान भी ढूँढ़ डाले, पर उन्हें कहीं पर भी सीताजी का पता न चला। राजमहल के सारे स्थान ढूँढ़ लेने पर भी जब सीताजी नहीं मिलीं, तब उन्हें बड़ा दुःख हुआ। वे सोचने लगे कि क्या समुद्र को लाँघ कर जो मैं यहाँ आया सो व्यर्थ ही होगा ? कहीं रावण से त्रस्त हो कर सीता जी ने अपने प्राण तो नहीं त्याग दिये ? अथवा उसकी इच्छानुसार बर्त्ताव न

करने के कारण कहीं उसने सीताजी को मार तो नहीं डाला ? कदाचित रावण ने उन्हें कहीं दूसरी जगह तो नहीं छिपा रक्खा हो ? इस तरह अनेक विचार उनके मन में उठे। पर, संपाती के इस कथन का उन्हें फिर स्मरण हुआ कि सीताजी यहीं से लङ्का में बैठी दिख रही है, और सोचा यदि ऐसा है तो मैं सीताजी को जरूर खोज लूंगा। सारी लंका को ढूँढ डालूंगा प्रयत्न करने पर तो परमेश्वर भी मिल जाता है, ' यों विचार कर उन्होंने फिर खोज शुरू की। समस्त लंका को ढूंढ डाला, आखिर उन्हें वह अशोक वन दिखाई दिया; वहाँ पर सीताजी के मिल जाने के विश्वास से उन्होंने बड़ी उत्सुकता से श्रीरामचन्द्रजी तथा अन्य सभी देवताओं को मन ही मन प्रणाम किया और धनुष से छूटनेवाले बाण की नाईं वे शीघ्र ही अशोक वन की दीवार पर चढ़ गये। वहाँ पर उन्हें अनेक प्रकार के वृक्ष दिखाई दिये। वे वृक्षों पर ही कूदते-फाँदते जा रहे थे, जिससे उनपर सुख से सोये हुए, पक्षी जाग उठे। पक्षियों की हलचल तथा हनुमानजी के उड़ान से वृक्षों के सहस्रों रंग बिरंगे पुष्प पृथ्वी पर गिरने लगे और वह दृश्य पुष्प-वृष्टि की तरह दिखाई देने लगा। उस वन में स्थान-स्थान पर चाँदी सोने और रत्न के फर्श बने थे। उत्तम सुगन्धित जल से युक्त नाना प्रकार के वापी कुप आदि उन्होंने देखे। उनमें चारों ओर से उतरने के लिए बहुमूल्य रत्नों की सीढ़ियाँ भी बनी थीं। उनमें की बालू मुक्ता-प्रवाल की थी। पानी के नीचे का फर्श स्फटिक का बना हुआ था और उनके किनारे पर सोने के विचित्र और कृत्रिम वृक्ष बनाये गये थे। इस प्रकार उन बावली और कूओं को देखते हुए वे एक कृत्रिम-पर्वत के पास जा पहुँचे। उसके अनेक ऊँचे-ऊँचे

शृंग थे। उस पहाड़ पर से एक नदी भी नीचे को गिरती थी। उसके तट पर के वृक्ष लटक कर पृथ्वी की ओर इतने झुक गये थे कि उनकी टहनियाँ पानी से छू गई थीं। जिस प्रकार बन्धु-जनों के बहुत समझाने पर भी कोई स्त्री क्रोधवश अपने प्राण त्यागने के लिए पर्वत की करार पर से गिर पड़ती है, उसी प्रकार वह नदी उन झुके हुए वृक्षों के कारण दिखाई देती थी। नदी के एक ओर लतामंडप था जो पत्तों से बिलकुल ढँक गया था। वहाँ पर एक जगह कांचन का एक ऊँचा शिंशपा वृक्ष भी था। तब हनुमानजी ने उस वृक्ष पर चढ़ कर चारों ओर देखा और वहीं से सारे अशोक-वन का अवलोकन किया। उन्हें वहाँ से अनेक मन्दिर और सुवर्ण की भूमि भी दिखाई दी। चारों ओर कांचन-मय वृक्ष होने के कारण उनकी प्रभा से हनुमानजी को अपना शरीर भी पीला-कांचनमय ही दिखाई देने लगा। सीताजी को पर्वतों की शोभा अत्यंत प्रिय है, वे बहुधा प्रातःकाल के समय स्नान संध्यादि कर्म करने के लिए इस नदी पर अवश्य ही आती होंगी, यह सोच कर वे उसके पास ही शिंशपा वृक्ष के पत्तों की ओट में बैठ गये और चारों ओर देखने लगे। तब उन्हें अनेक अशोक वृक्षों से वेष्टित रत्नों के खंभे और अशोक वृक्षों से घिरी हुई एक शाला दिखाई दी जिसमें भयंकर राक्षसियों से घिरी हुई, एक पीत और मलिन वस्त्र पहिने दुबली बारम्बार लम्बी साँस डालती हुई एक देवी बैठी थी। वह कृश हो जाने के कारण शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की कोर की सी सुन्दर दिखाई दे रही थी। वह अलं-कार रहित थी। आँखों से आँसू बह रहे थे और प्रिय-जनों के बदले भयंकर राक्षसियाँ सर्वदा अपने सामने होने के कारण वह

बड़ी दुखी दिखाई दे रही थी, मानों कोई एक दीन मृगी व्याघ्रों के द्वारा घेर ली गई हो ! उसके काले-काले मलिन बाल पीछे जमीन पर पड़े हुए थे और वह खुद भी जमीन ही पर लेटी हुई थी, हनुमानजी ने सोचा बस यही श्रीराम-भार्या सीताजी हैं। उनकी सुंदर और विशाल आँखें, सोने के सदृश अपूर्व कांति और पूर्ण चंद्रमा की तरह वदन, सुन्दर सरल नासिका आदि सौंदर्य-चिन्ह देख कर तो उनका विश्वास और भी मजबूत हो गया। "हाँ, वे ही सीताजी हैं, जिनके कारण श्रीरामजी इतने शोकाकुल हैं। इनका भी उन्हीं का सा अपूर्व स्वरूप है। जैसा उनका इन पर प्रेम है. ठीक वैसा ही इनका भी प्रेम दिखाई देता है। सचमुच सीताजी के बिना श्रीरामजी अभी तक कैसे जीवित हैं; यही आश्चर्य की बात है। शायद ही पृथ्वी पर कोई देवी सीता के समान हो।' इत्यादि विचार करते हुए वे अपने मन में श्रीरामजी के गुणानुवाद गाने लगे। इतने में कुमुद खंड के सदृश चंद्रमा का शुभ्र खंड क्षितिज पर चढ़ आया। तब यों आभास हुआ मानों हंस, नीले पानी में तैरने के लिए, प्रवेश कर रहा है। धीरे-धीरे चन्द्रमा के स्वच्छ किरण हनुमानजी की सहायता करने के लिए चारों ओर फैल गये। उन किरणों से तो सीताजी का स्वरूप हनुमानजी को और भी अधिक स्पष्ट दिखाई देने लगा। दुःख के कारण शोक समुद्र में डूबने वाले उनके खिन्न स्वरूप को देख कर हनुमानजी को अत्यंत शोक और हर्ष भी तो हुआ उनकी आँखों से आँसू टपकने लगे। पर, यह नहीं कहा जा सकता कि वे आँसू हर्ष के थे या शोक के। अब तो चंद्रमा की शुभ्र चांदनी के कारण सीताजी के आस-पास की राक्षसियों के

स्वरूप भी अच्छी तरह दिखाई देने लगे। उन्हें देख कर तो हनुमानजी का दुःख और भी अधिक बढ़ गया। उनमें से किसी के एक ही आँख थी तो किसी के कान ही नहीं थे, किसी के कान हाथियों के से थे तो किसी का सिर बहुत मोटा था, किसी की गर्दन बहुत भारी और लंबी थी तो किसी की ठुड्डी लटकी हुई थी। कोई बहुत ऊँची, कोई बहुत ही छोटी, कोई कुब्जा, कोई एक ही पैर वाली, किसी के पाँव हाथी की नाईं मोटे, कोई गधे के सदृश कान वाली, कोई गाय बकरी या सूअर के मुँह वाली, किसी के कान, किसी के नाक, किसी के सिर और किसी की अँगुलियाँ बहुत मोटी थीं। इस प्रकार अनेक प्रकार की भयंकर स्वरूप वाली राक्षसियाँ अपने हाथों में नंगे शस्त्र लिये सीताजी के आस पास बैठी थीं। उन्हें देख कर हनुमानजी बड़े ही दुखी हुए। (सु० का० स० १२–१७)

फिर उन घृणास्पद राक्षसियों की ओर से अपनी दृष्टि को हटा कर वे अपनी भावी कार्यवाही का विचार करने लगे। इतने ही में उन्हें बहुत दूर से प्रकाश आता हुआ दिखाई दिया। जरा ध्यान से देखने पर उन्हें मालूम हुआ कि कई सुन्दर स्त्रियाँ अपने हाथ में सुवर्ण की दिपिका लिये तथा कई हाथ में पंखा लिये आ रही हैं। उनके बीच एक प्रचंड शरीरधारी पुरुष है, जिसे वे हवा करती हुई आ रही हैं! एक स्त्री ठंडे जल से भरे हुए सुवर्ण पात्र लिये आगे को चल रही थी, दूसरी उस विशालकाय पुरुष के शिर पर श्वेत छत्र धारे हुए थी और कई अनुरक्त स्त्रियाँ उसके पीछे पीछे आ रही थीं। इस ठाठ बाट को देख कर हनुमानजी को निश्चय हो गया कि रावण की सवारी आ रही है। प्रातःकाल के समय जागृत

हो कर काम-संतप्त रावण सीताजी को देखने ही के लिए अशोक बन में आया था। उसे देखते ही, घोर आँधी के कारण काँपने वाले कदली वृक्ष की नाईं, बेचारी सीताजी काँपने लगीं। उन्होंने अपने पैर पेट से लगा लिए और अपने हाथ गोदी के बाहर निकाल कर सटा लिये! इस प्रकार अपने पेट से पैर भिड़ा कर वे पृथ्वी पर ही उन राक्षसियों के बीच में जा बैठी। उस समय धूलि धूसर शरीर वाली, कीचड़ में फँसी हुई कमलिनी की नाईं अनाथ सीताजी को देख कर रावण को और भी अधिक मोह उत्पन्न हुआ। सीताजी तो मनरूपी रथ पर सवार हो उस अल्प-काल ही में कम से कम हजार बार श्रीरामचंद्रजी के पास हो आई होंगी; श्रीरामजी में असीम भक्ति और अटूट प्रेम था। बार बार श्रीराम चरणों का आश्रय लेने पर भी जब उन्होंने देखा कि अपनी दुःखमय स्थिति का अंत नहीं हो रहा है, तब वे रोने लगीं। पूर्णिमा की रात को, चंद्रमा के बादलों में ढँक जाने पर जो दृश्य दिखाई देता है, सेनानायक के मर जाने पर सेना की जो दुःस्थिति हो जाती है अथवा किसी नदी का पानी सूख जाने पर वह जैसी दिखाई देने लगती है, वही अनुकम्पनीय दशा पतिशोक और रावण के भय से क्षीण सीताजी की हो रही थी। उनकी उस दुःखमय स्थिति का ख्याल कर, यथासंभव उनके दुख को कम करने के उद्देश से रावण धीरे से उनके सामने जा कर और बड़ी मीठी-मीठी बातें बना कर कहने लगाः—"हे सुन्दरी, मुझे देखते ही भय और कष्ट से तुम तो अपने शरीर को संकुचित कर के, अपने पेट से यों पाँव सटा कर बैठी हो—मानों तुम्हें मेरी ओर देखने की इच्छा भी नहीं हो? पर, तुम इस प्रकार के

कष्ट व्यर्थ ही क्यों उठाती हो ? मैं तुम पर अत्यंत प्यार करता हूँ। अतः मैं तुम्हें जरा भी दुख नहीं देना चाहता। तुम मेरी ओर से किसी प्रकार का भय न रक्खो। यदि तुम्हारा मुझ पर प्रेम न होगा तो मैं तुम्हें स्पर्श भी न करूँगा। हे देवी, तुम यहाँ पर किसी प्रकार का भी भय मत मानो। मेरा तो यही कहना है कि तुम व्यर्थ ही शोक न करो। मुझ पर विश्वास रक्खो। मेरा विश्वास है कि विधाता ने तुम्हारे सदृश कोई सुंदरी ही निर्माण नहीं की। मैं सारी पृथ्वी को जीत कर उसे तुम्हारे पिता राजा जनक को सौंप दूँगा। इस जगत में मेरे सदृश अन्य कोई बल-वान् राजा नहीं है। कोई शत्रु भी मेरे सामने खड़ा नहीं रह सकता। इसलिए तुम मेरे सहित त्रैलोक्य का राज्य करो, तथा यथेष्ट भोग्य वस्तुओं का भोग करो। तुम अपनी इच्छानुसार जिसे चाहो उसे द्रव्य अथवा पृथ्वी दे दो और मुझ पर विश्वास रख कर चाहो सो मुझे आज्ञा दो। मुझे तो अब इस बात का भी संदेह है कि वह देश निकाले की सजा पाया हुआ बेचारा तपस्वी राजकुमार राम जीवित भी होगा या नहीं ? और यदि जीवित भी हो तो भी वह मुझसे तुम्हें कदापि नहीं छुड़ा सकता।" उस भयंकर राक्षस की ये बातें सुन कर बेचारी सीताजी अत्यंत दुखित हो आँसू बहाने लगीं। फिर कुछ देर सोच-विचार कर वह महा-पतिव्रता अपने सामने एक तिनका रख कर बोली:—"रावण, तू पर स्त्री की इच्छा करता है: यह बहुत ही बुरी बात है। मेरी ओर से अपने मन को हटा कर तू अपनी स्त्रियों पर ही प्रेम कर। जिस प्रकार अपनी स्त्रियों की रक्षा करना तेरा कर्तव्य है, उसी प्रकार दूसरों को भी अपनी स्त्रियों की रक्षा करना एक अत्यंत

आवश्यक कर्त्तव्य मालूम होता है। जरा ख्याल कर कि तेरी ही स्त्री पर ऐसी आपत्ति गुजरती तो तेरे दिल की हालत क्या होती? बस, इसी तरह अपनी मनस्थिति पर से दूसरे की मनोदशा का भी ख्याल कर ले और तू अपनी ही स्त्रियों से अपने दिल को संतुष्ट कर ले। जिस प्रकार पापी मनुष्य को सिद्धि प्राप्ति की आशा नहीं करनी चाहिए, उसी प्रकार तुझे भी मेरी प्राप्ति की इच्छा को छोड़ देना चाहिए। क्योंकि उसका सफल होना असंभव है। मैं जानती हूँ कि तुझे मेरे बचन अच्छे नहीं लगेंगे। पर, यदि तू उन्हें न मानेगा तो निश्चय ही सारे राक्षस-कुल का नाश हो जायगा। यदि राजा ही आत्मसंयम को छोड़ कर अन्याय करने लगे तो इसके साथ ही उसका समृद्ध राष्ट्र भी नष्ट हो जाता है। मुझे जान पड़ता है कि तेरे अपराध के कारण अनेक रत्नों से परिपूर्ण इस लंका-नगरी का शीघ्र ही नाश होगा। मैं धन वा वैभव के लोभ से मोहित नहीं हो सकती। जिस प्रकार सूर्य की प्रभा सूर्य के बिना नहीं रह सकती, उसी प्रकार श्रीरामजी के बिना मैं भी कहीं न रह सकूँगी। इसलिए हे रावण, तेरे लिए यही बात ठीक और कल्याणकारी होगी कि तू मुझ दुखी अभागिनी को श्रीरामजी के पास पहुँचा दे। श्रीरामचंद्रजी शरणागत की रक्षा करने वाले हैं। अतः तू उनकी शरण गह और उन्हें प्रसन्न कर। यदि तुझे अपने प्राण की चिंता हो तो अपने मन को शुद्ध कर के मुझे शीघ्र ही श्रीरामचंद्रजी के पास पहुँचा दे; नहीं तो श्रीरामजी के धनुष्य का घोर शब्द शीघ्र ही तुझे सुनाई देगा। जब श्रीराम-लक्ष्मण के तीक्ष्ण बाण, विष को उगलने वाले सर्प की तरह इस नगरी पर पड़ेंगे, तब वे सहस्रों-लाखों राक्षसों के प्राण-हरण कर के इस सारी

नगरी में हाहाकार मचा देंगे। अरे अधम, तू राम-लक्ष्मण की अनुपस्थिति में घुस कर मुझे यहाँ पर बलपूर्वक ले तो आया है! पर, जिस प्रकार सिंह की आहट पाते ही कुत्ता भाग जाता है, उसी प्रकार युद्ध के समय तू भी उनके सामने खड़ा न रह सकेगा। इसलिए इसी समय सोच-विचार कर तू श्रीरामजी की शरण में जा।" सीताजी के ये कठोर वचन सुन कर रावण अत्यंत क्रोधित हो कर बोला:—"स्त्रियों का तो स्वभाव ही होता है कि जितना ही उन्हें अधिक समझाया जाय; उतनी ही वे अधिक सिर पर सवार होती हैं, और जितनी ही अधिक मीठी बातें उन्हें कही जावें उतना ही वे अधिक अपमान करने के लिए तैयार हो जाती हैं। यदि मेरा तुझ पर प्रेम न होता तो मैं अपने इस समय के क्रोध से तुझे पूरी निगल जाता। काम का तो यही चमत्कार है कि काम्य वस्तु के विषय में स्नेह और प्रेम उत्पन्न हो ही जाता है। तेरे प्रत्येक शब्द को सुन कर उसके बदले तेरा वध करना ही मुझे योग्य जँचता है। पर, तुझपर मेरा हार्दिक प्रेम होने के कारण मैं तुझे वह कठोर दंड दे नहीं सकता।" यों कह कर क्रोध से अपनी आखें लाल कर के रावण बोला—"मैथिली. मैंने तुझे जितना अवसर दिया था, उसके पूरा होने में अब केवल दो मास ही शेष रह गये हैं। इसलिए याद रख कि यदि दो मास में भी तू मेरे वश में न हुई तो फिर मेरे रसोइये तेरे टुकड़े-टुकड़े करके तेरे मांस का मेरे लिए उपहार बना कर परोसेंगे।" सीताजी के अन्दर पातिव्रत धर्म का अपूर्व तेज जगमगा उठा और वे आवेशपूर्वक बोलीं:—रावण, क्या तेरा कोई बुद्धिमान् संबन्धी भी नहीं है जो तुझे इस पाप से परावृत

करने का प्रयत्न करे। परम धार्मिक श्रीरामचन्द्रजी की स्त्री को बुरी दृष्टि से देखने वाला, सिवा तेरे, तीनों लोक में कोई भी अन्य मूर्ख न होगा। अरे, तेजस्वी श्रीराम की भार्या के सामने तू पापपूर्ण शब्द अपने मुँह से कैसे निकाल रहा है! पर याद रखना, उनके पंजे से तू बचने के लिए तू भाग कर जावेगा कहाँ? अरे नीच, फिर भी तेरे क्रूर विकृत नेत्र फूट कर पृथ्वी पर क्यों नहीं गिर पड़ते? जो तू मेरी ओर पाप-भरी दृष्टि से देख रहा है? मैं उस धर्मात्मा की स्त्री और राजा दशरथ की पुत्र-वधू हूँ; मेरे सामने ऐसे बुरे-बुरे शब्द कहते हुए तेरी जबान कैसे नहीं गल पड़ती? मैं अपने तप का उपयोग नहीं कर सकती और श्रीरामजी की भी मुझे आज्ञा नहीं है; अन्यथा मैं इसी समय तुझे भस्म कर देती। अरे, तू तो अपने को शूर समझता है; कुबेर का भाई कहलाता है, और अपनी असंख्य सेना के बल पर घमण्ड मारता है; फिर रामचन्द्र जी को धोखा दे कर उनकी स्त्री को कैसे चुरा लाया?" सीताजी के कठोर शब्द सुन कर तो रावण के शरीर में, सिर से पैर तक आग धधक उठी और वह अपनी लाल-लाल आँखें फाड़ कर सीताजी की ओर देखने लगा। उस समय वह काले पहाड़ के सदृश प्रचंड तथा दीप्त नेत्रों के कारण भयंकर दिखाई देता था। वह लंबी-लंबी भुजाओं और जबड़े वाला राक्षस, स्मशान में खड़े हुए एक महान वृक्ष की तरह दिखाई देता था। वह क्रुद्ध हो अपनी लाल-लाल आंखें फाड़ कर बोला:—"उस भिखमंगे राम पर मोहित हो कर तूने अभी जो कठोर शब्द कहे हैं, उनका मजा मैं तुझे अभी चखा देता हूँ।" यों कह कर उन राक्षसियों की ओर देख कर वह बोला:—"राक्षसियों, इसे डरा धमका कर

इतनी जर्जर कर दो जिससे इसका यह सारा कोरा अभिमान नष्ट हो जाय और यह मेरे वश में हो जावे" तब धान्यमालिनी नामक रावण की स्त्री रावण को आलिंगन दे कर बोली:— "महाराज, आप व्यर्थ ही क्यों सीता के पीछे पड़े हैं और अपने दिल को दुखी कर रहे हैं। यह तो बेचारी दुखिया है। मारे चिंता के पीली पड़ गई है। और मानुषी है। इसके भाग्य में ऐश्वर्य-सुख कहाँ? आप जैसे त्रैलोक्याधिपति के भाग्य की सहकारिणी बनना इसके भाग्य में कहां। ऐसी स्त्रियों की इच्छा करने से तो व्यर्थ ही चित्त को संताप होता है। किसी प्रेमी स्त्री पर प्यार करने से ही आनन्द प्राप्त होता है। इसलिए आइए, इसका ध्यान छोड़ दीजिए। चलिए हम दोनों क्रीड़ा करें।" यों कह कर धान्यमालिनी रावण का हाथ पकड़ कर उसे अपने साथ ले कर वहां से चल दी। (सुं० स० १८—२२)

रावण के लौट जाने पर सीताजी पर पहरा देनेवाली उन राक्षसियों ने उनपर एकदम आक्रमण करके उन्हें बे तरह घबरा डाला। कोई डण्ड फटकार कर उनकी ओर दौड़ी, तो कोई बोली: "अरी मूर्खा राक्षसाधिपति रावण तुझ पर मोहित होने पर भी तू उनका स्वीकार क्यों नहीं करती?" एक राक्षसी मारे गुस्से के अपनी लाल-लाल आंखें फाड़ कर बोली:— "अरी अधमा, सूर्य-चन्द्र जिनकी आज्ञा का पालन करते हैं, उन महाराजा रावण की पत्नी क्यों नहीं बनती? वे अपनी सहस्त्र स्त्रियों का त्याग करके तुझे पटरानी बनाने का वचन देते हैं; फिर भी तू इतना घमण्ड क्यों करती है?" इत्यादि अनेक प्रकार की बातें कह कर और उन्हें डराने का प्रयत्न करके उन्होंने सीताजी को खूब कष्ट दिये।

तब बेचारी सीताजी रोने लगीं: उनकी आंखों से आंसू बहने लगे। फिर वे धैर्य धारण करके बोलीं:—"राक्षसियों, तुम मुझे खा जाओ, जिससे मैं इस कष्ट से एक बारगी मुक्त हो जाऊँगी। मैं श्रीरामजी को छोड़ कर रावण को स्वीकार कदापि न करूँगी। यद्यपि श्रीरामजी राज्य-हीन हैं, तथापि वे मेरे पति हैं और मुझे गुरु की नाईं बन्दनीय हैं। सूर्य की पत्नी, सुवर्चसा, इन्द्र की शची, वशिष्ठ की अरुंधती, चंद्र की रोहिणी अगस्त्य की लोपामुद्रा, च्यवन की सुकन्या, सत्यवान की सावित्री, कपिल की श्रीमती अथवा नैषध की दमयन्ती को तरह मैं भी पतिव्रता और पतिपरायणा हूँ। मैं श्रीरामजी के अतिरिक्त किसी के भी वश में न होऊँगी। यदि तुम मुझे खा डालोगी, तो भी मुझे अपने प्राणों की चिन्ता नहीं है।" सीताजी के उक्त उद्‌गार सुन करके वे राक्षसियाँ और भी गुस्सा हो उठीं और उनके आसपास घूम-घूम कर चिल्लाने लगीं। तब सीताजी अत्यन्त दुखी हो वहां से उठ कर एक शिंशपा वृक्ष के नीचे जा कर खड़ी हो गईं। उन राक्षसियों ने उन्हें वहाँ भी जा कर घेर लिया। तब विनता नामक एक भयंकर स्वरूप वाली और पृथ्वी तक पेट लटकने वाली राक्षसी बोली:— "सीता, अब तुम अपने हठ को छोड़ दो। तुमने अपने पति पर बहुत कुछ प्रेम किया, पर "अति सर्वत्र वर्जयेत्" की नाईं किसी एक ही बात का अधिक हठ करने पर बहुत दुःख होता है। इसलिये अब मेरी बात मानो। तुम राक्षसों के राजा रावण की पत्नी बन जाओ, जिससे तुम सारे जगत की स्वामिनी हो जाओगी। पर यदि तुम मेरा कहा न मानोगी तो मैं तुम्हें अभी खाये लेती हूँ।" इस प्रकार वे सभी राक्षसियाँ उन्हें डराने

लगीं। एक ने कहा—"जब रावण तुम्हें यहाँ पर लाये, तभी से मैंने तुम्हारे कलेजे को खाने का निश्चय कर लिया था। अतः यदि तुम रावण का कहा न मानोगी तो मैं तुम्हें अवश्य ही मार कर तुम्हारा कलेजा खा जाऊँगी।" यों कह कर उसने अपना त्रिशूल आगे को बढ़ाया। इस प्रकार सभी राक्षसियों ने उन्हें मार डालने का बहुत कुछ डर दिखाया, तब बिचारी सीताजी अशोक वृक्ष की डाल को हाथ से अपने पेट के पास पकड़ कर अश्रु भरे नेत्रों से "हा राम, हा लक्ष्मण, हा कौशल्या" चिल्ला चिल्ला कर रोने लगीं। उस समय उनका सारा शरीर काँपने लगा। जिससे उनकी पीठ पर पड़ी हुई केशों की जूड़ी काले साँप की नाईं हिलने लगी। तब कोप और शोक से आर्त्त हो कर वे बोलीं:—"यह कहावत असत्य नहीं है कि मौत किसी के बुलाये नहीं आती। आश्चर्य की बात है कि रामचंद्रजी के बिना मैं पल भर भी कैसे जी रही हूँ? तिस पर भी इन भयंकर राक्षसियों के द्वारा इस तरह सताये जाने पर भी मेरी मृत्यु क्यों नहीं आती? अब तो इन आँखों को आर्यपुत्र के दर्शन असंभव से जान पड़ते हैं। वह धन्य होगा जिसे अब उनके वे विशाल नेम और सिंह के सदृश गति देख पड़ेगी। मालूम नहीं कि मैंने पिछले जन्म में कौन सा घोर पाप किया था, जिसके कारण मुझे यह भयंकर दुख भोगना पड़ा है। हा दैव, अब मैं इस शोक को नहीं सह सकती; अतः मैं अपने प्राण त्याग देती हूँ। हे आर्य-पुत्र, अब आपके दर्शनों की आशा नहीं दिखाई देती है। इन राक्षसियों के अत्याचार से छुटकारा पाने के लिए मेरे पास और कोई सुगम उपाय नहीं है। हे प्राणेश्वर, शायद आप स्वप्न में भी

नहीं जानते होंगे कि मैं किस विपत्ति में फँसी हुई हूँ। यदि आप मेरी स्थिति को जानते होते तो अवश्य ही मुझे छुड़ाने का प्रयत्न करते। पर, हे प्राणनाथ, आप मेरे शोक के कारण इस लोक को छोड़ कर कहीं देवलोक को तो नहीं चल दिये? पर, यह भी संभव है कि धर्मशील श्रीराम को मेरे समान मन्दभागिनी स्त्री की आवश्यकता ही नहीं होगी। क्योंकि दुनिया में आंखों देखा प्रेम होता है। आंखों से ओझल होते ही प्रेम भी कम हो जाता है। पर नहीं, आर्यपुत्र का हृदय ऐसा दरिद्र नहीं है मुझ में ही कोई दुर्गुण होंगे या मेरा भाग्य ही कमजोर होगा! पर, इन सब बातों से क्या फायदा? अब तो प्राण-त्याग ही इस विपत्ति से छूटने का एकमात्र उपाय है, इससे मैं कम से कम इन दुष्ट राक्षसों के कष्ट से तो मुक्त हो जाऊँगी।" तब उनके वे संताप जनक और निश्चयात्मक शब्द सुन कर वे राक्षसियाँ बहुत ही घबड़ा गईं। उनमें से कई तो रावण को वे समाचार कहने के लिए तक दौड़ पड़ीं। तब शेष राक्षसियों में से त्रिजटा नामक एक राक्षसी बोली:—"अरी राक्षसियों, तुम इन्हें कष्ट न दो वरन् इनके पैरों पर गिर कर क्षमा मांगो। आज रात को मैंने एक विचित्र स्वप्न देखा, सुनो मैं तुम से वह कहती हूँ। स्वप्न में मुझे श्रीराम-लक्ष्मण एक चार दाँतवाले हाथी पर बैठ कर इधर आते हुए दिखाई दिये। उन्होंने सीताजी को उठा कर हाथी के मस्तक पर बिठा लिया। तब वह आकाश में उड़नेवाला हाथी राम, लक्ष्मण और सीताजी के कारण बहुत सुहावना दिखाई देने लगा। इतने में सीताजी ने सूर्य-चन्द्र को भी अपने हाथ में ले लिया। उस समय रावण सामने से पुष्पक विमान में बैठा हुआ आ

रहा था; पर वह नीचे गिर पड़ा। उसका सिर मूंडा हुआ था और शरीर तेल से तर था। उसके गिरते ही एक भयंकर स्वरूप-वाली देवी दक्षिण की ओर खींच कर उसे ले गई। यह स्वप्न मैंने देखा। इससे ज्ञात होता है कि राम-लक्ष्मण अवश्य ही लंका में आकर, रावण का नाश करके, सीताजी को छुड़ा ले जावेंगे। उस समय सिवा सीताजी के दूसरा कोई हमारी रक्षा नहीं कर सकेगा। इसलिए हे राक्षसियों, अब तुम इन्हें कष्ट देना छोड़ दो। बल्कि इन्हें प्रसन्न रख कर यहीं पर बैठने दो और तुम यहां से अलग हट जाओ। तब सीताजी ने बड़ी उत्सुकता से कहा कि "तुम्हारे वचन सत्य हो।" यह सुन कर राक्षसियों ने सीताजी को कष्ट देना छोड़ दिया और सीताजी ने भी उनके बहुत उपकार माने। (सुं० म० २३-२९)

इधर हनुमानजी उस शिशप वृक्ष पर बैठे-बैठे वहां की सारी घटना का अवलोकन कर रहे थे। उन्होंने सोचा कि सीताजी से मिलने का यही उत्तम अवसर है। पर साथ ही उन्हें इस बात की भी बड़ी चिंता हुई कि सीताजी को मैं किसी माया रूपी राक्षस के न होने का कैसे विश्वास दिला सकूंगा? अन्त में उन्होंने निश्चय किया कि सीताजी को संक्षेप में श्रीरामचन्द्रजी का चरित्र ही सुनना चाहिए। तदनुसार वे यों मधुर कण्ठ से श्रीराम-चरित्र का वर्णन गाने लगेः—"अयोध्या में इक्ष्वाकु वंशीय महाकीर्ति रथ, अश्व, गज आदि संपत्ति से युक्त, पुण्यशील राजा दशरथ राज्य करते थे। उनके ज्येष्ठ और प्रिय पुत्र श्रीरामचन्द्रजी धनुर्धारी वीरों में श्रेष्ठ हैं। उन्होंने अपने सत्यवादी वृद्ध पिता की आज्ञा से अपनी भार्या और भ्राता सहित वन में प्रवेश किया। उन्होंने

अरण्य में अनेक कामरूपी राक्षसों को मारा। जनस्थान के खर-दूषण नामक राक्षसों को भी उन्होंने यम-लोक को भेज दिया। उन समाचारों को पा कर रावण क्रोधित हो, उन्हें मृग के लोभ में फँसा कर, उनकी भार्या सीताजी को चुरा लाया। उस देवी की खोज में घूमते-घूमते सुग्रीव नामक बन्दर से श्रीरामजी की भेंट हुई। श्रीराम ने उससे मित्रता करके तथा उसके अत्याचारी भाई बाली को मार कर उन्होंने उसे किष्किंधा का राज्य सौंप कर बन्दरों का राजा बना दिया। तब सुग्रीव ने सीताजी का पता चलाने के लिए चारों दिशाओं में सहस्रों बन्दर भेजे। मैं हनुमान उन्हींमें से एक हूँ और संपाति के कथनानुसार सौ योजन समुद्र को लांघ कर सीताजी की खोज करने के लिए यहां पर आया हूँ। श्रीरामजी ने सीताजी के स्वरूप, वर्ण और लक्षणों का वर्णन किया था; वे ही सीताजी अब मुझे यहां पर देख पड़ी हैं।" यों कह कर हनुमानजी रुक गये। वह कथा सुन कर सीताजी एकदम आश्चर्य-चकित हो गई और उन्हें स्वप्न का सा आभास हुआ। फिर स्नेह, आश्चर्य और सन्देह से उन्होंने उस शिंशप वृक्ष की ओर देखा और उन्हें एक अशोक पुष्प के गुच्छे की नाई, सोने के सदृश चमकती हुई आंखों वाला और नम्रतायुक्त एक बन्दर दिखाई दिया। उसे देख कर वे अत्यन्त चकित हो गई। हनुमानजी की ओर देखते-देखते उन्हें कुछ भय भी हुआ और उन्होंने अपनी दृष्टि फेर ली। वे कुछ मूर्च्छित भी हुई और 'राम' 'राम' कह कर श्रीरामजी का स्मरण करते हुए भयग्रस्त हो उन्होंने अपनी आंखें मूंद लीं। यह देख हनुमानजी वृक्ष से नीचे उतरे, और करुणा और विनय पूर्वक उन्हें साष्टांग दंडवत् करके हाथ जोड़ कर

बोले:—"देवी, मैं श्रीरामचन्द्रजी का दूत हूँ और उन्हीं की आज्ञा पा कर आपकी ओर आया हूँ। हे वैदेही श्रीरामजी सकुशल हैं और उन्होंने तुम्हारे कुशल समाचार पूछे हैं। चारों वेद और ब्रह्मास्त्र के जाननेवाले श्रीरामजी ने आपको अपने कुशल समाचार भेजे हैं तथा उनके छोटे भाई प्रिय अनुचर, तेजस्वी लक्ष्मणजी ने भी शोक-संतप्त हृदय से आपको प्रणाम कहा है।" इस प्रकार उन दोनों राजपुत्रों के कुशल समाचार सुन कर सीताजी अत्यन्त आनन्दित हो गईं और वे बोलीं:—"किसी ने सच ही कहा है कि यदि मनुष्य जीता बचा रहे तो सौ वर्षों में भी तो कभी न कभी वह आनन्द का सुदिन देख सकता है।" सीताजी के वे समाधान युक्त उद्गार सुन कर वायुपुत्र हनुमानजी आगे की ओर बढ़े। पर ज्यों-ज्यों वे सीता की ओर बढ़ते गये त्यों-त्यों उन्हें यही जबर-दस्त संदेह होता गया कि यह तो रावण ही है। अन्त में भयभीत हो कर उन्होंने हनुमानजी की ओर से अपनी दृष्टि फेर ली और बोली—"रावण, यदि तू बनावटी रूप धारण कर पुनः मेरे सामने आया है, तो इस प्रकार मुझे पुनः कष्ट पहुँचाना तुझे नहीं सोहता। इसी प्रकार अपने असली स्वरूप को छिपा कर संन्यासी का वेश बना कर के तू मुझे चुरा लाया था। अतः मेरा तुझ पर विश्वास नहीं है। सचमुच तू तो रावण ही मालूम होता है; जा, अब तो मैं तुझ से एक शब्द भी न बोलूँगी।" यों कह कर वे उस अशोक वृक्ष की शाखा को छोड़ कर फिर पूर्ववत् पृथ्वी पर बैठ गईं और अपनी जबान बन्द कर ली। उनके उस निश्चय को देख कर हनुमानजी को भी बड़ा विषाद हुआ और उन्होंने हाथ जोड़ कर मधुर शब्दों में प्रार्थना की:—

'देवी वैदेहि; आप डरें नहीं, मैं वह मायावी रावण नहीं हूँ। मैं तो अपने पराक्रम के बल पर ही आप से मिलने के लिए यहाँ आया हुआ श्रीरामचन्द्रजी का दूत हूँ। रावण जब आपका हरण कर के ले जा रहा था और उस समय आपने जो आभूषण आकाश से पृथ्वी पर डाले थे, उनको मैंने ही उठाया था। और श्रीरामजी से भेंट होने पर उन्हें उनको दे दिया था। उस समय श्रीरामजी ने उन्हें देख कर इतना शोक किया कि उसका वर्णन करना असंभव है। बड़ी देर तक तो उन अलंकारों को उन्होंने हृदय से ही लगा रक्खा और इतना रोये कि रोते-रोते पृथ्वी पर लेट गये। वे प्रतिदिन आपके लिए शोक करते रहते हैं। आपके दर्शन न होने के कारण वे अनेक अरण्य, गिरि कंदराएँ और नदियों के पुलीनों पर भटकते रहते हैं पर फिर भी उनका शोक शांत नहीं होता। पर अब तो श्रीरामजी शीघ्र ही बंधु-जनों सहित रावण का नाश कर के, आपको छुड़ावेंगे; इसमें आप जरा भी संदेह न करें। हे महाभागे, मैं बंदर हूँ और श्रीरामजी का दूत हूँ। इस बात का आपको विश्वास दिलाने ही के लिए श्रीरामजी ने अपनी अँगूठी मुझे दी है; अतः इसे देखिए। श्रीरामचंद्रजी ने मुझे यह अँगूठी इसी लिए दी है कि आपको विश्वास हो जाय तथा आप मुझे पहचान लें। इसे देख कर उन्हें आप मुझ पर विश्वास कीजिए। अब तो आपके दुःखों का अन्त हुआ ही चाहता है।" यों कह कर हनुमानजी ने वह अँगूठी उनके सामने रख दी। अपने पतिदेव की अँगूठी को देख कर अकथनीय आनंद हुआ। उन्हें तो इतना आनंद हुआ कि मानों अपने पति से ही भेंट हो गई उनका वह खिला हुआ प्रफुल्ल सुंदर

मुख, वे आरक्त, शुभ्र, और विशाल नेत्र राहु से मुक्ति पाने वाले चन्द्रमा की नाईं दिखाई देने लगे। पति के संदेश को सुन कर आनंदित हो वह लज्जावती बाला अपना अत्यंत प्रिय कार्य करने वाले हनुमानजी की बड़े आदर से यों प्रशंसा करने लगी:— हनुमान धन्य है तुम्हें कि राक्षसों के इस दुर्भेद्य किले में तुम निःशंक हो कर अकेले ही कैसे घुस आये; तुम्हारा पराक्रम, सामर्थ्य और बुद्धि अवर्णनीय है। अरे भयंकर मगरों और जलचरों वाले सौ योजन समुद्र को तुम कैसे लाँघ आये, जरा कहो तो। भाई तुम्हारा पराक्रम सचमुच अलौकिक है। अरे, समुद्र कितना विशाल है। पर तिस पर भी तुम्हारे सामने वह गाय के खुर से बने गढ़े के सदृश बन गया। वानर श्रेष्ठ हनुमान! तुम तो रावण से ज़रा भी नहीं डरते। एक दम निडर हो। सचमुच तुम एक असाधारण बन्दर हो, और श्रीरामचंद्रजी ने सोच-समझ कर ही तुम्हें अपना संदेश दे कर मेरी ओर भेजा है। इसलिए तुम मेरे साथ संभाषण करने के लिए सर्वथा योग्य हो। श्रीरामजी तुम्हारे पराक्रम की परीक्षा किये बिना तुम्हें यहां पर कदापि नहीं भेजते। बड़े आनंद की बात है कि परमेश्वर की कृपा से धर्मात्मा सत्यसंघ श्रीरामजी सकुशल हैं तथा सुमित्राजी को आनंद देने वाले तेजस्वी लक्ष्मणजी भी सानंद हैं। यदि वे दोनों कुशल हैं तो समुद्र से घिरी हुई इस सारी पृथ्वी को ही वे क्यों नहीं जला देते? वे तो देवताओं का भी पराभव करने में समर्थ हैं। पर, शायद अभी मेरे दुखों की अवधि समाप्त नहीं हुई। क्या श्रीरामजी मेरे कारण दुखी हैं? क्या वे रावण पर क्रुद्ध हो गये हैं? क्या वे शेष कार्य को त्याग

तो नहीं देंगे ? क्या बन के दुःखों के कारण श्रीरामजी का मेरे विषयक प्रेम कहीं कम तो नहीं हुआ ? हनुमान, सच सच बता दो क्या श्रीरामजी मुझे इस भयंकर बन्दीगृह से छुड़ावेंगे ? क्या भ्रातृ-वत्सल-भरत मुझे छुड़ाने के लिए शूर सेनापति के नेतृत्व में एक अक्षौहिणी सेना भेज सकेंगे ? क्या बन्दरों के अधिपति श्रीमान् सुग्रीव दाँत और नखों के बल पर लड़नेवाले अपने बीर बन्दरों को साथ ले कर मुझे छुड़ाने के लिए यहाँ पर आवेंगे ? क्या मेरे शूर देवर लक्ष्मणजी इन दुष्ट राक्षसों को अपने बाणों से जर्जर कर सकते हैं ? क्या इस अधम रावण को, अपने सुहृद्-जनों सहित, श्रीरामजी के भयंकर अस्त्रों से शीघ्र ही मरा हुआ देखने का सौभाग्य मुझे प्राप्त होगा ? श्रीरामजी का वह सुवर्ण के सदृश कांतिमान और कमल के सदृश सुगंधि युक्त चेहरा मेरे विरह के कारण कहीं सूख तो नहीं न गया ?" ये और इस तरह के अनेकों प्रश्न पूछ पूछ कर उन्होंने हनुमानजी को घबड़ा डाला। उन प्रश्नों से सीताजी की मन-स्थिति का पूरा पूरा हाल हनुमानजी को मालूम हो गया। तब उन्होंने हाथ जोड़ कर और मस्तक नँवा कर कर कहाः—"वैदेही, यदि श्रीरामजी को आपके यहाँ होने का जरा भी पता लग जाता तो वे कभी से न आपको यहाँ से छुड़ा कर ले जाते। अब मैं उन्हें आपके समाचार कहूँगा। और, फिर बन्दरों की प्रचंड सेना अपने साथ लेकर वे शीघ्र ही समुद्र पर पुल बांध कर, इस लंकापुरी के समग्र राक्षसों का नाश कर डालेंगे। मन्दार, मैनाक, हिमालय और विन्ध्य पर्वत की शपथ ले कर मैं कहता हूँ कि श्रीरामजी का मुख कमल शीघ्र ही आपको दिखाई देगा। श्रीरामजी को निद्रा लेने

की इच्छा होने पर भी वे निद्रा नहीं ले सकते। रात में एकाएक 'सीता' 'सीता' कह कर उठ बैठते हैं। किसी सुन्दर पुष्प, फल वा किसी प्रिय वस्तु के देखते ही 'हा प्रिये!' कह कर वे लंबी साँस लेते हैं।" यह सुनकर सीताजी का आनन्द और दुःख भी एकदम उमड़ आया और वे बोलीं:—"हनुमान, तुम्हारे वचन विष मिले हुए अमृत की तरह मुझे मालूम देते हैं। यह सुनकर तो मुझे आनन्द होता है कि श्रीरामजी का किसी भी वस्तु पर प्रेम नहीं है; पर, उनके शोक पीड़ित होने के समाचार पा कर के तो मुझे बड़ा ही दुख हो रहा है। मनुष्य चाहे वैभव के शिखर पर हो या कठिन संकट में, पर उसका भाग्य तो बराबर उसके गले में पाश डाल कर उसे इधर उधर खींचता ही रहता है। भाग्य तो सचमुच ही दुस्तर होता है। देखो न उसके फेर से राम, लक्ष्मण और मैं भी नहीं बच सकी! अस्तु, जब श्रीराम-चन्द्रजी रावण को यमलोक भेजकर, लंका को औंधी मारेंगे और मुझ से मिलेंगे, वही दिन मेरे अहोभाग्य का दिन होगा। तुम श्रीरामजी से मेरा यह संदेश कहना कि इस वर्ष के अन्त तक ही मैं जीती रह सकूंगी; क्योंकि उस अधम राक्षस ने मुझे एक वर्ष का ही अवसर दिया है। इस समय दस मास बीत गये हैं और अब शेष दो मास रह गये हैं; अतः आप इसी अवसर में आकर मुझे छुड़ाइए, अन्यथा वह मेरे टुकड़े टुकड़े करके मुझे खा जायगा। उसके भाई विभीषण ने भी उसे भली भाँति समझाया कि 'सीताजी को श्रीरामजी की ओर भेज दो' पर, उसे उसका उपदेश नहीं भाता। विभीषण की ज्येष्ठ कन्या ने, उसकी माता की आज्ञानुसार स्वयं ही आ कर मुझसे यह

बात कही है। श्रीरामचंद्रजी में उत्साह, पौरुष, सत्य, अनृशंस्य, कृतज्ञता, पराक्रम, प्रभाव आदि सब कुछ हैं। अकेले श्रीरामजी ने लक्ष्मणजी की सहायता न ले कर चौदह हजार राक्षसों को जनस्थान में मार डाला था; अतः उनके सामने कौन खड़ा रह सकता है? पर, सारी बातें भाग्य के आधीन होती हैं और दो मास में ही यह सब कुछ हो जाना चाहिए।" सीताजी के उक्त आतुरता शब्द सुन कर हनुमानजी बोले:—"देवी वैदेहि, आपकी चिंता को मैं अभी नष्ट किये देता हूँ और इन राक्षसों के कष्ट में मैं अभी आपको छुड़ाता हूँ। आप मेरी पीठ पर बैठ जाइये। मैं एक पल भर ही में समुद्र को लाँघ कर आपको ऋष्यमूक पर्वत पर श्रीरामजी के पास पहुँचाए देता हूँ।" अपने लघु शरीर के विषय में सीताजी को आशंकित देख कर वे बोले:—"मुझे आप छोटा सा न समझिए। मैं सारी लंका को नष्ट कर के आपको समुद्र के उस ओर ले जाऊँगा।" यों कह कर हनुमानजी ने प्रचंड स्वरूप धारण किया। तब उनके उस पर्वताकार स्वरूप को देख कर सीताजी ने कहा:—"हनुमान, तुम्हारे तेज और बल को मैं अच्छी तरह जानती हूँ। विशाल समुद्र को लाँघ आना साधारण बंदर का काम नहीं है। पर, तुम्हारी पीठ पर बैठ कर जाना मुझे अच्छा नहीं मालूम देता। तुम्हारे वायुवेग से मैं मूर्च्छित हो जाऊँगी। और शायद समुद्र पर से आकाश की राह से जाते हुए मैं मूर्च्छित हो कर समुद्र में गिर पड़ूँगी। और जब रावण मुझे ले जाने के समाचार पा कर तुम्हारा पीछा करने के लिए कई राक्षसों को भेजेगा, तब तुम्हें उनके साथ युद्ध करना पड़ेगा। उस समय मैं डर के कारण कहीं नीचे गिर

कर मर जाऊँ तो ? श्रीरामचन्द्रजी का तो जीवन ही मुझ पर अवलम्बित है। लक्ष्मणजी का और समस्त राजकुल का जीवन भी मुझ ही पर अवलम्बित है। इसके अतिरिक्त श्रीरामजी की भक्ति के बंधनों से मैं इतनी जकड़ी हुई हूँ कि मैं श्रीरामजी के बिना अन्य पुरुष के शरीर से स्पर्श तक नहीं कर सकती। रावण ने तो बलपूर्वक मेरे शरीर को स्पर्श किया था; और उसमें मेरा कोई अपराध भी नहीं है। उस समय मेरे रक्षक स्वामी मेरे पास नहीं थे। मैं विवश थी। इसलिए श्रीरामजी का सच्चा लौकिक और पुरुषार्थ तो इसी में है कि वे रावण को जीत कर मुझे यहाँ से ले जावें। तब सीताजी के उक्त उद्गार सुन कर हनुमानजी बहुत संतुष्ट हुए और बोले:—"देवी जानकी, आपका कथन सर्वथा योग्य है। वह आपके स्त्री स्वभाव और पातिव्रतधर्म को शोभा ही देता है। श्रीरामजी शीघ्र ही आ कर आपको छुड़ावेंगे। यदि आप मुझे हमारी इस भेंट के चिन्ह स्वरूप कोई वस्तु दें तो बड़ा अच्छा होगा।" तब सीताजी ने अपने वस्त्र के एक छोर में बँधा हुआ दिव्य चूड़ामणि निकाल कर हनुमानजी को दे दिया और बोली:—"यह मेरा चूड़ामणि श्रीरामजी को देना, जिससे उन्हें तीनों काम अर्थात् मेरा, महाराज दशरथजी का और मेरी माता का भी स्मरण होगा। हनुमान, तुम श्रीरामजी को हर प्रकार से उत्साहित करके मुझे यहाँ से छुड़ाने का अवश्य ही प्रयत्न करना। अब मेरी चिन्ता तुम्हें ही है।" तब हनुमानजी ने उनकी इच्छा को पूर्ण करने का वचन दिया और सीताजी को साष्टांग दंडवत करके उनसे बिदा मांगने लगे। हनुमानजी को वहाँ से जाते देख सीताजी का शोक उमड़ आया और वे आँसू

भरे नेत्रों से बोलीं:—श्रीराम, लक्ष्मणजी तथा सारे अमात्य और वृद्ध बंदरों सहित सुग्रीव से भी मेरे कुशल समाचार कहना; मेरा सारा हाल उनसे कह कर कोई ऐसी तजवीज करना जिससे श्रीरामजी मुझे इस दुःख से जीतेजी छुड़ा लें। मेरी ओर से ओर भी जो कुछ तुम्हें योग्य जान पड़े सो कहना।" यों कह कर सीताजी ने फिर प्रेमपूर्वक कहा:—"यदि तुम्हें अवकाश हो तो एक दिन यहीं पर विश्रांति लो। इस अशोक वन में रह कर कंद, मूल और फल खाओ। तुम्हें देख करके एक दिन के लिए तौ भी मैं अपने दुःख को भूल जाऊँगी। पर, यदि तुम्हें शीघ्रता हो तो तुम जाओ।" सीताजी के ये वचन सुन कर हनुमानजी ने उन्हें परिक्रमा और प्रणाम करके कहा कि "मैं जाता हूँ, आप किसी बात की चिंता न करें।" यों उन्हें विश्वास दिला कर वे वहां से चल दिये और कुछ दूरी पर एक वृक्ष पर बैठ कर अपनी भावी कार्यवाही का विचार करने लगे। (सु० स० ३०—४०)

हनुमानजी ने सोचा कि मेरा कार्य तो हो गया, पर यदि उसके अतिरिक्त स्वामी के अन्य कार्य भी सध जावेंगे तो दूत की अधिक प्रशंसा होगी। अत: इन राक्षसों को अपना प्रभाव अवश्य बतलाना चाहिए। ये दुष्ट समझाने पर भी नहीं मानेंगे। इनके पास द्रव्य भी बहुत है, अतः दान की युक्ति भी व्यर्थ होगी। इन घमण्डी राक्षसों के आगे भेद की दाल गलना भी कठिन है। अतः इनके लिए चौथा उपाय तो अब दंड ही रह जाता है। अत: अब उसीका उपयोग करें। उस नीच राक्षस के नंदनवन के सदृश सुहावने प्रमदा वन का नाश कर डालना चाहिए, जिससे

अनायास ही रावण को समाचार मालूम होंगे और उसकी आंखें खुल जावेंगी। इस प्रकार निश्चय करके उन्होंने अन्तःपुर के उस उपवन का नाश करना आरंभ कर दिया। उन्होंने पर्वत के सदृश प्रचंड शरीर धारण करके वहाँ के सोने और चांदी के वृक्ष नष्ट कर डाले, सुंदर-सुंदर कूएं और बावलियों को तोड़ फोड़ डाला। और उस कृत्रिम पर्वत को भी नष्ट कर दिया। तब उस बन के मृग और पक्षी जोर-जोर से चिल्लाने लगे, जिससे वहां सोई हुई राक्षसियाँ जाग उठीं और हनूमानजी के उस भयंकर रूप तथा हनुमानजी के भयदायी स्वरूप को देख कर भयभीत हो वहां से भाग गईं और उन्होंने यह सारी घटना रावण को सुनाई। वे बोलीं:—"महाराज एक प्रचंड बन्दर, अशोक वन में आया जो सीताजी से कुछ बातचीत करके, वन का नाश कर रहा है। आपकी आज्ञा पाये बिना सीताजी से संभाषण करके कौन अपने जीने की आशा कर सकता है? इसलिए उस धृष्ट बन्दर को दण्ड देना चाहिए। उन राक्षसियों के वे बचन सुन कर रावण की आंखे क्रोध से लाल हो गईं। वह, स्मशान की चिता की अग्नि की तरह, क्रोध से जलने लगा। जिस प्रकार जलने वाले दीपक से गर्म तेल के बूंद नीचे गिरते हैं, उसी प्रकार उसकी लाल-लाल आंखों से क्रोधाश्रु गिरने लगे। उसने अपने ही जैसे अस्सी हज़ार बलवान् राक्षसों को आज्ञा दी कि हनुमानजी को पकड़ लाओ। वे राक्षस शीघ्र मुद्गल, पट्टिश, त्रिशूल, रस्सा आदि ले कर दौड़ पड़े। उस समय हनुमानजी अशोक वन को नष्ट करके राजमहल के तोरण पर जा बैठे। इन राक्षसों को देख कर उन्होंने जोर से अपनी पूँछ पृथ्वी पर फटकार कर ऐसी भयङ्कर गर्जना की कि

उससे लंका नगरी के सारे निवासी भयभीत हो गये। उस तोरण पर लोहे का एक डंडा था; उसीको ले कर "राजाधिराज रामचंद्रजी की जय, कह कर हनुमानजी ने उन राक्षसों पर चढ़ाई की और बहुत से राक्षसों को यमलोक को भेज दिया। जितने राक्षस शेष बचे थे, उन्होंने जा कर रावण से सारे हाल कहे। तब रावण की आंखें क्रोध के कारण फड़कने लगीं और उसने सेनापति प्रहस्त के पुत्र जंबुमालि को, हनुमानजी को पकड़ने के लिए, भेजा। हनुमानजी केवल अशोक वन का ही नाश करके चुपचाप नहीं बैठे। उन्होंने रावण के चैत्य प्रासाद को नष्ट कर डाला। इतने में जंबुमालि ने उनपर चढ़ाई करके उन्हें अनेक बाणों से जर्जर कर दिया। तब हनुमानजी ने क्रोधित हो कर तोरण को पकड़ कर उस लोह दण्ड को इतने जोर से फेंका कि उससे जंबुमालि, उसका रथ, रथ के घोड़े और सारथी सभी यमलोक को चले गये। इस प्रकार जंबुमालि की मृत्यु के समाचार पा कर रावण ने सात अमात्य-पुत्रों को उन्हें पकड़ने के लिए भेजा और उनके साथ बहुत-सी सेना भी भेजी, पर हनुमानजी ने उनका भी नाश कर डाला। तब रावण का पुत्र अक्ष उनपर चढ़ आया। पर उन्होंने उसे भी यमलोक को भेज दिया। अंत में हनुमानजी को पकड़ने के लिए रावण ने अपने ज्येष्ठ पुत्र इन्द्रजित् को आज्ञा दी। अब इन्द्रजीत चला। उसे देख कर हनुमानजी ने घोर गर्जना की और अपने शरीर को बढ़ाया। उन दोनों में बहुत देर तक भयंकर युद्ध होता रहा। इन्द्रजित् ने अपने बाणों से हनुमानजी को जर्जर कर दिया, पर अन्त में उन्हें अवध्य जान कर उनपर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग कर के उस अस्त्र से हनुमानजी को

बाँध लिया। तब अस्त्र से बद्ध हो कर हनुमानजी मूर्च्छित हो नीचे गिर पड़े। उस समय सहस्त्रों राक्षस दौड़ पड़े और बड़े-बड़े रस्सों से हनुमानजी को बाँध कर मुष्टि प्रहार करते हुए उन्हें वे रावण के सामने खींच कर ले गये। उस समय रावण पीली और चमकती हुई आँखों वाले उस बंदर की तरफ अत्यंत क्रोध से और अनेक शंकाओं से युक्त हो कर देखने लगा। "यह प्रत्यक्ष नंदी तो नहीं है? एक बार उसने कैलाश पर्वत पर जब बन्दर का भेष बनाया था, तब मैं उसकी ओर देख कर हँस पड़ा था और उसने मुझे शाप दिया था। अतः वही तो कहीं बन्दर का स्वरूप धारण कर के यहाँ पर नहीं आया? अथवा यह बाणासुर तो नहीं है?" इस प्रकार वह सोच कर ही रहा था कि इतने में हनुमानजी ने उससे कहा:—"मैं हनुमान सुग्रीव की आज्ञा पा कर तेरी ओर आया हूँ। तू राक्षसों का राजा है। अतः बन्दरों के राजा सुग्रीव ने तेरे कुशल समाचार पूछे हैं तथा यह संदेश भेजा है कि तू धर्माधर्म को जानता है। तूने बहुत सा तप भी किया है; अतः दूसरे की स्त्री को कैद करके अपने घर में रख लेना तेरे लिए सर्वथा अनुचित है। राम-लक्ष्मण के बाणों के सामने खड़े रहने की शक्ति देवासुरों में भी नहीं है। तीनों लोक में ऐसा बलवान् कोई नहीं है, जो श्रीरामजी का अपराध कर के सुख से रह सके। इसलिए बानर राजा के इस न्याय्य धर्म और अर्थ दोनों के अनुकूल संदेश को मान कर हे राक्षस श्रेष्ठ, सीताजी को रामचंद्रजी के पास वापिस भेज दे। जनस्थान में खर-दूषण की मृत्यु, किष्किंधा के बाली की मृत्यु और राम तथा सुग्रीव की मित्रता का विचार कर और तुझे जिस

बात में अपनी भलाई दिखाई दे, वही कार्य करो।" हनुमानजी के ये तेजस्वी शब्द सुन कर रावण ने अपने मंत्री को आज्ञा दी कि इस बंदर को मार डालो। उस समय विभीषण ने प्रार्थना की:—'यह तो दूत है और नीति के अनुसार दूत को नहीं मारना चाहिए।" यह सुन कर रावण ने आज्ञा दी:—"खैर, इसको मत मारो; पर बंदरों को अपनी पूँछ बड़ी प्यारी मालूम देती है; अतः इसकी पूँछ को जला कर इसे छोड़ दो। इसका शरीर व्यंग-युक्त हो जाने से इसके मित्रों को इसके उद्धत कार्यों का ज्ञान हो जायगा।" इस प्रकार आज्ञा होते ही राक्षसों ने हनुमानजी की पूँछ में कपड़े-चिथड़े लपेट कर उसपर तेल डालना शुरू किया। पर ज्यों-ज्यों हनुमानजी की पूँछ पर पुराने वस्त्र के टुकड़े लपेट कर उस पर तेल डालने लगे, त्यों-त्यों उनकी पूँछ बढ़ने लगी। नगर के सारे पुराने वस्त्रों और तेल का उपयोग कर लिया गया! अनंतर उन क्रुद्ध राक्षसों ने बड़े आनंद और उत्सुकता से उन वस्त्रों में आग लगा दी, बस अब तो लगी हनुमानजी की पूँछ धक्-धक् जलने। उसे देख कर सारे राक्षस मारे आनंद के नाचने लग गये। बड़े गर्व के साथ उन्होंने हनुमानजी को सारे नगर में घुमाया। जब सीताजी की रक्षिका दुष्ट राक्षसियों ने वह घटना सीताजी से कही, तब उन्हें बहुत दुःख हुआ। उन्होंने अपने मन में अग्नि नारायण की प्रार्थना की:—"हे अग्नि नारायण, मेरे ही लिए हनुमान की यह दुर्दशा हो रही है; इसलिए तुम उसकी पूँछ को न जलाओ वरन उसे उलटी इससे ठंढक पहुँचाओ।" सीताजी की यह करुण प्रार्थना व्यर्थ न हुई। हनुमानजी की पूँछ को कुछ भी कष्ट नहीं हुआ।

तौ भी उन्होंने राक्षसों को तो यही बताया मानों उन्हें महा कष्ट हो रहा है और अपने शरीर को फुला कर उन्हें पकड़े हुए राक्षसों को ऐसा धक्का दिया कि वे नीचे गिर पड़े। यह होना था कि फौरन हनुमानजी फांद कर के, मकानों की छतों पर दौड़-दौड़ कर उनमें आग लगाने लगे। बात की बात में सारा शहर जलने लग गया। सहस्रों सुंदर-सुंदर भवनों में आग लग जाने के कारण उसमें रहने वाले राक्षस और राक्षसियाँ बाहर निकल-निकल कर भागने लगे। पर, जब लोग आग से अपनी रक्षा नहीं कर सके, तब वे अपने मकानों की छतों पर से ही मार्गों में कूदने लगे। इस प्रकार सैकड़ों लोग, सेनापति और मंत्रियों के भवन जला कर हनुमानजी रावण के गृह पर चढ़ गये और अनेक रत्नों से बने हुए उस भवन में भी आग लगा दी। तब सोना, मोती, हीरों और माणिक्यादि से युक्त वे बड़े-बड़े मंदिर अग्नि के कारण जल-जल कर टूटने लगे और जिस प्रकार क्षीणपुण्य सिद्ध पुरुषों के विमान आकाश से गिर पड़ते हैं, उसी प्रकार वे पृथ्वी पर गिरने लगे। उस समय अग्नि को बुझाने और अपने-अपने घरों की रक्षा करने के लिए राक्षसों के झुंड चारों ओर दौड़ने लगे और ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगे। तब उस लंका पुरी में भयंकर हलचल मच गई और चारों ओर "हाय! हाय! अरे, यह बंदर नहीं अग्नि ही है" इत्यादि शब्द सुनाई देने लगे। सारांश, जिस प्रकार भगवान् शंकर ने त्रिपुर को जलाया था, उसी प्रकार उस वेगवान् और बलवान् बन्दर ने उस नगरी को भी जला डाला। अब हनुमानजी ने सोचा कि मेरा कार्य सिद्ध हो गया, सीताजी का पता लग गया और शत्रु को भी अपने

पराक्रम की बानगी दिखला दी, इसलिए चलो, श्रीरामचंद्रजी के पास लौट-चलें। अतः वे श्रीरामजी का स्मरण कर के लंका से बाण की तरह उछल कर समुद्र तट पर आ पहुँचे और उन्होंने अपनी पूँछ को बुझा कर अग्नि को भी शांत कर दिया। (सुं० स० ४१–५४)

अपनी सफलता के आनंददायी समाचार श्रीरामजी को सुनाने के लिए हनुमानजी बड़े अधीर हो उठे। तब उड़ान लगा कर, समुद्र को पार करने के उद्देश्य से वे समुद्र के किनारे पर के अरिष्ट नामक पर्वत पर चढ़ गये। पर्वत हरे भरे वृक्षों से ढँका था, मानो उसने हरा वस्त्र ही पहिन लिया हो। ऊँचे-ऊँचे शिखरों पर श्वेत बादल छा जाने के कारण यह आभास होता था कि उसने उत्तरीय वस्त्र अपने शिर पर ले लिया है। उस पर्वत की टूटी हुई करारों में लाल रंग की धातुएँ देख पड़ती थीं, जिससे यों मालूम होता था मानो वह पर्वत आँखें फाड़-फाड़ कर देख रहा है? विभिन्न स्रोतों के शब्द भी सुन पड़ते थे, जिससे किसी के गाने का आभास होता था। वेणु वानों में वायु के कारण ऐसी आवाज आती थी, मानों वह पर्वत सीटी बजा रहा हो। बड़े बड़े साँपों के फूत्कारों को सुन कर जान पड़ता था मानों वह पर्वत साँस ले रहा है। इस प्रकार उन ऊँचे-ऊँचे वृक्षों से युक्त, सर्प व्याघ्रादि के कारण भयङ्कर दिखाई देने वाले और प्रचण्ड शिलाओं के कारण उस दुर्गम पर्वत पर हनुमानजी शीघ्र ही चढ़ गये। वे बड़े आनन्द से ऊपर को चढ़ते जाते थे और उनके पाँवों के आघात से बड़े-बड़े पत्थर भी चूर होते जाते थे। पर्वत पर चढ़ जमने पर शत योजन समुद्र को फिर से लाँघ जाने की इच्छा से उन्होंने अपने शरीर

को और भी बढ़ाया। उनके उस पर्वतप्राय प्रचण्ड शरीर के कारण वह पहाड़ भी हिलने लगा। फिर 'जय श्रीराम' कह कर तथा अपने हाथों और पांवों से थपकी मार कर हनुमानजी ने उस पर्वत पर से उड़ान किया। उस थपकी के कारण वह पर्वत भी साफ हो गया। आकाश में उन्होंने इतने जोर से उड़ान किया, कि मानों वे चंद्रमा से लड़ते हुए जा रहे हों। मानों सूर्य नक्षत्रादिकों को पकड़ने के लिए ही उन्होंने उड़ान किया हो। वे कभी तो बादलों की ओट में और कभी बाहर ही जा रहे थे। राह में उन्हें समुद्र के मध्यभाग में फिर से सुनाम पर्वत दिखाई दिया। पर जोर से गर्जना करके उस पर्वत को बिना छूते हुए ही वे चले गये। उनकी उस भयंकर गर्जना से दशों दिशाएं गूंज उठीं, मानों आकाश ही टूटा जाता हो। हनुमानजी की वह गर्जना उत्तर तट पर बैठे हुए उनके साथियों तक को सुनाई दी। वे फौरन यह पहचान गये, कि यह शब्द कृतकार्य हनुमानजी का ही है। जांबवन्त, अंगद आदि वीर उनका स्वागत करने के लिए अत्यन्त आतुर हो कर पर्वत के शिखर चढ़ कर उनकी ओर देखने लगे। और हनुमानजी के उस भयंकर स्वरूप को देखकर उन्होंने उन्हें प्रणाम किया। किनारे पर उतरते ही समस्त वानर उनके आस-पास इकट्ठे हो कर उन्हें उत्तमोत्तम फल अर्पण करने लगे। तब हनुमानजी ने सभी वृद्ध कपि और राजपुत्र अंगद को प्रणाम कर शेष बन्दरों का भी अभिनन्दन किया। अपनी सफलता का वर्णन उन्होंने केवल इस एक ही वाक्य में कर दिया कि मैं सीताजी को लंका में देख आया हूँ। यह शुभ समाचार सुनते ही सभी बन्दरों को अवर्णनीय आनन्द हुआ कि वह उस समय कई तो गर्जना करके

नाचने लगे, कई किल किल करके पूंछ पटकने लगे, कई नाचने लगे और कोई अपनी पूंछ उठा कर वृक्षों से टँग गये। किसी ने बड़े प्रेम से हनुमानजी के शरीर को हस्त-स्पर्श किया। इस प्रकार उन बन्दरों के, अपने स्वभाव के अनुसार, आनन्द प्रकट करने पर जांबवंत प्रभृति वृद्ध बन्दरों ने हनुमानजी से कई प्रश्न पूंछ करके लंका के सारे हाल मालूम कर लिये। हनुमानजी के पराक्रम को सुनकर उन्हें बहुत ही आश्चर्य हुआ। अनन्तर उन सभी बन्दरों ने वहाँ से उड़ान किया और वे शीघ्र ही ऋष्यमूक पर्वत के निकट जा पहुँचे। वहाँ पर उन्हें सुग्रीव राजा का मधुवन दीख पड़ा। तब उन्होंने, आनन्द में मग्न होने के कारण, उस वन के फल, पुष्प, मधु आदि सारी वस्तुएँ, अंगद की आज्ञा पा कर, खा लीं। मधुबन की रक्षा करने के लिए सुग्रीव ने दधिमुख नामक अपने एक मामा को रखा था। उसने बन्दरों के द्वारा बन का नाश होते देखकर सुग्रीव से वह सब हाल कहा। पर सुग्रीव को इससे क्रोध नहीं आया, बल्कि उसने तो प्रसन्न हो कर कहाः—जब कि अंगदादि बन्दर निःशंक हो कर मेरे वन में घुसे हैं, तब वे निस्सन्देह अपने इष्ट कार्य को पूर्ण करके ही आये होंगे। जो किसी कार्य को पूर्ण कर देते हैं यदि उनसे कोई अपराध हो जावे तो वह क्षन्तव्य होता है। हनुमान बड़े पराक्रमी, उत्साही और बुद्धिमान हैं ज्ञात होता है कि वे दक्षिण दिशा में सीताजी का पता लगा लाये हैं।" सुग्रीव के इन बचनों को सुन कर श्रीराम-लक्ष्मण जी को अत्यन्त आनन्द हुआ। वे हनुमानजी से मिलने के लिये अत्यन्त आतुर थे। फिर सुग्रीव ने दधिमुख से कहा कि अंगदादि वीरों को बुला लो। सुग्रीव की आज्ञा को सुन कर मधुपान

से उन्मत्त बने हुए बन्दर सचेत हो कर यंत्र से फेंके हुए पत्थर की तरह, एकदम उड़ान करके श्रीराम, लक्ष्मण और सुग्रीव के पास ऋष्यमूक पर्वत पर जा पहुँचे, और उन्होंने उनके पैरों पर मस्तक नँवा कर सीताजी का पता लगा लाने के आनन्ददायी समाचार कहे तब श्रीरामचन्द्रजी ने बड़ी उत्सुकता से हनुमानजी से पूछा:—"हनुमान; तुमने सीताजी को कहाँ पर देखा; उन्होंने क्या कहा! उनकी क्या दशा है?" तब हनुमानजी ने सारी कथा कही। वे बोले:—सौ योजन चौड़े समुद्र को लांघ कर मैं पर-तीर को पहुँचा। समुद्र के दक्षिण में एक पर्वत पर रावण की लंका नगरी बसी हुई है, वहीं पर मैंने रावण के अन्तःपुर में, अशोक वन में, सीताजी को देखा। उनके आसपास भयङ्कर राक्षसियां पहरा दे रही हैं। और वे उन्हें बारंबार डराती हैं। जब मैंने पृथ्वी पर बैठी हुई, बारम्बार दीर्घ-सांस लेनेवाली, रावण की अत्यन्त क्रोध और अनादर से देखने वाली तथा मरने के लिए तैयार बैठी हुई सीताजी को देखा; तब उन्हें बड़ी युक्ति से मैंने विश्वास दिलाया और आपकी सारी कथा कह सुनाई। आपकी दी हुई अँगूठी भी मैंने उन्हें दे दी। तब उन्हें बड़ा आनन्द हुआ! उस समय मुझे यह जान पड़ा, मानों उनके शरीर में नया जीवन आ गया! उन्होंने मुझ से बात चीत की और आपकी कुशल पूछी। उस समय वे बड़े दुःख से बोलीं:—"यदि श्रीरामजी कुशल हैं तो वे मुझे क्यों नहीं छुड़ाते? जब चित्रकूट पर एक कौए ने मुझे सताया था, तब उन्होंने क्रोधित हो कर, उसपर ब्रह्मास्त्र छोड़ कर, उसकी एक आँख फोड़ डाली थी। फिर वे रावण को बन्धुजनों सहित क्यों नहीं मारते? अथवा दुर्भाग्य की बात है

कि सत्य सागर श्रीरामजी को मेरी दया नहीं आती। हनुमान, तुम्हीं मेरे लिये कुछ प्रयत्न करो और ऐसी कोई युक्ति सोचो, जिससे श्रीरामजी मुझे शीघ्र ही यहाँ से छुड़ा कर ले जावें। रावण ने मुझे एक वर्ष की अवधि दी है और अब तो उसके पूरी होने में केवल दो ही मास शेष रह गये हैं। इसलिए, यदि तुम मुझे एक मास में न छुड़ाओगे तो मैं तुम्हें जीती न दीख पड़ूंगी।' तब मैंने उन्हें विश्वास दिला कर कहा:—"यदि श्रीरामजी को आपका पता मालूम होता, तो वे अब तक आपको अवश्य ही छुड़ा कर ले जाते! पर, अब मैं श्रीरामजी को आपके समाचार कहता हूँ। आप मुझे अपनी भेंट का सूचक कोई सा चिन्ह दे दीजिये।" यह सुनते ही सीताजी ने यह मणि अपने वस्त्र में से निकाल कर मुझे दे दिया और कहा कि इस मणि को देख कर श्रीरामजी को तीनों का स्मरण होगा।" यों कहकर हनुमानजी ने वह मणि श्रीरामजी को दे दिया। तब उसे देखते ही श्रीरामजी का शोक और भी बढ़ गया और उनकी आँखों से आँसू टपकने लगे। उस मणि को अपने हृदय से लगा कर सुग्रीव से कहा:—"सुग्रीव, जिस प्रकार बछड़े को देखते ही गाय का दूध बहने लगता है, उसी प्रकार इस मणि को देखकर मेरे हृदय की स्थिति हो गई है। राजा जनक ने हमारे विवाह के समय सीताजी को यह मणि दिया था। यह सीताजी के शिर पर बड़ा ही भला मालूम होता है। उसी मणि को आज मैं देख रहा हूँ, सीताजी एक मास तक और भी जीवित रह सकेंगी पर मैं तो अब उनके बिना एक पल भर भी नहीं जी सकता। हनुमानजी जहां पर सीताजी हों वहीं पर मुझे भी ले चलो।" यों कहते हुए श्रीरामचन्द्रजी मूर्च्छित हो कर

नीचे गिर पड़े। तब लक्ष्मण, सुग्रीव और हनुमानजी ने उन्हें सचेत किया? श्रीरामजी सचेत हो कर बोले:—"हनुमान, सीताजी अत्यन्त भीरु हैं। उन भयंकर राक्षसियों के डराने के कारण उनकी क्या दशा हो रही होगी? उनका मुख तो बिलकुल म्लान और फीका पड़ गया होगा। हनुमान, सीताजी ने और क्या कहा? उनके वे मधुर और अमृत-तुल्य शब्द फिर से मुझे कहो।" तब हनुमानजी बोले:—"जब मैं वापिस आने लगा, तब सीताजी ने बड़े प्रेम से कहा:—"हनुमान, तुम एक दिन के लिए यहीं पर बिश्रांति लो। यहां पर रहने से मेरा अपार शोक अधिक नहीं तो एक दिन के लिए तो भी कम हो जावेगा। इन राक्षसियों के कष्ट से मैं एक दिन तो भी मुक्त रहूँगी। हनुमान, तुम धन्य हो। मुझे श्रीरामजी के मुखकमल कब दिखाई देंगे।" तब उनके दुःख से दुःखित हो कर मैंने कहा:—"देवी सीताजी, आप मेरी पीठ पर बैठ जाओ। मैं आपको अभी इस दुःख से छुड़ा कर श्रीरामजी के दर्शन कराऊँगा।" तब वे पतिव्रता सीताजी बोलीं:—"हनुमान, मैं जान बूझ कर परपुरुष को स्पर्श नहीं कर सकती। रावण ने जो बलपूर्वक मेरे शरीर को स्पर्श किया था, उसके लिए मैं विवश थी। उस समय मेरे स्वामी मेरे पास नहीं थे। मेरा विश्वास है कि उस दुष्ट रावण को श्रीरामजी उसके अपराध का पुरस्कार देंगे। वे उसे दंड देकर मुझे छुड़ा कर ले जावेंगे, तभी मैं धन्य कहलाऊँगी। पर हनुमान्, मुझे इस बात की बड़ी चिन्ता है कि श्रीराम, लक्ष्मण और सुग्रीव सौ योजन समुद्र को लांघ कर यहां पर कैसे आ सकेंगे?" तब मैंने उन्हें समझा कर कहा कि बन्दरों के राजा सुग्रीव अत्यन्त बलवान् हैं और मेरे समान

सैकड़ों पराक्रमी बीर उनके पास हैं। श्रीराम-लक्ष्मणजी सुग्रीव की सहायता से एक मास के भीतर ही बन्दरों की सेना सहित, यहाँ पर आ कर आपको छुड़ा कर ले जावेंगे; इसमें बिलकुल संदेह नहीं है।" इस प्रकार सीताजी को विश्वास दिला कर मैं वापिस चला आया हूँ। उन्होंने आप सब को लक्ष्मण, सुग्रीव तथा उनके सरदारों को अपनी कुशल कही है और नम्रता पूर्वक प्रार्थना की है कि आप मुझे यहां से शीघ्र ही छुड़ा कर ले जाओ।

युद्ध-कांड

हनुमानजी के मुँह से सारी कथा सुन कर श्रीरामचंद्रजी अत्यंत आनंदित हुए। उन्होंने हनुमानजी की प्रशंसा कर के कहा:—"हनुमानजी, तुमने भी जो कुछ किया है उसे दूसरा कोई नहीं कर सकता था। सौ योजन चौड़े समुद्र को लाँघ कर जाने की शक्ति सिवा तुम्हारे अथवा गरुड़ के और किसमें है? मुझे दुःख है कि तुम्हारी इस सेवा के योग्य पारितोषक देने के लिए इस समय मेरे पास कुछ भी नहीं है; अस्तु। पर, सभी वस्तुओं की अपेक्षा अधिक मूल्य वाला मेरा हृदय ही मैं तुम्हें अर्पण करता हूँ।" यों कह कर श्रीरामचन्द्रजी ने प्रेम से हनुमानजी को अपने हृदय से लगा लिया। तब हनुमानजी को भी अपनी सफलता पर बड़ी धन्यता मालूम हुई। फिर श्रीरामचन्द्रजी ने सुग्रीव से कहा:—"हनुमानजी ने एक एक बड़े ही महत्व का कार्य कर डाला है; पर मुझे तो एक और भी नई चिंता उत्पन्न हो गई है। हनुमानजी समुद्र को लाँघ जावेंगे, पर यह बन्दर-सेना उसे कैसे पार करेगी? यह तो एक जटिल प्रश्न है।" यों कह कर श्रीरामचन्द्रजी चिंतातुर हो गये। तब सुग्रीव ने प्रार्थना की:—"यदि इस समय आप शोक का त्याग कर के क्रोध का अवलंबन करेंगे तो बहुत अच्छा होगा; क्योंकि निराश हो जाने वाले शूर पुरुष भी तेज-रहित हो जाते हैं। पर, जो क्रोध का स्वरूप धारण करते हैं, उनसे सभी लोग डरते हैं।

इसलिए आप व्यर्थ चिंता न करें, हाँ, जिन बातों की आवश्यकता हों, उन्हें कष्ट कर के साध्य करने के लिए तैयार हो जाइये। फिर हमें किसी बात की कमी नहीं रहेगी। अब आप मुझे आज्ञा दीजिए कि सेना को कब कूँच करनी चाहिए ?" सुग्रीव के उत्साहदायक वचन सुन कर श्रीरामचन्द्रजी बोले:—"यह ठीक दोपहर का समय है, आज उत्तरा फाल्गुनीय नक्षत्र भी है; इसलिए कूँच करने का यही उत्तम अवसर है। अतः मुझे तो यही योग्य जान पड़ता है कि सेना को इसी शुभ मुहूर्त पर कूँच कर देनी चाहिए। इस समय मुझे शकुन भी अच्छे हो रहे हैं।" इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा होते ही सारी बंदर सेना वहाँ से कूँच करने के लिए तैयार हो गई। आगे की ओर नील, वृषभ, वीर और कुमुद नामक सरदार, लाखों बन्दरों को अपने साथ ले कर चल दिये। पीछे से बंदरों के राजा सुग्रीव चलने लगे। उनके पीछे हनुमानजी के कंधे पर श्रीरामचन्द्रजी और अंगद के कंधे पर लक्ष्मणजी बैठ कर चले। उनके साथ हाथी के सदृश बलवान् और मदमाते करोड़ों बन्दर जाने लगे। सेना की बाईं ओर ऋषभ और दाहिनी ओर गंधमादन नामक सरदार थे। केसरी, पनस, गज और अर्क नामक सरदार शतकोटि बन्दरों सहित, श्रीरामजी के पीछे जाने लगे। सब से पीछे जाम्बवान और सुषेण अपनी रीछ सेना सहित जा रहे थे। इस प्रकार जब वह रीछ और बन्दरों की प्रचंड सेना मार्ग का आक्रमण करने लगी, तब उनके राह चलने से इतनी धूल उड़ी कि उससे सूर्य भी ढँक गये। पृथ्वी पर से वृक्षों पर और वृक्षों पर से पृथ्वी पर कूदते-फाँदते, अनेक प्रकार की गर्जना करते हुए

कुसुमित वृक्षों को उखाड़ कर और उन्हें अपने कन्धों पर ले कर, एक दूसरे को ढकेलते हुए वन के फल और मधु को खा कर बन का नाश करते हुए अर्थात् बन्दरों के स्वभावानुसार अनेक प्रकार की चेष्टाएँ करते हुए वह करोड़ों बन्दरों की सेना जाने लगी। उस समय एक अपूर्व दृश्य देख पड़ता था। सह्याद्रि पर्वत को लाँघ कर मलय पर्वत की ओर से दक्षिण की ओर जाती हुई वह सेना महेन्द्र पर्वत पर पहुँची। तब उसे वहाँ से भयंकर और अगाध समुद्र देख पड़ा। वह सारी सेना शीघ्र ही समुद्र के तट पर भी जा पहुँची। तब श्रीरामचन्द्रजी ने सुग्रीव से कहा:— "सुग्रीव, अब हम समुद्र के तट पर आ पहुँचे हैं। अतः अब वही कठिनाई हमारे सामने फिर उपस्थित हो गई जो पहले हमें दिखाई दी थी। अस्तु, अब हमें यहीं पर कुछ दिनों तक रहना होगा।" इस प्रकार आज्ञा होते ही सुग्रीव ने सैनिक पद्धति के अनुसार अपनी सेना का डेरा समुद्र तट पर डाल दिया। उस समय उस श्यामल नीर वाले समुद्र के निकट श्वेत और पीले रंग का एक दूसरा समुद्र लहरें मारता हुआ दिखाई देने लगा। वानर-सेना के समस्त नायक अपने-अपने डेरों से निकल कर, तट पर जा बैठे और उस अपार समुद्र की ओर चिंता-युक्त हो कर देखने लगे। वह समुद्र मानों पानी की लहरों से उत्पन्न होने वाले फेन के कारण हँसता हुआ दिखाई दे रहा था और उन ऊँची-ऊँची लहरों के कारण वह यों शोभा दे रहा था, मानों रत्नाकर मोतियों की मालाएँ पहन कर नाच रहा है। ऊपर आकाश था और नीचे समुद्र। दोनों की जोड़ी मिल गई थी। उस समय सागर को आकाश की उपमा सुहाती थी और आकाश को

सागर की। दोनों अपार थे और दोनों एक दूसरे से मिले हुए दीख पड़ते थे। रात के समय आकाश में तो तारे चमकते थे और इधर समुद्र में रत्न। आकाश में मेघों की हलचल थी तो समुद्र में लहरों की। जब समुद्र में बड़ी-बड़ी लहरें एक दूसरे से टकरातीं, तब आकाश की मेघ गर्जना की नाईं भयंकर शब्द सुन पड़ते थे। मतलब यह कि समुद्र का स्वरूप आकाश की नाईं दुस्तर और दुर्लंघ्य दीख पड़ता था। वे बन्दर उसके तट पर बैठ कर भेरी वाद्य के सदृश सुनाई देने वाली लहरों वाले उस समुद्र की ओर आश्चर्य-चकित हो कर देख रहे थे।

(युद्ध० सर्ग० १-४)

इधर हनुमानजी के लंका में आग लगा कर चल देने पर रावण, अपने सारे मंत्रियों को बुला कर भावी कार्यवाही के विषय में विचार करने लगा। उसे अपने गुप्तचरों द्वारा यह खबर मिल गई थी कि श्रीरामचन्द्रजी ने बन्दरों की सेना को साथ ले कर लंका पर चढ़ाई करने के लिए कूँच कर दिया है। अतः उसने सभी राक्षस सरदारों से कहा:—"सरदारो, राम लंका पर चढ़ाई करने के लिए आ रहे हैं; अतः आप मुझे सलाह दो कि अब मुझे क्या करना चाहिए? इस जगत में उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ तीन प्रकार के लोग होते हैं। जो मनुष्य सभी से सलाह कर के और अपने भाग्य की गति को देख कर के प्रयत्न करता है, वही उत्तम पुरुष कहलाता है। जो स्वयं ही पूर्ण विचार कर के धर्म और अधर्म को देख कर कार्य करने के लिए कटि-बद्ध हो जाता है, वह मध्यम पुरुष है और जो गुण-दोषों का विचार न कर के केवल अभिमानवश किसी कार्य को करने के

लिए तैयार हो जाता है, वह अधम मनुष्य कहलाता है। इसीसे आपसे परामर्श लेना चाहता हूँ। सलाह भी तीन प्रकार की होती हैं; जिसमें सभी को एकसी राय हो, वह उत्तम; जिसमें बहुमति हो, वह मध्यम; और केवल राजा का रुख देख कर जब थोड़े से लोग ठकुरसुहाती बातें बना देते हैं वह कनिष्ठ प्रकार की कहलाती है। इसलिए इस समय आप लोग मुझे ठीक-ठीक सलाह दीजिए।" रावण के ये उद्गार सुन कर प्रहस्त, वज्रदंष्ट्र आदि सरदारों ने हाथ जोड़ कर रावण से उसके पूर्व-पराक्रम का स्मरण दिला कर कहा—"महाराज, आपको किस बात का डर है? प्रत्यक्ष इन्द्र को जीतने वाले आपके पुत्र इन्द्रजित् राम-लक्ष्मण का नाश करने में समर्थ हैं। पर, इन्द्रजित् की भी क्या आवश्यकता है? आपकी आज्ञा की देर है। हम पृथ्वी पर के समग्र बन्दरों का नाश कर डालेंगे।" इस प्रकार सभी ने रावण को युद्ध करने के लिए उकसाया। पर विभीषण ने अपना मत नहीं दिया। उन्होंने तो रावण को सावधान करने का प्रयत्न किया। वे बोले:—"असावधान अभागे अथवा शत्रुओं से घिरे हुए शत्रु पर ही आपके पराक्रम का परिणाम होगा। पर जो सदा जागृत रहता है, जिनके भाग्य अनुकूल हैं तथा जिन्हें सुग्रीव जैसे सहायक हैं; उन श्रीरामचन्द्रजी के आगे आपकी दाल नहीं गलेगी। इसके अतिरिक्त जिधर धर्म होता है, उधर ही जय-प्राप्ति होती है। श्रीरामजी धर्म के अनुसार लड़ रहे हैं, अतः उनके आगे तुम्हारे शौर्य की एक न चलेगी। इसलिए मुझे तो यही ठीक जँचता है कि तुम सीताजी को–जिन्हें तुम अधर्म से ले आये हो, वापिस भेज दो, और अनर्थ तथा युद्ध के बीज ही को नष्ट कर डालो।

श्रीरामजी के बाण इस संपन्न और सुखी नगरी पर गिरने के पहले ही सीताजी को वापिस भेज कर भय-रहित हो जाना श्रेयस्कर है, विभीषण का यह निःस्वार्थ, नीतियुक्त और दूरदर्शितापूर्ण वचन सुन कर रावण स्तब्ध हो गया और वह कुछ देर तक सोच विचार करके, राजसभा को समाप्त कर अपने अंतःपुर में चला गया। विभीषण ने दूसरे दिन फिर राजमहल में जा कर रावण के विचारों को बदलने का प्रयत्न किया। वे बोले:—"मैं सभा में अधिक स्पष्ट न कह सका, पर भाई के नाते हाथ जोड़ कर मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप अपने दुराग्रह को छोड़ दीजिए। इस दुराग्रह के कारण राक्षसों का नाश होगा। मुझे तो यही ठीक जँचता है कि सीताजी को स्वयं आप ही श्रीरामजी की ओर भेज दें।" पर रावण ने विभीषण के वचनों का आदर नहीं किया। बल्कि यह कह कर कि, राम तो एक क्षुद्र मनुष्य है—वह मेरे सामने खड़ा भी न रह सकेगा; विभीषण को विदा कर दिया। तथापि रावण चिन्तातुर तो हो ही गया और वह प्रतिदिन कृश होने लगा। अन्त में उसने पुनः एक दिन सभी राक्षसों को अपनी सभा में बुलाया। जब वह सोने की खिड़कियों वाले तथा रत्नों के आभूषणों से सुशोभित किये हुए रथ में बैठ कर राजसभा में गया, तब सहस्रों दुंदुभियों के नाद से सारी दिशाएँ गूंज उठीं। सभा में अपने रत्नजटित सिंहासन पर बैठ कर वह बोला:—"जब धर्म, अर्थ और काम विषयक कोई कठिन अवसर मुझ पर आता है, तब मेरे सुख-दुख लाभ-हानि, प्रिय और अप्रिय के विषय में विचार करना तुम्हारा ही काम है। मेरे अहोभाग्य से मेरा प्रिय भाई कुंभकर्ण भी छः मास की निद्रा से जागृत हो कर आज यहाँ

पर आया है। आप सब की सहायता के बल पर ही मैंने देव-ताओं को जीता है। ऐसी दशा में राम-लक्ष्मण के बन्दरों की सेना सहित चढ़ आने के समाचार पा कर मैं क्यों डरूँ ? तौ भी एक क्षुद्र बंदर समुद्र लांघ कर लंका में आया और सीताजी से मिल कर यहां पर प्रलय मचा गया। अतः इसका कुछ भी नियम नहीं है कि किस समय कौन सी घटना होगी। इसलिए आप मुझे परामर्श दीजिए कि मुझे इस समय क्या करना योग्य है ? मैं दण्डकारण्य से सीता को हर लाया हूँ, पर उसे बिना लौटाए राम लक्ष्मण का पराभव करने का ही कोई योग्य उपाय मुझे बताओ।" ये वचन सुन कर कुंभकर्ण क्रोधित हो कर बोला:—"राजा, यदि वह दुष्ट कर्म करने के पहले ही तू हमसे सलाह कर लेता, तो अच्छा होता। जो राजा न्याय के अनुसार अपना आचरण रखता है, उसे संताप और पश्चाताप प्रकट करने का कभी अवसर ही नहीं मिलता। अतः निस्सन्देह तुम अपने को बड़ भागी जानो, जो वह निन्दनीय कार्य करते समय ही तुम्हें राम ने मार नहीं डाला।" इस प्रकार नीति युक्त उद्गार निका-लने पर कुछ देर तक सोच विचार करके कुंभकर्ण फिर से बोला:—"अस्तु। जो कुछ हो चुका है उसके लिए अब पश्चात्ताप करना व्यर्थ है। तुम निश्चिंत हो जाओ। मैं तुम्हारे शत्रु का नाश कर दूंगा, फिर चाहे वह प्रत्यक्ष इन्द्र हो या सूर्य ही क्यों न हो! मेरे इन प्रचण्ड हाथों से फेंके हुए त्रिशूल के सामने खड़े रहने का सामर्थ्य किसी में नहीं है।" पर कुंभकर्ण के ये वीरता भरे शब्द विभीषण को नहीं भाये; उन्होंने हाथ जोड़ कर पुनः रावण से कहा:—"महाराज, आप व्यर्थ ही भ्रम के जाल में न फँसिए।

मैं आपसे पुनः प्रार्थना करता हूँ कि श्रीरामजी धर्म के अनुसार ही युद्ध के लिए तैयार हुए हैं; अतः उनके आगे कुंभकर्ण की कुछ नहीं चलेगी। इसलिए युद्धाग्नि सुलगने के पूर्व ही श्रीरामजी की धर्मपत्नी को लौटा देना योग्य है।" यह सुन कर इंद्रजित क्रोध और घमंड से बोला:—"क्या तुम नहीं जानते कि मैं प्रत्यक्ष इन्द्र को बाँध कर ले आया था? बड़े आश्चर्य की बात है कि हमारा पराक्रम मालूम होते हुए भी, तुम हमें एक क्षुद्र मनुष्य के पराक्रम कह कर डरा रहे हो।" विभीषण ने इन्द्रजित को धिक्कार करके कहा:—"मूर्ख, तू अभी बालक है। तुझ में अभी इतनी योग्यता नहीं कि तू सभा को सलाह दे सके। मुझे ज्ञात होता है कि तू पुत्र के रूप में रावण का प्रत्यक्ष शत्रु ही उत्पन्न हुआ है। अरे, ब्रह्मदंड अथवा अंतक के सदृश प्राण को हरनेवाले श्रीराम के बाणों को सह सकने की सामर्थ्य किसमें है? जरा सोचो कि खर, दूषण, मारीच और सुबाहु की क्या गति हुई? रत्नादि द्वारा सत्कार करके श्रीरामजी की सीताजी को वापिस भेज देना ही अच्छा है। ऐसा करने ही में सब का भला है।" रावण तो काल के मुँह में फँस ही चुका था; अतः उसे विभीषण का कहना क्यों कर अच्छा लगता? तब वह विभीषण का धिक्कार करते हुए बोला:—"सांप की तरह क्रोधित शत्रु के पास रहना भी संभव है, पर ऊपर से मित्र की तरह दिखाई देनेवाले पर भीतर से शत्रु सा व्यवहार करने वाले मनुष्य का सहवास अत्यन्त कष्टमय होता है। राक्षस जाति का यह स्वभाव सर्व प्रसिद्ध है कि एक पर संकट आने पर दूसरा आनन्द मनाता है। दूसरों पर संकट आने पर आनन्द मनाने वाले, अपनी इच्छा के अनुसार

कार्य करनेवाले, और हृदय के गुप्त भाव छिपा कर रखनेवाले जातिबन्धु ही भयंकर होते हैं। इस समय मुझे वह श्लोक याद आ गया जो हाथ में रस्सी के फंदे लिये मनुष्यों को आते देख कर पद्मवन के हाथियों ने कहा था। वे बोले:—"हम अग्नि, शस्त्र या रस्सी के फंदों से नहीं डरते। पर, घोर हृदय वाले और अपना स्वार्थ साधने के प्रीत्यर्थ दूसरों का नाश करने के लिए तैयार हो जाने वाले हमारे इन जाति-बन्धुओं से हमें बहुत भय है।" अनार्यों पर किये हुए उपकार कमल के पत्तों पर पड़े हुए जल की तरह शीघ्र ही फिसल पड़ते हैं। अतः बिभीषण यदि इन्हीं शब्दों को और कोई कहता तो मैं उसी समय उसका सिर काट लेता। पर, तू मेरा भाई है; इसलिए मैं केवल इन्हीं शब्दों से तेरा धिक्कार करता हूँ कि तू कुल-कलंक है।" रावण के इन कठोर बचनों को सुन कर बिभीषण ने गदा उठा कर अपने चार मित्रों सहित आकाश में उड़ान किया और वहाँ से उसने रावण से कहा:—"राजा तू भ्रमवश मुझे भली बुरी बातें कह रहा है। तू मेरा ज्येष्ठ भाई है, अतएव तू मुझे पिता की नाईं पूज्य है। पर, तूने धर्म का मार्ग त्याग दिया है। जिस पर काल की परछाईं पड़ती है, उसे नीति और भलाई की बातें अच्छी नहीं लगतीं। मीठी बातें बनाने वाले तो बहुत होते हैं, पर कड़वी किन्तु हित की बातें कहनेवाले बहुत कम होते हैं और उन बातों को सुनने वाले तो और भी कम होते हैं। अस्तु। अब तुम सभी उपायों से अपनी और राक्षसों से भरी हुई इस नगरी की रक्षा करो। तुम्हारे कथनानुसार मैं तुम्हारा त्याग करता हूँ अब तुम सुख से रहना।" यों कह कर बिभीषण शीघ्र ही आकाश मार्ग से वहाँ पर जा पहुँचे, जहाँ पर श्रीरामजी बैठे हुए थे।

(युद्ध० स० ५–१६)

उस समय उत्तम अलंकारों से युक्त गदा, खड्ग आदि शस्त्र लिये हुए पांच प्रचंड राक्षसों को आकाश मार्ग से अपनी ओर आते हुए देख कर बन्दरों की सेना में बड़ी हलचल मच गई। और सभी वीर बन्दर उनकी ओर क्रोध भरी दृष्टि से देखने लगे। तब विभीषण आकाश ही से चिल्ला कर बोले:—"बन्दरो राक्षसों के दुराचारी राजा रावण का छोटा भाई मैं विभीषण हूँ, और ये चार राक्षस मेरे मित्र और अनुयायी हैं। श्रीरामचन्द्रजी की धर्मपत्नी सीताजी को लौटा देने के लिए मैंने रावण से बहुत कुछ कहा सुना, पर जिस प्रकार मरने वाले मनुष्य को दवा अच्छी नहीं लगती, उसी प्रकार उसे भी मेरा कहना अच्छा नहीं लगा। केवल इतना ही नहीं वरन उसने मुझे धिक्कार कर मेरा बड़ा अपमान भी किया। इसलिए मैं अपने चार अनुचरों सहित घरबार, स्त्री पुत्र आदि का त्याग कर के श्रीरामचन्द्रजी की शरण में आया हूँ। आप श्रीरामचन्द्रजी से मेरा हाल कह दें।" सभी ने उनके ये शब्द सुने। तब सुग्रीव ने श्रीराम-चन्द्रजी से कहा:—"यह शत्रु के पक्ष का मनुष्य अचानक ही हमारे पास आया है, अतः यदि इसपर विश्वास कर के हम इसे अपनी सेना में रख लेंगे तो हमारा नाश उसी तरह निश्चित है जैसे कौओं के झुंड में उल्लू के घुस जाने पर उनके नाश होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता। ये राक्षस जब चाहें अदृश्य हो जाते हैं और अपनी इच्छानुसार रूप धारण कर लेते हैं। ये बड़े क्रूर होते हैं। इसलिए इनपर विश्वास रखना उचित नहीं है। सुग्रीव के ये वचन सुन कर श्रीरामचन्द्रजी बोले:—"इसका भी एक रहस्य है और मेरी इच्छा है कि वह मैं तुमसे कहूँ। यह

विभीषण मेरी ओर मित्र-भाव से आया है; अतः इसे आश्रय देना मुझे आवश्यक मालूम देता है।" सुग्रीव ने उत्तर दिया:—"यह मित्र-भाव ही से यहाँ आया हुआ नहीं दिखाई देता; क्योंकि ऐसा कौन दुष्ट बंधु होगा जो अपने भाई को संकट के समय त्याग देगा? और यदि मान लें कि यह ऐसा ही दुष्ट है, तो यह अपने भाई की तरह हमें भी जब चाहेगा छोड़ कर भाग खड़ा होगा।" सुग्रीव का यह कथन सुन कर श्रीरामजी बोले:—"सुग्रीव, तुम्हारा कथन सत्य है, पर इस जगत में मुख्यतः दो प्रकार के शत्रु होते हैं। एक तो अपने जाति-बंधु और दूसरे पड़ोसी। दोनों का ही स्वभाव होता है कि आदमी पर संकट आते ही वे उसपर प्रहार करते हैं। तदनुसार ही विभीषण यहाँ पर आया है। हम रावण के जाति-बंधु नहीं हैं और विभीषण राज्याकांक्षी तथा बुद्धिमान् जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त जब तक किसी जाति में एकता के भाव बने रहते हैं, तभी तक वह दक्ष और सुखी रहती है, पर ज्यों ही उसमें पारस्परिक भय उत्पन्न होता है, त्यों ही कलह हो कर फूट पड़ जाती है। विभीषण यहाँ पर ऐसी दशा में ही आया है; अतः वह चाहे कैसा ही क्यों न हो, तो भी वह हमें किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचा सकता। और यदि वह दुष्ट भी होगा तो उसका नाश करने में मुझे देर नहीं लगेगी। मैं चाहूँ तो एक उँगली से उसका नाश कर सकता हूँ। कण्व पुत्र कंडु महर्षि का कथन है कि "हाथ जोड़ कर और दीन बन अपनी शरण में आने वाले मनुष्य पर फिर चाहे वह शत्रु ही क्यों न हो-प्रहार नहीं करना चाहिए। और यही सच्ची करुणा है। निश्चयी और पराक्रमी मनुष्य अपने प्राणों

का भी त्याग कर के आर्त अथवा मानी शत्रु के शरण आने पर उसकी रक्षा करते हैं।" इसके अतिरिक्त शरणागत की रक्षा न करना भी बड़ा पाप है और उससे कीर्ति कलंकित होती है तथा वीर्य की हानि होती है। इसलिए सुग्रीव, मैंने शरणागत को अभय दिया है; उसका त्याग न करो, फिर चाहे वह विभीषण हो या प्रत्यक्ष रावण ही क्यों न हो।" यह सुन कर सुग्रीव का अन्तःकरण श्रीरामचन्द्रजी के सुहृद प्रेम से उमड़ आया। वह बोलाः—"श्रीराम, आप सभी लोकनाथों के मुकुट-मणि हैं; अतः यदि आपका इस प्रकार उदात्त आचरण है तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। मेरा भी हृदय यही कहता है कि विभीषण शुद्ध है तथा अनुमान से और विभीषण के प्रसन्न वदन से भी यही जान पड़ता है। इसलिए अब मेरा कुछ भी कहना नहीं है। आप विभीषण को, हमारे समान अपने मित्र गणों में स्थान दीजिएगा।" अनंतर सुग्रीव के द्वारा आश्रय प्राप्त होते ही विभीषण अपने अनुयायियों सहित आकाश से नीचे उतरे और बड़ी नम्रता से श्रीरामचन्द्रजी के पैरों पर शिर रख कर बोलेः—"मैं रावण का छोटा भाई हूँ; उसने मेरा अपमान किया, इसलिए मैं सारे जगत के शरण स्थान आपकी शरण मे आया हूँ। मैं लंका, मित्र, धन आदि सब कुछ छोड़ कर के आया हूँ अब मेरा भावी जीवन, सुख और राज्य आदि सब कुछ आप ही के हाथों में है" तब श्रीरामचन्द्रजी ने विभीषण की ओर प्रेम पूर्ण दृष्टि से देख कर कहाः—"विभीषण पहले तुम मुझसे यह कहो कि राक्षसों में कितना बल है?" विभीषण ने उत्तर दियाः—"महाराज, रावण तो देव, दानव, गंधर्व पिशाच, नाग और

पत्तियों के लिए भी अवध्य है। उसे ऐसा ही वर ब्रह्माजी से मिला है। रावण का छोटा भाई कुंभकर्ण इन्द्र के सदृश प्रतापी है। रावण के सेनापति प्रहस्त का नाम तो आपने सुना ही होगा। उसने कैलाश पर्वत पर कुवेर के मित्र मणिमान को पराजित किया था। रावण का पुत्र इन्द्रजित हाथ में अंगुलि त्राण पहिन तथा अवेध्य कवच धारण कर और धनुष्य बाण ले कर अदृश्य हो जाता है तथा शत्रु को जर्जर कर डालता है। लड़ाई छिड़ते ही वह होम करता है जिससे वह अदृश्य हो कर आकाश में अपने शत्रुओं पर बाणों की भीषण वर्षा कर सकता है असहनीय बौछार करता है। इसके अतिरिक्त रावण के महोदर, महापार्श्व, अकंपन, अनीकपा आदि लोकपालों के सदृश बलवान सरदार हैं। साथ ही दश कोटि सहस्र, कामरूपी (इच्छानुसार रूप धारण करने वाले) तथा रक्त-मांस खाने वाले राक्षस लंका नगरी में रहते हैं। उन सबकी सहायता से रावण ने देवताओं को लोकपालों सहित जीत लिया है।" तब श्रीरामचन्द्र बोले:—"विभीषण, रावण के सामर्थ्य का तुमने जो वर्णन किया है, सो तो मैं भली-भाँति जानता हूँ और मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि उस रावण को प्रहस्त इन्द्रजित् सहित मार कर मैं तुम्हें लंका की राजगद्दी पर बिठाऊँगा।" यह सुन कर विभीषण ने श्रीरामचन्द्र-जी के चरणों पर फिर से मस्तक नँवा कर कहा:—"लंका पर चढ़ाई कर के राक्षसों का नाश करने में मैं आपको यथाशक्ति सहायता दूँगा तथा रणभूमि पर शत्रु-सेना से भी लड़ूँगा।" यह सुन कर श्रीरामचन्द्रजी ने उन्हें अपने हृदय से लगा लिया और बड़े प्रेम से लक्ष्मणजी से कहा:—"लक्ष्मण, जाओ, अभी समुद्र का जल ले आओ। मैं इससमय विभीषण से बहुत ही प्रसन्न हुआ

हूँ, और मैं अभी इन्हें लंका के राज्य का अधीश्वर बनाता हूँ।" श्रीरामजी की आज्ञा पाते ही लक्ष्मण शीघ्र ही एक सुवर्ण कलश में समुद्र का जल ले आये और श्रीरामचन्द्रजी ने विभीषण को राज्याभिषेक किया। तब सभी बन्दर "धन्य राजा रामचन्द्र! धन्य राजा रामचन्द्र!" कह कर श्रीरामजी की उदारता की प्रशंसा करने लगे। अनंतर लक्ष्मण, सुग्रीव, विभीषण, अंगद, हनुमान आदि बन्दरों के सरदारों सहित श्रीराम जी यह सोचने लगे कि समुद्र को किस प्रकार पार किया जाय। (युद्ध० सर्ग० १७–१९)

विभीषण ने कहा:—"श्रीरामचन्द्रजी के पूर्वजों ने ही पृथ्वी को खोद कर समुद्र को उत्पन्न किया है; अतः वह सेतु बनाने के लिए अवश्य ही रामचन्द्रजी को स्थान देगा। अतः श्रीरामजी को समुद्र की प्रार्थना करनी चाहिए।" यह विचार सभी को पसन्द हुआ और श्रीरामजी पूर्व की ओर मुँह करके, पृथ्वी पर कुशा बिछा कर, समुद्र को नमस्कार करके उस पर लेट गये। इस प्रकार तीन रात्रियाँ बीत गईं, पर समुद्र ने दर्शन नहीं दिये। व्रत धारण करके तीन दिन तक प्रार्थना करने पर भी जब उस उन्मत्त सागर ने दर्शन नहीं दिये। तब यह सोच कर कि सामोपचार करने वाले की कोई पूछ नहीं होती, बल्कि उग्र स्वरूप धारण करने वाले को ही सब लोग डरते और आदर की नजर से देखते हैं; श्रीरामचन्द्रजी ने धनुष्य की डोरी खींची उस पर बाण चढ़ाया और उसे ब्रह्मास्त्र से अभिमन्त्रित करके इस निश्चय से समुद्र की ओर निशाना लगाया कि उसको सुखा कर बन्दरों को पैदल ही क्यों न लंका को भेज दूं। यह देख संसार में हाहाकार मच गया। आकाश पाताल मानों फूटे जाते

थे। पर्वत कांपने लगे। सूर्य चन्द्र मानों गिरे जाते थे। चारों ओर अन्धकार छा गया। एकाएक समुद्र के बीच में से एक दैदीप्यमान् पुरुष प्रकट हुआ। उसके शरीर पर बहुमूल्य आभूषण थे। उसके चारों ओर मुँह फैलाये हुए भयंकर सांप दिखलाई देते थे। उस दिव्य देहधारी सागर ने हाथ जोड़ कर श्रीरामचंद्र-जी से कहाः—"महाराज, पृथ्वी जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पांच महाभूत परमेश्वर के बतलाये हुए मार्ग का ही अनुकरण करते हैं। वे अपने स्वभाव का कभी त्याग नहीं करते। मेरा भी यही स्वभाव है कि मेरी थाह किसी को नहीं लगती। यदि कहीं थाह लग जाती है तो उसे मेरा विकार समझना चाहिए। हे श्रीराम, मछली और मगरादि जीवों से युक्त इस जल को मैं क्रोध, लोभ भय वा प्रेम वश नष्ट नहीं कर सकता। तौ भी स्वयं कष्ट सह करके भी मैं आप को उस पार भेजने का प्रबंध किये देता हूँ। मेरे नक्र आपकी वानर सेना को कष्ट नहीं पहुँचावेंगे। और मैं इस सेना के लिए जमीन के सदृश मार्ग बना दूंगा। यह नल विश्वकर्मा का पुत्र है; इसे पुल बनाने की आज्ञा दीजिए। इसके बनाये हुए सेतु को मैं आनन्दपूर्वक अपने शरीर पर धारण करूँगा।" तब श्रीरामजी ने पूछाः—"पर अब इस वाण को कहां पर डालूं?" यह व्यर्थ नहीं हो सकता। तब सागर ने नम्रतापूर्वक कहाः—महाराज द्रुमकुल नामक मेरा एक पुण्य भाग उत्तर की ओर है। वहां पर पापाचरण करनेवाले दस्यु मुझे सर्वदा अपने संसर्ग से दूषित करते हैं; अतः आप उसी प्रदेश पर इस बाण को छोड़िए।" तब श्रीरामजी के उस प्रदेश पर बाण छोड़ते ही वह सारा प्रदेश मरुभूमि बन गया। उस प्रदेश का

सारा जल सूख गया। पर, जहां पर बाण लगा, वहां पर एक कूप उत्पन्न हो कर उसमें से पानी बहने लगा। वह 'व्रण' नामक कूप अभी तक वहां पर है। उस प्रदेश का जल अपने बाण से नष्ट हो जाने के कारण श्रीरामजी ने उसे यह वर दिया कि वहाँ पर बहुत से सुंदर पशु होंगे, रोगादि कम होंगे, तिलहन बहुतायत से पैदा होंगे, गाय-भैंस बहुत दूध देंगी तथा नाना प्रकार के सुगंधित पदार्थ, औषधियां, फल, मूल और रस की अधिकता होगी। इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी से वर मिलने पर यद्यपि मारवाड़ देश है तो जल हीन तथापि वह संपन्न और सुखी है। अस्तु, समुद्र के गुप्त हो जाने पर नल ने हाथ जोड़ कर श्रीरामचन्द्रजी से कहा:—"महाराज, समुद्र ने स्थान प्रदान किया है, अतः मैं सेतु बनाने के लिए तैयार हूँ। मैं विश्वकर्मा का पुत्र हूँ और पिताजी के वर से वह विद्या मुझे मालूम है। अपने मुँह खुद की बड़ाई कैसे करूँ? इसी विचार से अबतक मैं चुप चाप बैठा रहा। अस्तु, आप बन्दरों को वृक्ष, लता, पत्थर आदि लाने की आज्ञा दीजियेगा। मैं अभी सेतु बनाए देता हूँ।" श्रीरामजी की आज्ञा पाते ही करोड़ों बन्दर दौड़ पड़े, और वन के लाखों वृक्ष तोड़ कर, लताओं को उखाड़ कर तथा हाथियों के सदृश प्रचंड शिलाएँ यंत्रों की सहायता से खींच कर समुद्र में डालने लगे। तब समुद्र का पानी सैकड़ों हाथ आकाश में उछल उछल कर गिरने लगा। करोड़ों बन्दर जिस कार्य को करने के लिए कटिबद्ध हो गये भला फिर उस कार्य में किस बात की कमी पड़ सकती थी? पहले दिन चौदह दूसरे दिन बीस, तीसरे दिन इक्कीस, चौथे दिन बाईस और पाँचवें दिन तेईस योजन

लम्बा सेतु बन गया, इस प्रकार केवल पाँच ही दिनों में सौ योजन लम्बा और दश योजन चौड़ा वह नल-सेतु तैयार हो गया। उस समय वह सेतु आकाश-गंगा के सदृश उस समुद्र पर दिखाई देने लगा। अनन्तर बिभीषण आगे की ओर बढ़कर शत्रुओं के मोर्चे के सामने खड़े हो गये और पीछे वह बन्दर सेना श्रीराम, लक्ष्मण तथा सुग्रीव सहित उस सेतु पर से समुद्र को पार करने लगी। कोई सेतु पर से पानी में कूदते हुए तो कोई आकाश मार्ग से उड़कर जाते थे। इस प्रकार बन्दरों के स्वभाव के अनुसार वह बन्दर सेना सेतु लाँघ रही थी। उस समय सेना के कोलाहल के सामने समुद्र का रव फीका पड़ गया। समुद्र को लांघ जाने पर सुग्रीव ने एक स्थान पर अच्छा जल और फल मूलादि की विपुलता देख कर वहीं पर अपने सेना का डेरा डाल दिया। उस समय लंका से भेरी मृदंग के शब्द सुनाई देने लगे पर उस शब्द को बन्दर कैसे सह सकते थे, सुग्रीव की सेना ने भी इधर से घोर गर्जना की, जिससे आकाश और पृथ्वी गूंज उठी और लंका-निवासी राक्षसों का दिल उसे सुन कर दहल गया। (युद्ध० स० २०—२७)

उस स्थान पर सेना का पड़ाव डाल देने पर लक्ष्मण, सुग्रीव, बिभीषण, अंगद, हनुमान आदि सरदारों सहित श्रीरामजी सुवेल शिखर पर चढ़ कर लंका का निरीक्षण करने लगे। सुंदर भवनों वाली सोने के कोट से घिरी हुई और मनोहर वाटिकाओं से सुशोभित पर्वत के शिखर बसी हुई वह नगरी आकाश के त्रिपुर नगर के सदृश सुहावनी दिखाई देने लगी। उसे देख कर श्रीराम-लक्ष्मणजी को बड़ा आनन्द हुआ। पर ज्यों ही उन्हें यह याद

आया कि इसी पुरी में उस दुष्ट ने सीताजी को राक्षसियों के पहरे में रखा है तो श्रीरामजी दुःख और क्रोध से व्याकुल हो गये। पर, शीघ्र ही धैर्य धारण करके अपने दुःख को उन्होंने दबा दिया, और यह सोचने लगे कि लंका को किस प्रकार घेरा जाय।

समुद्र पर सेतु बना कर बन्दर सेना के समुद्र को पार करने का हाल रावण को मालूम हो गया था। अतः उसने शुक और शारण नामक दो गुप्तचरों को बन्दरों की सेना, प्रबन्ध, श्रीरामजी के आयुध तथा श्रीराम-लक्ष्मण के स्वरूपों का पता चलाने के लिए भेज दिया। वे बन्दरों का स्वरूप बना करके सेना में घूम रहे थे। पर विभीषण ने उन्हें पहिचान लिया, और पकड़ कर श्रीरामजी के सामने भिजवा दिया। फिर उन दोनों राक्षसों ने भी अपना अपराध स्वीकार कर लिया। उस समय श्रीरामजी ने उनसे यह कह कर कि तुम्हारा कार्य हो गया; अतः अब तुम यहाँ से चले जाओ, उनको छोड़ दिया। तब वे रावण की ओर चल दिये। वहाँ जा कर वे उसे कहने लगेः—"महाराज, बन्दरों की सेना असंख्य है और उसमें सहस्रों वीर हैं। जहाँ पर श्रीराम, लक्ष्मण, सुग्रीव और विभीषण जैसे चार, लोकपालों के सदृश, पराक्रमी पुरुष हों, वहाँ राक्षसों की दाल कैसे गल सकेगी ? इसलिए श्रीरामजी को समझा-बुझा कर सीताजी को लौटा देना ही हमें योग्य जँचता है।" तब रावण ने उनको बड़ा धिक्कारा और उन्हें अपने साथ ले कर अपने एक अत्यंत ऊँचे प्रासाद पर चढ़ गया। वहाँ बैठ कर सुवेल पर्वताग्र से लगा कर समुद्र तक फैली हुई बन्दर-सेनापतियों के नाम और परिचय पूछे। सारण उँगली से बता कर

कहने लगा:—"वह देखिये, बंदरों की सेना के अग्र भाग में सब से आगे अग्नि-पुत्र नील है, उसके पीछे अंगद, वह समुद्र पर सेतु बनाने वाला विश्वकर्मा का पुत्र नल, इधर यह कुमुद, वह संरंभ, यह शरभ, वह पनस, वह देखिए विनत है, वह क्रथन वे रीछों के राजा धूम्र और जाम्बवान्, वे रंभ, संनादन, क्रथन, क्रभार्था, गोलांगूल, गवाक्ष, केसरी और शतबली. वे यम के पाँच पुत्र गज गवाक्ष, यवज, शरभ और गंधमादन यह धर्म-पुत्र सुषेण हैं, वह सोमपुत्र दधिमुख है वे अश्विनीकुमार के पुत्र मैंद और द्विविद तथा वह वायुपुत्र हनुमान खड़ा है। इस प्रकार सारण ने सभी बंदर-सरदारों को बतला कर श्यामवर्ण, सुमुख, कमलनेत्र तथा सिंहस्कंध श्रीरामजी और उनके आस पास खड़े हुए लक्ष्मण, विभीषण और सुग्रीव की ओर भी संकेत किया। उसने कहा कि बंदरों की संख्या शंख, महाशंख, वृन्द, पद्म, खर्व, महाखर्व, समुद्र तथा महौघ की अपेक्षा भी अधिक है। तब रावण स्तब्ध हो गया और शुक, सारण, शार्दूल आदि गुप्तचरों को विदा कर के आप अपने महल में चला गया।

(युद्ध० स० २४–३०)

दुष्ट और कपटी रावण अन्तःपुर में गया और सीताजी को धोखा दे कर अपने वश में करने का निश्चय कर के श्रीरामचन्द्र-जी का एक बनावटी शिर और धनुष्य ले कर उसे सीताजी को बतला कर कहने लगा:—"अरी मूर्खा हठीली स्त्री, जब राम बंदर-सेना सहित समुद्र को लाँघ कर यहाँ पर आये, उसी समय कल रात को मेरे सेनापति 'प्रहस्त' ने उन पर चढ़ाई कर के उन्हें मार डाला और उनका यह सिर मेरी ओर भेज दिया है। यह

देख। अब तो अपना हठ छोड़ कर मेरे वश में हो जा।" उस शिर को देख कर सीताजी शोक में डूब गईं। पर थोड़ी देर में जरा सँभल कर बोलीं—"अरे रावण, अब तू मुझे भी मार डाल और इस सिर पर मेरा भी सिर गिरने दे। हा कैकेयी, अब तो सचमुच तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हो गया! मेरे लिए मेरे आर्य पुत्र इस लोक से चल बसे! मैं कैसी अभागिनी हूँ?" इस प्रकार अनेक शोकोद्गार वे निकाल रही थीं, कि इतने में प्रहस्त ने वहाँ पर जा कर रावण से कहा कि महाराज सभा में शीघ्र चलिए, कोई बहुत जरूरी काम है। रावण वहाँ से एक दम चल दिया और उसके वहाँ से हटते ही वह सिर भी गुप्त हो गया। तब सरमा नामक राक्षसी ने सीताजी को धैर्य दिला कर कहा कि "वह शिर तो बनावटी था। श्रीरामजी को मैं अभी सकुशल देख आई हूँ।" सीताजी बोलीं:—"यदि यह बात सत्य है तो शीघ्र ही मुझसे कहो कि इस समय रावण क्या कर रहा है?" तब सरमा ने सूक्ष्म स्वरूप धारण कर के सभा की कार्यवाही जान कर सीताजी से कहा:—"रावण की माता, रावण के दादा माल्यवान् और रावण के मंत्रियों ने उससे प्रार्थना की है कि, श्रीरामचंद्रजी लक्ष्मणजी सहित बंदर-सेना को अपने साथ ले कर, समुद्र को लाँघ कर के यहाँ तक आ पहुँचे हैं। तुम स्वधर्म का त्याग कर के सीताजी को यहाँ पर चुरा लाये हो, अतः अब उन्हें वापिस लौटा कर इस संकट को दूर करो अन्यथा यह सारी राक्षसपुरी नष्ट हो जायगी।' पर रावण ने किसी की एक न मानी, बल्कि अपनी सारी सेना को एकत्र करने के लिए उसने भेरी वजाने की आज्ञा दी।" सरमा यह बात कही रही थी कि

इतने में भेरी के भयंकर शब्द सुनाई दिये। तब रावण की आज्ञा का पालन करने के लिए करोड़ों राक्षस-वीर अपने-अपने शस्त्रों को ले कर वहाँ पर एकत्र हो गये। फिर रावण ने पूर्वी द्वार पर प्रहस्त को दक्षिणी द्वार पर महोदय और महापार्श्व को, पश्चिमी द्वार पर इन्द्रजित् को, तथा उत्तर द्वार पर शुक सारण को तैनात कर के कहा कि शुक सारण की सहायता के लिए मैं स्वयं ही उपस्थित रहूँगा। इसके अतिरिक्त मध्यम स्थान पर भी विरूपाक्ष को नियत किया। इस प्रकार उसने लङ्का की रक्षा करने का पूर्ण प्रबंध कर दिया। उधर विभीषण के गुप्तचरों ने उस प्रबन्ध का सारा हाल उनसे जा कर कहा। तब श्रीरामचंद्रजी ने भी अपनी सारी सेना को लंका के आस पास फैला कर पूर्वी द्वार पर नील, दक्षिण द्वार पर अंगद तथा पश्चिम द्वार पर हनुमानजी को नियत कर के स्वयं आप लक्ष्मणजी सहित उत्तर द्वार पर खड़े हो गये और सब को मदत पहुँचाने वाली सेना के विभाग पर बंदरों के राजा सुग्रीव, रीछों के राजा जाम्बवान् और राक्षसों के राजा विभीषण की योजना कर के सभी बंदरों को आज्ञा कर दी कि कोई मनुष्य का रूप नहीं बनावे। केवल राम, लक्ष्मण तथा विभीषणादि पाँच राक्षसों ने ही मनुष्य रूप में युद्ध करने का निश्चय किया। इस प्रकार सैनिक-प्रबंध कर के श्रीरामजी ने लंका को इस तरह घेर लिया कि बाहर से नगर में एक पक्षी भी नहीं जा सकता था। (युद्ध० स० ३१–३७)

लंका का घेरा डाल कर, सूर्यास्त हो जाने पर श्रीरामजी अपने सरदारों सहित सुवेल पर्वत पर चढ़ गये। वहाँ से उनको पूर्ण चंद्रमा के प्रकाश के कारण लंका की अपूर्व शोभा

दिखाई देने लगी। त्रिकूट के शतयोजन विस्तीर्ण शिखर पर बसी हुई लंका नगरी सुवर्ण तट और उसके राक्षस रक्षकों के कारण अपूर्व शोभावती दिखाई देती थी। कोट पर के राक्षस वीरों को देख कर बंदरों में भी वीरता का संचार हो गया। इधर रावण भी अपने महल के ऊँचे गो पुर पर चढ़ कर बंदरों की सेना की रचना देखने लगा। उसे देखते ही सुग्रीव आग बबूला से हो गये और वे वहाँ से उड्डान कर के रावण के गोपुर पर जा बैठे और रावण को धिक्कार कर कहने लगे:—"मैं लोकनाथ श्रीरामचंद्रजी का दास हूँ; अतः अब तुम मेरी चंगुल से नहीं छूट सकते।" यों कह कर उन्होंने उड्डान कर के रावण के मुकुट को नीचे गिरा दिया। तब रावण ने उन्हें पकड़ कर पृथ्वी पर दे मारा, पर वे गेंद के सदृश उड़ कर रावण से बाहु युद्ध करने लगे। एक घंटे तक उन दोनों वीरों में बाहु-युद्ध होता रहा। सुग्रीव पर अपनी शक्ति का प्रभाव न होते देख कर ज्यों ही रावण अपनी माया का उपयोग करने की इच्छा करता था, त्यों ही सुग्रीव वहाँ से आकाश में उड़ कर के फिर से सुवेल पर्वत पर श्रीरामजी के पास जा पहुँचे। रामचंद्रजी ने उनके पराक्रम की प्रशंसा कर के प्रेमपूर्वक कहा:—"सुग्रीव इस घटना से हम सब बहुत ही घबरा गये थे; इस प्रकार का साहस कभी न करना चाहिए। क्योंकि, उससे अपघात होने की संभावना रहती है। सुग्रीव, यदि तुम्हारा कुछ भला बुरा हो जाय तो फिर मुझे भी जी कर क्या करना है? और फिर सीताजी को छुड़ाने से भी क्या लाभ है? अस्तु। अब हमें भविष्य में बहुत ही सावधान हो कर कार्य करना चाहिए। (युद्ध० सर्ग० ३८—४०)

श्रीरामचंद्रजी ने सुवेल पर्वत पर से उतर कर नियमानुसार लंका के घेरे का प्रबन्ध कर के प्रत्येक द्वार पर कोटि बंदर बैठा दिये और आप स्वयं उत्तरी द्वार पर डँट गये। अनंतर उन्होंने राजधर्म के अनुसार विभीषण की सम्मति ले कर एक बार रावण को समझाने के लिए अंगद को भेजने का निश्चय किया और उन्हें बुला कर कहा:—"अंगद, तुम निःशंक हो कर लंका में जाओ और उस बुद्धि-भ्रष्ट तथा मृत्यु के जाल में फँसे हुए रावण को मेरा यह संदेश सुनाओ कि 'अरे अधम राक्षस, जिस बल पर तू सीताजी को कपट से चुरा लाया है, वह बल अब हमें बतला। पर, यदि अब भी तू सीताजी को अपने साथ ले कर मेरी शरण में न आवेगा तो मैं अपने तीक्ष्ण बाणों से लंका के राक्षसों का संहार कर दूँगा और तेरे भाई धर्मात्मा राक्षस श्रेष्ठ विभीषण को लंका का निष्कंटक राज्य सौंप दूँगा। ज्ञात होता है कि तू स्वयं बड़ा पापी है और तेरे आस-पास भी सब मूर्ख ही इकट्ठे हो गये हैं। क्योंकि, वे नहीं जानते कि अधर्म से राज्य का उपभोग करना कभी संभव नहीं है।" इस प्रकार श्रीरामजी के तीक्ष्ण और समझावन का संदेश ले कर अंगद आकाश में उड़ान कर के शीघ्र ही लंका में रावण की सभा में जा पहुँचे तथा अनेक मंत्रियों सहित राजसभा में बैठे हुए रावण के सामने जा कर अंगद ने पहिले अपना नाम कहा और फिर उसे श्रीरामजी का सन्देश सुनाया। पर, रावण तो अपने मद में अंधा हो रहा था। उसे सुबुद्धि कैसे हो सकती थी? उसने बिगड़ कर अंगद को पकड़ने के लिए अपने मंत्रियों को आज्ञा दी। आज्ञा पाते ही राक्षस वीर अंगद के शरीर से लिपट गये।

पर, जब अंगद उन चारों को ले कर आकाश में उड़े, तब उनके उड़ने के आवेग से वे राक्षस रावण के सामने गिर पड़े ! अंगद राजमहल के शिखर पर चढ़ बैठे और उन्होंने उसे इतने जोर से धक्का दिया कि वह शिखर भी नीचे गिर पड़ा । इस प्रकार रावण के सामने उसके प्रासाद-शिखर का भंग कर के अंगद सिंह के सदृश गर्जना करते हुए आकाश में उड़े और शीघ्र ही बंदर-सेना में, श्रीरामचंद्रजी के पास जा पहुँचे । उन्हें सुरक्षित लौटे हुए देख कर राक्षसों ने दुःख प्रकट किया और बंदरों की सेना ने आनंद से गर्जना की । रावण भी अपने प्रासाद-शिखर के नष्ट हो जाने को बड़ा बुरा शकुन समझ कर बहुत दुःखित हुआ । उधर श्रीरामजी ने अंगद के द्वारा सारे समाचार सुन कर उनकी बहुत प्रशंसा की और लंका पर शीघ्र ही चढ़ाई करने के लिए बन्दरों को आज्ञा दी । (युद्ध० स० ४१)

श्रीरामजी की आज्ञा को पाकर सैकड़ों अक्षौहिणी बानर-दल लंका की ओर उमड़ पड़ा । लाल मुँह और पीले शरीरवाले वे असंख्य वीर अपने-अपने हाथों में पत्थर, लकड़ी, अपने सामर्थ्य अनुसार पर्वत शृंग अथवा वृक्ष ले कर दौड़ पड़े । तब कई राक्षस भयभीत हो गये, कई आश्चर्यचकित हो कर देखने लगे, और जो सच्चे वीर थे उनमें तो बन्दरों के शौर्य को देख कर, युद्ध करने का उत्साह उत्पन्न हो गया । बन्दर-सेना चारों ओर से दौड़ पड़ी और लंका शहर की दीवालपर चढ़ गई । सारी दीवाल ही बन्दरमय दिखाई देने लगी । बन्दर उस दीवाल के बुर्जों को गिराने लगे । कई नगर-तट के आसपास पानी से भरी हुई खाई को ही नष्ट करने लगे । वे हाथियों के सदृश प्रचंड बन्दर प्राकार पर से शिलाएँ, सोने के

तोरण और वृक्ष उखाड़-उखाड़ कर खाई में डालने लगे। और, महा बलवान-श्रीराम-लक्ष्मण की जय। 'प्रभु श्रीरामजी सहित सुग्रीव की जय' चिल्लाती हुई कूदती-फांदती सारी बन्दर-सेना दीवाल पर चढ़ गई। तब तट पर के संरक्षक राक्षसों ने रावण को श्रीरामजी के चढ़ आने के समाचार भेजे। यह सुन कर रावण ने अत्यन्त क्रोधित हो कर रणभेरि बजाने की आज्ञा दी। बात की बात में सहस्रों रणवाद्य बजने लगे, सहस्रों शंखों के उत्साह-जनक शब्द सुनाई दिये और रावण की प्रचंड सेना बन्दरों को मारने के लिए निकल पड़ी। तब उन अगणित बन्दर-राक्षसों में भयंकर युद्ध आरम्भ हुआ। बानर वीर तो अपने नख, दाँत, घूसे वृक्ष की डालियां बड़े-बड़े वृक्ष, पत्थर, पर्वत आदि हाथियारों से युद्ध करने लगे और राक्षस-सेना गदा, शक्ति, शूल, पट्टिश, परश्वध, धनुष्य आदि शस्त्रास्त्रों से लड़ने लगी। उभय सेना के वीर उस तट पर ही लड़ रहे थे। केवल इतना ही नहीं वरन तट पर के राक्षस पृथ्वी पर खड़े हुए बन्दरों से भी युद्ध कर रहे थे। इस प्रकार उस घोर युद्ध के कारण रक्त और मांस की नदियाँ बहने लगीं। इतने में महान वीरों के द्वंद्व युद्ध शुरू हुए। इन्द्रजित और अंगद, सुग्रीव और प्रहस्त, निकुंभ और नील, वज्रमुष्टि और मैंद आदि बन्दर और राक्षस वीरों में भयंकर युद्ध हुआ। सहस्रों राक्षस यमलोक चले गये और सहस्रों बन्दर भी मरे। इस प्रकार युद्ध होते हुए सूर्य देव छिप गये। राक्षस तो रात को युद्ध करने में अधिक चतुर थे और बन्दरों में भी अजेय बल था। अतः उस अन्धेरी रात में भी 'इस राक्षस को मारा' 'इस बन्दर को मारा' जैसे शब्द सुनाई देते थे। रात के समय काले रंग के

राक्षस, सुवर्ण के आभूषण और कवच पहिनने के कारण, दिव्य, वनस्पति के सदृश चमकते थे। राक्षस वीर तो बन्दरों को मार-मार कर खाते भी जाते थे। और बन्दर वीर हाथियों को भी पछाड़ कर हाथियों पर के राक्षसों को मारने लगे तथा रथ को नष्ट करके रथी वीरों को भी यमलोक को भेजने लगे। सारांश: वह रात्रि कालरात्रि के सदृश दिखाई देने लगी। उस अंधेरे में राक्षसों ने श्रीरामजी पर चढ़ाई की! पर, श्रीरामजी के सम्मुख राक्षस वीर नहीं टिक सके। उन्होंने अपने अमोघ बाणों से राक्षसों को पृथ्वी पर लिटा दिया। जो कोई राक्षस श्रीरामजी के सामने आता था, वही श्रीरामजी के धनुष्य की आग में पतंग की नाई जल जाता था। श्रीरामजी के सुवर्ण मुखी बाण उस अंधेरी रात में, आकाश में जुगनू की नाई चमकते थे। जब अंगद ने अपनी गदा से इन्द्रजित् का रथ, अश्वों सहित नष्ट कर दिया, तब इन्द्रजित् आकाश में उड़ कर अदृश्य हो गया और वहाँ से बन्दर-सेना पर-शर-वृष्टि करने लगा। उस समय चारों ओर हाहाकार मच गया! श्रीराम-लक्ष्मणजी ने भी उसपर अनेक बाण छोड़े पर उसके अदृश्य होने के कारण उनके बाणों से उसे किसी तरह से हानि नहीं पहुँच सकती थी। तब इन्द्रजित् ने नागमय बाणों से उन दोनों बन्धुओं को जकड़ लिया और उसने क्रोध और गर्व से आकाश से चिल्ला कर कहा:—"जब मैं अदृश्य हो कर युद्ध करता हूँ, तब देवाधिपति इन्द्र को भी मेरा पता नहीं चलता और वह भी मुझपर बाण नहीं छोड़ सकता; फिर तुम मनुष्यों की क्या कथा? मैं तुम्हें बाण-जाल से बांध कर अभी यमलोक को भेज देता हूँ।" यों कह कर उसने सैकड़ों बाण छोड़ कर उन्हें घायल कर दिया और बड़े हर्ष से

विजय-नाद किया। श्रीराम-लक्ष्मण के सारे शरीर में बाण बिंध जाने से टूटी डोर वाले की तरह वे भी पृथ्वी पर मृतप्राय हो कर गिर पड़े। जिस इन्द्रजित् ने इन्द्र को भी जीत लिया था, उसका बाण मर्म स्थान पर लग जाने के कारण प्रथम तो श्रीरामचन्द्रजी नीचे गिर पड़े और लक्ष्मणजी भी अचेत हो गये। तब इन्द्रजीत अत्यन्त आनन्दित हो कर श्रीराम-लक्ष्मण की मृत्यु हो जाने का जयघोष करते हुए लंका को वापिस लौट गया। बन्दर सेना अत्यन्त दुखी हो कर श्रीरामजी के आस-पास एकत्र हो गई और राक्षस सेना, आनन्द से गर्जना करती हुई लंका को लौट गई।

(युद्ध० स० ४२—४६)

वर्षा के अनन्तर शांत हो जाने वाले मेघों की नाईं सहस्रों बाणों की वर्षा करके शांत हो जाने वाले श्रीरामजी को देख कर बिभीषण भी उनके पास जा पहुँचे। तथा सुग्रीव, हनुमान, अंगद, नल, नील सुषेण जांबवन्त आदि सरदार भी वहाँ पर एकत्रित हो गये। श्रीरामजी का शरीर शरों के कारण चलनी सा छिद गया था और उसमें से रक्त बह रहा था। वे पृथ्वी पर अचेत पड़े हुए धीमी-धीमी सांस ले रहे थे। इस प्रकार उन राजपुत्रों की कठिन दशा को देख कर सभी बड़े दुखित हुए। बन्दर सेना में से दुःख की प्रचंड ध्वनि उठी और उससे आकाश और पृथ्वी भी गूंज उठी। फिर वे सभी श्रीराम-लक्ष्मण को मृत जान कर शोक-सागर में डूब गये। इतने में रावण ने त्रिजटा सहित सीताजी को पुष्पक विमान में बैठा कर उस दृश्य को दिखलाने के लिए भेजा और राम-लक्ष्मण के मृत्यु हो जाने की डुग्गी पिटवा दी। सीताजी ने आकाश से श्रीराम-

लक्ष्मणजी को पृथ्वी पर अचेत पड़े हुए देख कर अवर्णनीय शोक किया। "हा कैकेयी, तूने कलह करके सारे कुल का नाश कर दिया। सामुद्रिक ज्योतिषियों ने तो मुझे कहा था कि पुत्रवती हो कर सुहागिन हो कर मरेगी, किन्तु आज वह सारा भविष्य-कथन असत्य हो गया! स्त्री के पहिले पति का मरना उसके लिए अत्यन्त दुर्भाग्य की बात है। तिस पर भी आप पुण्यशील हैं और मैं भी पुण्य आचरण करनेवाली हूँ, ऐसी दशा में आप मेरे पहले स्वर्गलोक को क्यों सिधारे? इस अभागिनी के लिए आप समुद्र पर सेतु बना कर और उसे लांघ करके यहां पर आये और अब स्वर्ग-लोक क्यों चल दिये?" इस प्रकार जब सीताजी विलाप करने लगीं, तब त्रिजटा ने उन्हें समझा कर कहाः—"सीताजी, आप व्यर्थ ही शोक न करिए। उनके लक्षणों से ज्ञात होता है कि, अभी उनकी मृत्यु नहीं हुई है। इसके अतिरिक्त यदि आप विधवा होतीं तो यह विमान आपको कभी आकाश में न ले उड़ता। वे वीर बन्दर श्रीराम-लक्ष्मणजी के आसपास एकत्रित हो कर पहरा दे रहे हैं। वे किसी को भी उनके शरीर से स्पर्श न करने देंगे। श्रीराम-लक्ष्मणजी शीघ्र ही मूर्च्छावस्था से जागृत हो जायंगे।" तब सीताजी ने 'एवमस्तु' कह कर धैर्य धारण किया। इतने में वह विमान त्रिजटा सहित सीताजी को वापिस ले गया। उधर कुछ देर के अनन्तर, अपने सत्य के बल पर, श्रीरामजी मूर्च्छा का त्याग करके जागृत हो गये, और लक्ष्मणजी भी उठ खड़े हुए। इस प्रकार उन दोनों बन्धुओं को सचेत देख कर बन्दर सेना ने अत्यन्त आनन्दित हो कर गर्जना की। तब करोड़ों बन्दर लंका की ओर दौड़ पड़े।

तथा सहस्रों भेरी और शंख बजने लगे। वह आनन्द की ध्वनि लंका में रावण के कानों तक पहुँचते ही उसका मुँह फीका पड़ गया। (युद्ध० स० ४६—५०)

दूतों ने भी रावण से जाकर कहा कि राम-लक्ष्मण सचेत हो गये हैं, और बन्दरों की सेना फिर से लंका पर चढ़ाई करने की तैयारी कर रही है। रावण चिंतातुर होही गया था, पर दूतों से समाचार पा कर कुछ देर तक वह स्तब्ध हो गया। अनंतर उसने ताम्राक्ष नामक राक्षस सरदार को बुला कर उसे शत्रु-सेना पर चढ़ाई करने के लिए आज्ञा दी। तब ताम्राक्ष ने रथ में बैठ और सहस्रों राक्षसों को अपने साथ ले कर पश्चिमी द्वार से बन्दर सेना पर चढ़ाई कर दी। वहाँ पर हनुमानजी उसकी राह देख ही रहे थे। हनुमानजी के बन्दरों ने तो ताम्राक्ष की सेना पर चढ़ाई की, और हनुमानजी ने स्वयं ताम्राक्ष को घेरा। उन्हें अपनी ओर आते हुए देखकर ताम्राक्ष ने अत्यन्त क्रोधित हो कर, अपनी गदा से, उनके शिर पर प्रहार किया। पर, हनुमान जी ने उस गदा प्रहार की कुछ भी चिंता न की, सिर्फ एक प्रचंड पत्थर उठा कर ताम्राक्ष के रथ पर दे मारा। उस पाषाण के कारण वह अपने रथ सहित चूर हो कर पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसकी सेना लंका को लौट गई और उसने रावण से सारा हाल कहा। तब रावण ने अत्यन्त क्रोधित होकर वज्रदण्ड नामक एक महा-बीर राक्षस सरदार को बन्दर सेना पर चढ़ाई करने के लिए भेजा। जब वज्रदंष्ट्र ने दक्षिण द्वार से अंगद पर चढ़ाई की, तब बन्दर सेना और राक्षस सेना के बीच महा भयंकर युद्ध ठन गया। पर अंगद ने भी हनुमानजी के सदृश पराक्रम करके शीघ्र

ही वज्रदंष्ट्र को यमलोक को भेज दिया। अपने नेता की मृत्यु होते ही राक्षस-सेना पीछी लौट गई। रावण को वे समाचार मालूम होते ही वह आग बबूला हो गया। उसने राक्षस-सेनापति प्रहस्त से, अकंपन नामक राक्षस वीर को शत्रु-सेना पर चढ़ाई करने के लिए भेजने को कहा। इस प्रकार अकंपन अपनी सेना सहित कूच करके पश्चिमी द्वार से जो बाहर निकला तो एक-एक हनुमानजी के पंजे में जा फँसा। फौरन उन्होंने एक वृक्ष उखाड़ कर जोर से उसे दे मारा, जिससे अकंपन के मस्तक के टुकड़े-टुकड़े हो गये। अकंपन की मृत्यु-वार्ता सुनकर रावण ने अपने सेनापति प्रहस्त को ही चढ़ाई करने की आज्ञा दी। तब मणिमान को भी जीतने वाला वह बलवान प्रहस्त सेनापति, लाखों राक्षसों को चार सेनापतियों के अधिकारों में विभाजित करके, रथ में बैठकर युद्ध-भूमि पर उपस्थित हुआ। उस समय सारी बन्दर-सेना एकत्र हो गई। जब श्रीरामचन्द्रजी ने विभीषण से इस ऊंचे और प्रचण्ड राक्षस का नाम पूंछा, तब उन्होंने रावण के मुख्य सेना-नायक प्रहस्त का पूर्ण परिचय कराया। प्रहस्त पूर्वीय द्वार से युद्ध भूमि पर उड़ा था। अतः युद्ध का सारा भार नील पर ही था। राक्षस और बंदरों के बीच घोर युद्ध छिड़ा और रक्त की नदियाँ बहने लगीं। दोनों ओर के असंख्य वीर पृथ्वी पर गिर पड़े। पर, अन्त में नील ने प्रहस्त को यमलोक को भेज दिया। उसके चारों सरदार भी युद्ध में मारे गये। अब शेष बचे हुए राक्षस पुनः भयभीत हो कर लंका को भाग गये और उन्होंने रावण से सारा हाल सुनाया। तब वह लाल लाल आंखें करके बोला—"अब मैं स्वयं ही

समराङ्गण में जा कर राम-लक्ष्मण की खबर लेता हूँ। यों कह कर उसने अपने रथ को तैयार करने की आज्ञा दी। एकाएक सहस्रों शंख, भेरियों की आवाज से और वीरों के सिंहनाद से दशों दिशाएँ गूँज उठीं। रावण के रथ के आस-पास लाखों तलवारें चमकने लगीं और प्राय: सभी राक्षस-सेना रावण के साथ युद्ध-भूमि पर जाने के लिए तैयार हो गई। पर उसने उन सब का निषेध कर के कहा कि तुम सभी वापिस लौट जाओ। यदि सारी लंका खाली हो जावेगी तो बंदरों की सेना चारों ओर से चढ़ाई कर देगी। फिर चुने हुए वीरों को अपने साथ ले कर रावण शीघ्र ही उत्तरी द्वार से रण-भूमि पर उपस्थित हुआ। तब श्रीरामजी ने उसे दूर से ही पहिचान लिया और उसके तेज बल और ऐश्वर्य को देख कर उनको समाधान हुआ कि शत्रु हो तो ऐसा ही हो। उस समय रावण के युद्ध-भूमि पर आने के समाचार पा कर सभी बंदर-सेनापति एकत्र हो गये, और उभय-दल में बड़ा भीषण युद्ध ठन गया। जब रावण ने अपने बाणों से बंदरों की सेना को बहुत जर्जर कर दिया, तब हनुमानजी एक दम उड़ान कर के रावण के रथ पर चढ़ कर उसे लत्ता प्रहार करने लगे। रावण नीचे गिर पड़ा। पर, उसने शीघ्र ही सम्हल कर हनुमानजी को एक ऐसा चांटा जमाया कि वे रथ के नीचे गिर पड़े। तब राक्षसों और बंदरों ने उन दोनों की बड़ी प्रशंसा की। इतने में रावण ने नील पर शरों की वर्षा की। इधर हनुमानजी ने श्रीराम से जा कर कहा:—"रावण रथ में बैठ कर युद्ध कर रहा है; आइए आप भी कंधे पर बैठ कर युद्ध करिये।" तब श्रीरामजी ने हनुमानजी के कंधे पर बैठ कर, रावण के साथ

बाण-युद्ध आरंभ कर दिया। उस युद्ध का तो वर्णन करना ही असंभव है। "राम रावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव।" उस युद्ध को कोई उपमा नहीं दी जा सकती। अन्त में श्रीरामजी ने एक बाण रावण के वक्षःस्थल पर मारा और दूसरे बाण से रावण का मुकुट नीचे गिरा दिया। रावण डर गया और हिम्मत हार कर अपने रथ को घुमा कर लंका की ओर भाग गया।

(युद्ध० स० ५१-५९)

उस समय तक रावण को पराजय का नाम भी मालूम नहीं था। उसने ब्रह्मदेवजी से देव, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, नाग और पक्षियों द्वारा मृत्यु न पाने का बर माँग लिया था। तब उसने इस विचार से मनुष्य का नाम नहीं लिया था कि क्षुद्र मनुष्य क्या कर सकता है पर ब्रह्माजी ने उसे उसी समय कह दिया था कि "अरे, तेरी मृत्यु मनुष्य के ही द्वारा होगी; रावण को उस समय उसी वाक्य का स्मरण हो आया। इस प्रकार उसने अपने आपको आज चारों ओर से संकट से घिरा हुआ पाया। यों उसका अन्तःकरण सर्वदा निर्भय रहता था, पर आज तो वह सचमुच डर गया और उसे अपनी हालत पर अत्यंत दुःख हुआ। वह जो भागा सो अपने राज-महल में बैठ कर एकान्त में विचार करने लगा कि अब क्या करना चाहिए। उसने सोचा संभव है कुम्भकर्ण से मुझे इस समय बहुत कुछ सहायता मिले; अतः उसने कुंभकर्ण को जगाने के लिए आज्ञा दी। पर उसने कहा—"कुंभकर्ण को सोये आज नौ दिन हो गये। वह तो नौ, आठ, सात अथवा कम से कम छः मास तक सोता है। पर किया क्या जाय? अब तो बगैर उसे जगाये चारा नहीं है।

जाओ, इस भयंकर दशा के समाचार उससे कहो।" इस प्रकार रावण की आज्ञा पा कर उसके मंत्री मद्य, मांस तथा सुगंधित पदार्थ ले कर शीघ्र ही एक योजन लंबी कुम्भकर्ण के सोने की गुफा के निकट जा पहुँचे। यद्यपि वे राक्षस बड़े बलवान् थे, तथापि कुंभकर्ण के बलवान् स्वासोच्छ्वास के कारण वे बारम्बार गुफा के द्वार में से पीछे ढकेल दिये जाते थे, तथापि बड़ी कठिनाई से उस गुफा में प्रवेश करके वे कुंभकर्ण के निकट जा पहुँचे उस गुफा की भूमि रत्न और सुवर्णमय थी: वहाँ पर सभी प्रकार के सुगंधित पदार्थ रक्खे हुए थे। कुंभकर्ण उस रमणीय गुफा में पर्वत के सदृश लेटा हुआ था। उसके शरीर के कड़े और सीधे रोंगटे शरों के सदृश दिखाई देते थे तथा उसकी साँस का बल पर्वत पर की प्रचण्ड वायु के सदृश था। उस प्रचण्ड शरीरधारी को जगाने के लिए राक्षसों ने गुफा में मांस के बड़े-बड़े ढेर लगा दिये। मृग शूकर, भैंसे आदि के सहस्त्रों मन मांसों के वे ढेर बड़े भयंकर दिखाई देते थे। उन्होंने उसके सारे शरीर में चंदन लगा दिया तथा उसके गले में लंबे-लंबे फूलों के हार पहिना दिये। फिर कुंभकर्ण के कानों के निकट सहस्त्रों शंख बजाये गये। पर उनका वह प्रयत्न व्यर्थ हुआ बहुत चिल्लाने और शंख बजाने पर भी वह जागृत नहीं हुआ, तब एक सहस्त्र भेरियाँ उसके कानों के पास ले जा कर एक साथ बजाई गईं। फिर भी वह जागा नहीं। तब बड़े-बड़े मुद्गर और मूसलों से उसके शरीर पर बल-पूर्वक प्रहार किये गये पर वह प्रयत्न भी व्यर्थ हुआ। अन्त में बड़ी-बड़ी शतघ्नियों को रस्सों में बांध कर उसके शरीर पर चलाया गया। पर उसके जागने का नाम नहीं। अब की बार एक सहस्र हाथी

उसके शरीर पर चढ़ा कर दौड़ाये गये, तब कहीं उसको मालूम हुआ कि अपने शरीर पर कुछ बोझ सा रक्खा गया है। वह जमुहाया और उठ बैठा, उसके उठतेही आसपास के सारे राक्षस भाग गये। सब से पहले कुंभकर्ण पास के ढेर को चट कर गया, उन राक्षसों ने जब देखा कि उसकी भूख मिट गई तब उसके सामने जा कर, उन्होंने उसे प्रणाम किया। उसने उन सबका स्वागत पूर्वक सत्कार किया; और पूछा कि:—"मुझे क्यों जगाया? राज्य की तो कुशल है न? उसपर कोई संकट तो उपस्थित नहीं हुआ?" साथ ही उसने यह भी कहा कि "मुझे तुम्हें कोई प्रश्न पूछने की आवश्यकता नहीं है। जब कि तुमने मुझे अनियमित समय पर जगाया है, तब निश्चय ही राजा पर कोई महान् संकट आया होगा। पर, तुम जरा भी न घबराओ। मैं उस संकट को अभी दूर कर देता हूँ। मैं महेन्द्र पर्वत को नष्ट कर डालूंगा अथवा महा-प्रचण्ड अग्नि को भी शान्त कर दूंगा।" उसके ये उद्गार सुन कर सचिव ने उससे कहा कि "रावण ने आपको याद किया है और शीघ्र ही आपको बुलाया है।" कुंभकर्ण उठ खड़ा हुआ और दो हजार मटके मद्य पीकर तथा किंचित् मद्योन्मत्त हो कर गुफा के बाहर निकल पड़ा। जब यह लंका नगरी के मार्ग से राजमहल की ओर जा रहा था, तब उसका ऊँचा शरीर, लंका के गृहों और तट से भी बहुत ऊँचा था। अतः सारी बन्दर सेना को वह दिखाई दिया। उसे देख कर सहस्रों बन्दर भयभीत हो कर भागने लगे। जब श्रीरामजी ने बिभीषण से उसका नाम पूछा, तब बिभीषण ने कहा कि यही रावण का प्रचण्ड बन्धु कुंभकर्ण है। यह इन्द्र के सदृश पराक्रमी है, पर,

इससे हमें कोई भय नहीं है। उस समय श्रीरामजी ने, बिभीषण और सुग्रीव की सलाह से, यह बात कह कर बन्दरों को समझा दिया कि "राक्षसों ने वह एक यंत्र खड़ा किया है। उधर कुंभकर्ण राजमहल जा पहुँचा जहां पर रावण दीन बदन से, पुष्पक विमान में, पर्यंक पर बैठा हुआ था, उसने जा कर रावण के चरणों की बन्दना करके पूछा कि आपने मुझे किस कार्य के लिए बुलाया है ? तब रावण ने उसे उत्तम आसन पर बिठा कर क्रोध से अपनी आँखें लाल करके, कहा:—"कुंभकर्ण, क्या यह तेरे सोने का समय है ? अरे, तू तो मस्त पड़ा है इसीलिए तो राम से मेरे दिल में भय उत्पन्न होने का हाल, तुझे मालूम नहीं है। इस लंका की ओर तो देख। ये सारे बन और उपवन बन्दर मय हो गये हैं। श्रीराम समुद्र पर सेतु बना कर अपने साथ इतने बंदर ले आये हैं कि यह लंका वानरों से भरा हुआ दूसरा समुद्र ही जान पड़ती है! सहस्रों राक्षस-वीर प्रति दिन मर रहे हैं। हमारे बड़े से बड़े राक्षस सरदार भी यम-लोक को जा पहुँचे, और वास्तव में देखा जाय तो बन्दरों की मृत्यु तो बिलकुल ही नहीं होती। अब इस लंका में केवल बालक, वृद्ध, और स्त्रियाँ ही बची रह गई हैं। सारा कोष भी खर्च हो गया है, अतः अब तुम ही इस नगरी की तथा मेरी रक्षा करो और अपने भाई के लिए कुछ पराक्रम दिखाओ। आज तक मैंने अपने भाई से कभी इस प्रकार की प्रार्थना नहीं की थी।" रावण के ये दीन बचन सुन कर कुंभकर्ण हँस कर बोला:—"मैंने राजसभा में उस दिन सलाह देते हुए जो भविष्य कथन किया था, मुझे स्वप्न में भी ख्याल नहीं था कि वह अवसर इतनी जल्दी उपस्थित हो जायगा।

पर, उसमें आश्चर्य ही क्या है। दुष्कर्म का परिणाम तो बहुत ही शीघ्र होता है। तुमने पहले ही वह कर्म अविचार से किया है। उसके भावी परिणाम का सोच-विचार बिलकुल नहीं किया गया। अस्तु। अब तुम दुःख न करो। और क्रोध को छोड़ दो। मैंने तुमसे पहले जो कुछ कहा था, वह तो बन्धु-प्रेम तथा तुम्हारे हित के ही लिए कहा था। पर, मैं अब तुम्हें यह दिखा देना चाहता हूँ कि मौका आने पर मनुष्य को अपने भाई के लिए क्या करना चाहिए। मैं आज ही रण-क्षेत्र पर तुम्हारे शत्रु का नाश कर दूंगा; फिर चाहे प्रत्यक्ष यम, इन्द्र या वायु भी मेरे सामने युद्ध के लिए खड़े हो जावें, तो भी मुझे परवाह नहीं है। यह देखो मैं अभी युद्ध के लिए जाता हूँ।" यों कह कर रावण को नमस्कार करके और परिक्रमा लगा कर कुंभकर्ण वहाँ से चल दिया। उस समय रावण ने एकदम आगे को बढ़ कर उसे अपने हृदय से लगा लिया, उसके गले में रत्नों का हार पहिना दिया तथा उसे गंध माल्यादि भी दिये। इस प्रकार अपने बन्धु और राजा से पूजित और समादृत हो कर कुंभकर्ण हाथ में एक भयंकर त्रिशूल ले कर वहाँ से युद्धभूमि की ओर चल दिया। तब उसपर राक्षसों ने अपने-अपने मकानों पर से पुष्प-वृष्टि की। रावण की आज्ञानुसार अनेक रथी और पदाती राक्षस भी उसके साथ हो लिये। वह प्रचण्ड शरीर धारी राक्षस नगर द्वार के बाहर नहीं निकल सकता था; अतः वह उस तट को लांघ गया। उस भयंकर संकट को देखते ही बन्दरों की सेना तितर-बितर हो गई। तब राजपुत्र अंगद सभी बन्दरों को बुला कर बोले:—
"वीरो, अपने वीरता भरे कार्यों का स्मरण करो, अपने बल को

पहिचानो और अब अपना पराक्रम बतलाओ। यह भागने का समय नहीं है।" अंगद के उक्त वचन सुन कर बन्दर लौट आये और उन्होंने उस पर्वताकार राक्षस पर चढ़ाई कर दी। उस समय किसी ने उसपर बड़े-बड़े पत्थर फेंके, तो किसीने पर्वत के शिखर उखाड़-उखाड़ कर फेंके। पर, वे पत्थर तथा पर्वतों के शिखर भी उस राक्षस के कठिन शरीरपर पड़ कर चूर्ण हो जाते और वृक्ष टूट जाते थे! कुम्भकर्ण तो बन्दर-सेना को नष्ट कर रहा था। तब रक्त से नहाये हुए सहस्रों बन्दर वसन्त ऋतु के लाल पुष्प युत वृक्षों की तरह दिखाई देने लगे। कई बन्दर तो इतने भयभीत हो कर वहाँ से भागे कि भागते-भागते कुछ समुद्र में जा गिरे और कुछ आकाश में उड़ गये। फिर भी सहस्रों बन्दर बड़ी शूरता से कुंभकर्ण से चिपट कर उसके शरीर को दाँत और नखों से फाड़ने का प्रयत्न कर रहे थे। कुंभकर्ण भी सैकड़ों बन्दरों को पकड़ कर अपनी बगल में दबा देता था कितनों ही को वह अपने मुँह में डाल लेता था पर फौरन कई उसकी नाक से बाहर निकल कर भाग जाते थे। इस प्रकार उसने महा भयंकर युद्ध किया। इतने ही में हनुमानजी ने जोर से उसके हाथ से त्रिशूल छीन कर उसे अपने पांवों से तोड़ डाला, तब उसने पर्वत का एक शिखर उठा कर श्रीरामजी पर धावा किया। पर, श्रीरामजी ने देखते ही देखते उस गिरि-शिखर को अपने बाणों से चूर-चूर करडाला और फिर अपने बाणों से कुंभकर्ण को भी जर्जर कर दिया। जिन बाणों ने सात वृक्षों को उखाड़ डाला था तथा जिन बाणों ने बाली को स्वर्ग को भेज दिया था, वे ही अब अंतक की तरह कुम्भकर्ण के शरीर पर पड़ने लगे। श्रीरामजी ने जब वायुअस्त्र से उसकी

दाहिनी भुजा को तोड़ डाली, तब कुम्भकर्ण एक ही हाथ से एक ताल वृक्ष को उखाड़ कर श्रीरामजी की ओर झपटा। श्रीरामजी ने उस ताल वृक्ष सहित उसकी बाईं भुजा को भी तोड़ डाला। तो भी वह उनकी ओर दौड़ता ही रहा। यह देख कर श्रीरामजी ने अपने बाणों से उसके दोनों पांव भी काट दिये। पांव टूटने की देर थी कि कुम्भकर्ण का शरीर धड़ाम से नीचे गिरा और उससे सारी लंका दहल गई। अब देर करना ठीक न समझ कर अंत में श्रीरामजी ने ब्रह्मास्त्र छोड़ कर कुम्भकर्ण के शिर को भी उड़ा दिया। वह इतनी जोर से उड़ कर लंका पर गिरा कि उसके नीचे कई भवन दब कर नष्ट भ्रष्ट हो गये। इधर शरीर तो रणभूमि से लगा कर ठेठ समुद्र तक फैल गया जिससे अनायास ही समुद्र की मछलियों तक को मांस-भोजन प्राप्त हो गया। इस प्रकार जब श्रीरामजी ने उस अजेय प्रचण्ड राक्षस को मार डाला, तब सारी वानर-सेना में आनन्द की धूम मच गई और श्रीराम-लक्ष्मणजी को भी बड़ा हर्ष हुआ। (युद्ध० स० ५९-६००)

श्रीरामजी के हाथों कुम्भकर्ण के वध होने के समाचार सुन कर रावण को इतना दुःख हुआ कि उसका वर्णन करना असंभव है। कुंभकर्ण पर उसकी बहुत कुछ दारोमदार थी। श्रीरामजी ने रावण का पराभव कर के उसे रण-क्षेत्र से भगा दिया था; इस बात का उसे इतना अधिक दुःख नहीं हुआ। पर, उसपर असीम प्यार करने वाले और प्रचंड शक्तिशाली सगे भाई की वीर-मृत्यु के समाचार सुन कर तो रावण बिल्कुल हिम्मत हार गया। उसकी उस दीन स्थिति को देख कर उसके पुत्र त्रिशिरा, अतिकायं, देवांतक और नरांतक यों प्रार्थनापूर्वक उसकी सान्त्वना

करने लगे:—"महाराज, हम जा कर राम-लक्ष्मण को जरूर जीत सकते हैं, बस आपकी आज्ञा पाने की देर है आप व्यर्थ की चिंता छोड़ दीजिए?" अपने लड़कों के ये वीर्योत्साह-जनक वचन सुन कर रावण ने उनकी बड़ी प्रशंसा की और उन्हें बंदरों पर चढ़ाई करने की आज्ञा दी, तथा उनकी रक्षा के लिए महोदर और महापार्श्व नामक सरदारों को भी उनके साथ भेजा। वे सभी वीर अनेक राक्षसों को अपने साथ ले कर विभिन्न मार्गों से बंदर-सेना पर टूट पड़े। पुनः बंदर-राक्षसों में भयंकर युद्ध छिड़ा। नरांतक तो अपने घोड़े पर बैठ कर युद्ध कर रहा था। उसने सैकड़ों बंदरों को अपने प्रास से यमलोक को भेज दिया। तब अंगद ने उसपर धावा किया। नरांतक ने उसपर भी अपना प्रास फेंका। किन्तु इस बार प्रास के टुकड़े-टुकड़े हो गये। फिर दौड़ कर अंगद ने नरांतक के घोड़े को इतनी जोर से लात मारी कि वह अपनी जीभ निकाल कर, मर गया और भूमि पर गिर पड़ा। अब अंगद ने नरांतक को एक ऐसा घूंसा जमाया कि वह सीधा यमलोक को चल दिया। यह देख कर देवांतक, महोदर और त्रिशिरा झपटे। पर, अंगद ने एक वृक्ष के प्रहार ही से देवांतक को स्वर्ग को भेज दिया। इतने में अंगद की सहायता के लिए हनुमानजी दौड़ आ गये और उन्होंने महोदर और त्रिशिरा का काम तमाम कर डाला। इस प्रकार अपने भाई और काका को मरे हुए देख कर अतिकाय ने अपने रथ पर से ही अत्यंत दुःख और क्रोध से अंगद और हनुमानजी पर बाणों की वर्षा शुरू कर दी। ब्रह्मदेव के वर से अतिकाय को अक्षय कवच प्राप्त हुआ था। अतः बंदरों का उसपर पाषाण और वृक्ष गिराना

बिलकुल व्यर्थ ही हुआ। दो घंटे तक अतिकाय ने सारी बन्दर-सेना को हिला डाला। तब लक्ष्मणजी उस पर चढ़ धाये और उन्होंने उस पर कई अस्त्र छोड़े पर उसका बाल भी बांका नहीं हुआ। अंत में जब अंतरिक्ष से वायु ने लक्ष्मणजी को सूचित किया कि 'ब्रह्मदेव के प्रसाद से अतिकाय को अवेध्य-कवच प्राप्त हो गया है, अतः वह बिना ब्रह्मास्त्र के नहीं मारा जावेगा।" अब क्या था? ज्यों ही लक्ष्मणजी ने ब्रह्मास्त्र की आयोजना कर के बाण छोड़ा, त्यों ही अतिकाय का शिर मुकुट सहित टूट कर नीचे गिर पड़ा। (युद्ध० स० ६८—७४)

जब महोदर सहित चारों राजपुत्र समर-भूमि पर गिर पड़े, तब सुग्रीव ने हनुमानजी से कहा:—"रावण के कुंभकर्णादि तीन भाई मर गये और चार पुत्र भी स्वर्ग को सिधारे; अतः अब रावण किसी को भी नगर-द्वार के बाहर युद्ध करने के लिए नहीं भेजेगा। इसलिए शत्रु का नाश करने का यही योग्य समय है। अब बलवान् और चपल बन्दरों को नगर में घुस कर आग लगा देनी चाहिए।" तब हनुमानजी ने वीर बन्दरों को चुन कर उन्हें मशालें दे दीं। संध्या के समय अँधेरा होते ही वे बन्दर अपने हाथों में जलते हुए पलीते ले कर चारों ओर से लंका में घुस गये तथा बड़े-बड़े गृहों की छतों पर चढ़ कर उनमें आग लगाने लगे। शीघ्र ही लंका में भयंकर आग फैल गई और सहस्त्रों प्रचंड-भवन जल जल कर गिरने लगे। अगरजाचंदन की बहुमूल्य लकड़ी जलने लगी; मोती, हीरे आदि अग्नि की उष्णता से फूटने लगे; उत्तमोत्तम रेशमी और ऊनी वस्त्र जल कर भस्म होने लगे तथा बालक स्त्रियाँ, पुरुष और सेवक आग से शीघ्र ही रक्षा न कर सकने के

कारण जल कर मरने लगे। उस समय लंका में जो भयंकर प्रलय हो रहा था उसका वर्णन करना संभव है? अग्नि की प्रचंड ज्वालाएँ आकाश को छूने लगीं और उन ज्वालाओं का प्रकाश समुद्र पर गिरने से समुद्र का पानी भी रक्त के सदृश लाल रंग का दिखाई देने लगा। सैकड़ों घोड़े और हाथी अपने-अपने बन्धनों को तोड़ कर इधर-उधर दौड़ने लगे, जिससे प्राण-हानि भी बहुत हुई। उन जानवरों के चंगुल में फँसे हुए अथवा अग्नि के असहनीय ताप से दुखित स्त्री-पुरुषों के हृदयद्रावक उद्गार दो-दो कोस की दूरी तक सुनाई देने लगे। जब जलते हुए कपड़े वाले वा आधा शरीर जले हुए राक्षस नगर के बाहर भागने लगे, तब बन्दर उनको यमलोक को भेजने लगे। इस प्रकार भयंकर दुःख उमड़ा हुआ देख कर तथा प्रत्येक द्वार पर हाथ में पलीते लिए हुए बन्दरों को देख कर रावण के शरीर में क्रोध की आग धधक उठी। उसने कुम्भकर्ण के पुत्र कुम्भ और निकुम्भ को शत्रु-सेना पर चढ़ाई करने की आज्ञा दी, और वे दोनों वीर बन्दर-सेना पर चढ़ गये। उनके साथ रावण की आज्ञानुसार यूपाक्ष, शोणिताक्ष, प्रजंघ और कंपन नामक चार सरदार भी गये। पर, वे सभी राक्षस भयंकर युद्ध कर के अंत में युद्धक्षेत्र में मर गये। तब रावण ने खर के पुत्र मकराक्ष को भेजा पर श्रीरामचन्द्रजी ने उसे भी स्वर्ग को भेज दिया। अन्त में रावण ने झुँझला कर इन्द्रजित् से कहाः—"इन्द्रजित, तूने इन्द्र को भी जीत लिया है। मेरा विश्वास है कि राम-लक्ष्मण की दाल तेरे सामने नहीं गलेगी। अतः अब तू स्वयं ही युद्धक्षेत्र में जा और राम-लक्ष्मण को मार कर मुझे इस चिंता से मुक्त कर।" इस

प्रकार आज्ञा पाते ही इन्द्रजित् उत्तम रथ में बैठ कर युद्ध के लिए नगर के बाहर चल दिया। (युद्ध० स० ७२-७९)

इन्द्रजित् जब समरांगण पर, अग्नि को आहुति दे कर, युद्ध करने के लिए जाता तो ब्रह्मदेव के वर से अदृश्य हो जाता था। फिर उसके आगे शत्रु की दाल नहीं गलती थी। इस बार इन्द्रजित् नित्य नियमानुसार निकुंभिला की ओर गया और अपने आस पास राक्षसों का कड़ा पहरा रखकर रथ से नीचे उतरा और उसने रणभूमि पर ही यज्ञ करना आरम्भ कर दिया। रक्त वस्त्र पहिनी हुई राक्षसियाँ उसे उस कार्य में सहायता कर रही थीं। उसने अग्नि की प्रतिष्ठा करके उसके आस पास कुशा के स्थान पर तलवारें रख दीं। अनन्तर भिलाँवे के वृक्ष की समिधाओं और लोहे की सलाइयों की आहुति देने पर एक पूरा काला बकरा भी उसने अग्नि को समर्पण कर दिया। तब अग्नि-पुरुष ने स्वयं अग्नि से बाहर निकल कर उसे ग्रहण किया। इस प्रकार यज्ञ समाप्त करके इन्द्रजित् जब रथ पर चढ़ा तो एकाएक उसका रथ अदृश्य हो गया। अब तो उसने बन्दर सेना पर चढ़ाई करके असंख्य बाणों की भीषण वर्षा शुरू कर दी। बन्दर नहीं देख पाते थे कि यह भयंकर बाण-वर्षा कहां से हो रही है। अतः वे बड़े घबड़ाए। अन्त में उन्होंने अपनी कल्पना ही के बल पर अन्दाज करके सैकड़ों पत्थर इन्द्रजित् की ओर फेंके। पर तो भी बाणों के शब्द बन्द नहीं हुए। आज कल के युद्धों में भी धूम रहित और शब्द रहित बारूद का उपयोग किये जाने से प्रायः इसी प्रकार की स्थिति होती है। किसी गुप्त स्थान पर तोपें रखकर मारा शुरू कर देने पर भी बहुत देर तक समझ में नहीं

नहीं आता कि तोपें किधर से दागी जा रही है ! अस्तु, इस प्रकार इन्द्रजित् के युद्ध से लाखों बन्दर परलोक को सिधारे, सहस्रों इधर-उधर दौड़ने लगे, और लाखों रणभूमि को छोड़ छोड़ कर भाग गये। जब श्रीराम-लक्ष्मणजी पर भी बाणों की वर्षा होने लगी, तब उन्होंने अपनी अस्त्र-विद्या तथा धनुष्य-विद्या की चपलता से उन बाणों का प्रतिकार किया। पर वे बाण छोड़ने वाले अदृश्य इन्द्रजित् का कुछ भी न कर सके। अन्त में लक्ष्मणजी ने बड़े क्रोध से श्रीरामजी से कहा:—"अब मैं सारी राक्षस-जाति को ही नष्ट कर डालने के लिए ब्रह्मास्त्र छोड़ता हूँ। जहाँ कहीं इन्द्रजित् होगा, वहीं पर इस अस्त्र से वह मारा जावेगा। तब श्रीरामने कहा:–"अपराधियों के साथ निरपराधियों को भी नहीं मारना चाहिए। नीति में भी कहा है कि उन्हें नहीं मारना चाहिए, जो हमारे साथ युद्ध न करते हों। अतः ब्रह्मास्त्र का उपयोग न करो। इन्द्रजित् कभी न कभी तो हमें अवश्य ही दिखाई देगा।" इस प्रकार उन्होंने लक्ष्मणजी को समझा कर उनके क्रोध को शांत कर दिया। श्रीरामजी की नीति-निपुणता और धार्मिकता को धन्य है ! उस कठिन अवसर पर भी उन्होंने क्रोध के वश में हो कर धर्म का मार्ग नहीं छोड़ा। अस्तु, इन्द्रजित् एक घड़ी तक अदृश्य हो कर श्रीराम-लक्ष्मणजी के साथ युद्ध करता रहा, पर अन्त में उन्हें युद्ध से थके हुए न देख कर वह बहुत दुखित हो लंका को लौट गया।

दूसरे दिन उसने श्रीराम-लक्ष्मणजी को जीत लेने का एक अपूर्व उपाय सोचा। उसने एक कृत्रिम सीताजी उत्पन्न करके, उसे अपने रथ में बिठा कर, वह पश्चिम द्वार से युद्ध भूमि पर

उपस्थित हुआ । वहां पर हनुमानजी बन्दर-सेना सहित तैयार थे, अतः वे इन्द्रजित् की ओर दौड़े । तब इन्द्रजित् ने चिल्ला कर कहा:—"अरे मूर्खो, तुम्हारी सारी आशा का मैं अभी भंग किये देता हूँ । राक्षसों के इस संकट का मुख्य कारण यही पापिनी है । इसलिए पहले इसीको मार कर फिर तुम्हें, सुग्रीव को तथा राम-लक्ष्मण की भी खबर लेता रहूँगा ।" यों कह कर उसने उस कृत्रिम सीताजी के केश अपने एक हाथ में पकड़ कर दूसरे हाथ से एक तलवार से उसके दो टुकड़े कर डाले ! तब उसके उस निंदनीय और घोर कर्म को देख कर हनुमानजी के तो रोंगटे खड़े हो गये । उन्होंने सीताजी को देखा था । अतः उन्हें श्रीरामजी की प्रिय पत्नी सीताजी के मारे जाने का विश्वास हो गया और उन्होंने दुःख और क्रोध के आवेग में एक प्रचंड शिला उठा कर इन्द्रजित् पर दे मारी । पर इन्द्रजित् के सारथी ने शीघ्र ही अपना रथ दूसरी ओर घुमा कर उस प्रहार से उसकी रक्षा कर ली । फलतः वह शिला पृथ्वी पर गिर कर जमीन के अन्दर घुस गई । इस प्रकार उस शिला को नष्ट होते देख कर जब हनुमानजी अत्यन्त दुःखित हुए, फिर युद्ध करना व्यर्थ समझ कर, अपनी सेना को इकट्ठी कर के वे श्रीरामजी की ओर चल दिये, तब इन्द्रजित् भी रणभूमि पर यज्ञ करने के लिए निकुंभिला की ओर चल दिया ।

पश्चिमी द्वार पर इन्द्रजित् और हनुमानजी के बीच युद्ध छिड़ने के समाचार पा कर श्रीरामजी ने जाम्बवान् को उनकी सहायता के लिए भेजा । जाम्बवान् को दीन वदन हनुमानजी राह में ही मिल गये । हनुमानजी ने श्रीरामजी से ज्यों ही वे

भयंकर समाचार कहे, त्यों ही वे एक दम इस तरह पृथ्वी पर गिर पड़े मानों एक वृक्ष उखड़ कर गिर पड़ा हो, पर वैसे ही लक्ष्मणजी ने दौड़ कर उन्हें अपनी भुजाओं पर उठा लिया और वे क्रोध और दुःख से संतप्त हो कर श्रीरामजी से बोले:—"महाराज, आप तो धर्म की बातें कह कर उसकी अपने प्राण से भी अधिक रक्षा करते है, पर वह तो आपकी जरा भी रक्षा नहीं करता; इसलिए मुझे तो यही मालूम होता है कि धर्म और अधर्म कुछ है ही नहीं। यदि संसार में सचमुच अधर्म को दण्ड होता तो रावण अब तक कभी का नर्क को चला गया होता। परमात्मा को धर्म प्यारा होता तो आप पर कभी इस तरह दुःख की घटाएं न उमड़तीं। साथ ही यदि धर्म का पालन करने से सचमुच ही सुख प्राप्त होता तो मनुष्य कभी अधर्म न करते। यदि संसार में देखा जाय तो धर्मपरायण मनुष्य ही दुख भोगते हैं और अधर्मशील सुख की बन्सी बजाते मुझे तो धर्माधर्म सब ढकोसला मालूम होता है। अथवा ज्ञात होता है कि धर्म नपुंसक है और वह बलवानों के ही आश्रम में रहता है। और यदि बल और पराक्रम ही से सब कुछ प्राप्त हो जाता है तो फिर आप भी केवल पराक्रम का ही अवलंब क्यों नहीं करते? क्यों धर्माधर्म की बातें करते हैं? मुझे तो यही मालूम होता है कि धन ही धर्म का आधार है, अतः जब आपने राज्य का त्याग किया तभी आपका धर्म भी नष्ट हो गया। जिसके पास धन है, वही बुद्धिमान्, पराक्रमी, और सब कुछ होता है। द्रव्य से ही हर्ष, काम, धर्म, शम, दम आदि सभी कुछ साध्य होते हैं। इसलिए जब से पिताजी की आज्ञानुसार ये वल्कल आप पहिने हैं, तभी से आपने द्रव्य को

भी त्याग दिया है, और इसीलिए रावण भी आपकी पत्नी को ले गया तथा उस दुष्ट इंद्रजित् ने अब उनको मार डाला है !" जब मनुष्य पर अनेक संकट उमड़ते हैं तब अच्छे आचरण वाले पुरुषों के हृदयों की भी कैसी दशा होती है और उनके मन में भी धर्म के विषय में कैसी अश्रद्धा उत्पन्न होती है; यही चित्र कवि ने यहाँ पर अंकित किया है। उस समय लक्ष्मणजी को श्रीरामचन्द्रजी से उत्तर पाने की आवश्यकता नहीं थी। सुग्रीव तथा अन्य बन्दर भी शोकाकुल हो कर श्रीरामजी के आसपास एकत्र हो गये। बिभीषण वहां पर उपस्थित नहीं थे। शीघ्र ही वे भी लंका के आसपास नियत की हुई सारी चौकियों की व्यवस्था देख कर वहां पर आ पहुँचे जब उन्हें सारा हाल मालूम हुआ, तब उन्होंने श्रीरामजी से कहा:—"महाराज, आप तनिक भी शोक न करिए। रावण सीताजी को कभी न मारेगा। मैंने उसे बहुत प्रकार से समझा कर कहा कि तुम सीताजी को लौटा दो, पर उसने मेरा कहा नहीं माना। वह सीताजी की अपने प्राणों से भी अधिक रक्षा करेगा। इन्द्रजित् ने जिसे मारा है, वह तो कोई बनावटी स्त्री होगी। इसलिए उठिये; यह शोक करने का समय नहीं है। इन्द्रजित निकुंभिला की ओर यज्ञ करने के लिए जा रहा है। यदि वह इस यज्ञ को समाप्त करके युद्ध के लिए तैयार हो जावेगा तो फिर उसे देवता भी नहीं जीत सकेंगे; अतः आप लक्ष्मणजी को मेरे साथ भेजिये। हम शीघ्र ही निकुंभिला की ओर जा कर उसका यज्ञ समाप्त होने के पूर्व ही उसपर चढ़ाई करके उसे मार डालेंगे।" बिभीषण के ये उत्साहजनक वचन और अच्छी सलाह को सुन कर श्रीरामजी ने लक्ष्मणजी को

शीघ्र ही बिभीषण के साथ जाने की आज्ञा दी और उनकी सहा-यता के लिये हनुमान तथा जांबवन्त को भी सेना सहित भेज दिया।

लक्ष्मण श्रीरामचन्द्रजी के चरणों की वन्दना कर और उन्हें परिक्रमा कर के शीघ्र ही विभीषण, हनुमान तथा जाम्बवान् सहित निकुम्भिता को जा पहुँचे। इन्द्रजित् ने अपने कर्म में कोई विघ्न उपस्थित न होने पाए इस ख्याल से बड़े-बड़े बलवान राक्षसों को वहाँ पर पहरा देने के लिए तैनात कर दिया था। पर, जब विभीषण ने हनुमान् और जाम्बवान् से उस सेना पर एक दम चढ़ाई करने के लिए कहा तब वे दोनों अपनी सेना सहित उन राक्षसों पर टूट पड़े। राक्षसों पर एकाएक चढ़ाई करने के समा-चार पा कर इन्द्रजित् भी यज्ञ को अधूरा ही छोड़ कर उठ खड़ा हुआ और अपने रथ में बैठ कर हनुमानजी पर बाण बरसाने लगा। इधर विभीषण ने लक्ष्मणजी को दूर से इन्द्रजित् का चैत्य अर्थात मंदिर के निकट वाला बट-वृक्ष बतलाया। उसकी घनी पल्लवश्री छाया तथा उसकी सहस्रों जटाएँ जमीन में जम जाने से उसके नीचे घना अन्धकार छाया हुआ था। वृक्ष को दिखाते हुए विभीषण ने लक्ष्मणजी से कहा:—"इसी वृक्ष के नीचे बैठ कर इन्द्रजित् यज्ञ करता है। अभी वह वहीं से आया है; अतः उसे अब पुनः उस बट के वृक्ष के नीचे न जाने दो। तब लक्ष्मणजी ने आगे बढ़ कर जोर से चिल्ला कर इन्द्रजित् को द्वंद्व युद्ध की चुनौती दे कर बुलाया। लक्ष्मण की आवाज सुनते ही इन्द्रजित् हनुमानजी को छोड़ कर मारे क्रोध से लक्ष्मण तथा विभीषण की ओर बढ़ा और दाँत पीस कर विभीषण से बोला:—"अरे अधम राक्षस, तू मेरे पिता का भाई होनें पर भी मुझे मारने

पर उतारु हुआ है ? धिःकार है तुझे ! अरे, तू अपनी जाति तथा आज तक के सारे स्नेह-संबंध को कैसे भूल गया ? अरे तू तो अपनों को छोड़ कर शत्रु का गुलाम बन गया है; जा, साधु पुरुष सर्वदा तेरी निंदा ही करेंगे। स्वजन गुणरहित होने पर भी वे गुणवान परकीयों से तो सदा अच्छे ही होते हैं। जो स्वपक्ष छोड़ कर विपक्ष में मिल जाता है, वह स्वपक्ष का नाश हो जाने पर विपक्षियों द्वारा जरूर मारा जाता है। अरे मूर्ख, क्या तुझमें इतना भी ज्ञान नहीं है ?" इस प्रकार अपने भतीजे के कठोर शब्द सुन कर विभीषण ने उत्तर दिया:—

"धर्म से विमुख पापी मनुष्य का—फिर चाहे वह स्वजन ही क्यों न हो—सदा त्याग करना चाहिए। नीति में भी कहा है कि दूसरों का द्रव्य हरने वाले तथा पर स्त्री की अभिलाषा रखने वाले पापियों को जलते हुए घर की नाईं त्याग देना ही श्रेयस्कर है। दूसरों के द्रव्य को हर लेना, पर स्त्रियों की अभिलाषा करना तथा अपने मित्रों के विषय में अत्यन्त संदेह करना बड़ा भयंकर पाप है। अभिमान, क्रोध, दीर्घ शत्रुता, नीति के उपदेश से प्रतिकूल, बुद्धि, आदि वैभव और जीवन का नाश करनेवाले, दोष तेरे पिता में हैं। इसीलिए मैंने उसे त्याग दिया है। और मैंने तो उसी समय उससे यह भी कह दिया था कि इस नगरी का नाश हुए बिना न रहेगा। अस्तु, मैं तो अपने कर्तव्य का पालन कर चुका। पर, तू मूर्खता, घमंड और मृत्यु के पंजे में फँसने के कारण व्यर्थ ही बक बक कर रहा है। पर, इस समय तो तू लक्ष्मणजी के शरों से अपनी रक्षा करने का ही प्रयत्न कर।" इन्द्रजित् ने विभीषण को कुछ भी उत्तर नहीं दिया

उन दोनों का वह घोर युद्ध देखने के लिए आकाश में देव-दानवों की भीड़ हो गई। लगातार तीन दिन तक उन दोनों में युद्ध होता रहा। अन्त में लक्ष्मणजी ने अपने बाण से इन्द्रजित् का शिर उड़ा ही तो दिया। देवताओं ने प्रसन्न हो आकाश में दुंदुभि बजाई और लक्ष्मणजी पर फूलों की वृष्टि की! इन्द्रजित् के सदृश महान् पराक्रमी और मायावी राक्षस का नाश हो जाने से मानों सारी पृथ्वी का बोझ एक दम हलका हो गया और तीनों लोक में आनन्द छा गया। बिभीषण ने लक्ष्मणजी को अपने हृदय से लगा लिया और उनकी भूरि भूरि प्रशंसा की। इस प्रकार कृतकार्य हो कर लक्ष्मण, बिभीषण, हनुमान और जाम्बवान श्रीरामजी के पास पहुँचे और उनसे सारा हाल कह सुनाया। तब श्रीरामचन्द्रजी ने लक्ष्मणजी को अपने हृदय से लगा कर, उनके शरीर पर हाथ फेर कर कहा:—"लक्ष्मण, आज तुमने एक बड़ा ही कठिन कार्य किया है। अब तो रावण जीते हुए भी मरे के समान है। कुम्भकर्ण और इन्द्रजित् रूपी उसके दोनों हाथ तो टूट ही गये हैं। बिभीषण, तुमने मुझे बहुत ही अच्छी सलाह दी है और हनुमान तथा जाम्बवंत ने भी लक्ष्मणजी की बड़ी सहायता की है।" तब अंगद ने सुषेण को बुलाया और श्रीरामजी ने उनसे कहा:—"सुषेण, जाओ इन चारों के घाव शीघ्र ही अच्छे कर दो।" फिर सुषेण ने उन्हें औषधियाँ सूंघने लिए दी उनके शरीर में घुसे हुए तीरों को निकाल कर घावों पर औषधियाँ लगाई। (युद्ध० सर्ग० ८०-९३)

जब इन्द्रजित् की मृत्यु के भयंकर समाचार रावण को उसके मंत्रियों ने सुनाए, तब वह तो धड़ाम से मूर्च्छित हो कर गिर

पड़ा। उसकी आँखों के सामने अँधेरा छा गया। कुछ देर में सचेत हो कर पुत्र-स्नेह के कारण उसने बहुत शोक किया। पर, केवल विलाप करने ही से मरा हुआ पुत्र कैसे लौट सकता था? वास्तव में वृद्धावस्था में पुत्र-शोक अत्यंत भयंकर होता है। पुत्र-शोक से संतप्त उस दुष्ट के मन में एकदम एक भयंकर विचार उत्पन्न हुआ। उसने सोचा इन्द्रजित् ने तो केवल कृत्रिम सीता का ही वध किया था, पर अब तो मैं प्रत्यक्ष सीताजी को मार कर राम-लक्ष्मण के सारे पराक्रम को ही निष्फल कर डालता हूँ। यह विचार आते ही वह उठा और चला। उसके चेहरे पर क्रोध पूर्णतया छा गया था। उसके मुख से मानों क्रोधाग्नि का धुँआ ही निकल रहा था और जिस प्रकार जलते हुए दीपक से गरम-गरम तेल की बूँदें टपकती हैं, उसी प्रकार उसकी आँखों से भी गरम-गरम क्रोधाश्रु गिर रहे थे। जब वह एक छुरी ले कर अशोक-वनिका की ओर दौड़ा तो उसके भयभीत सरदार और रोती हुई स्त्रियाँ भी उसके पीछे दौड़ीं। उस समय सीताजी तो रावण के उस उग्र स्वरूप को देखते ही जान गईं कि वह अधम राक्षस पुत्र-शोक से अन्धा बन कर मुझे मारने ही के लिये दौड़ा आ रहा है। तब उन्होंने सोचा मेरे बिना श्रीरामजी की बड़ी बुरी और दयनीय दशा होगी; वानर सेना भी हताश हो कर तितर-बितर हो जायगी। तथा माता कौशल्याजी भी अपने इकलौते पुत्र की मृत्यु को सुन कर शोक सागर में डूब जायँगी. वे यह सोच कर वे दुखित भी हुईं कि हनुमानजी की प्रार्थना के अनुसार यदि मैं उनकी पीठ पर ही बैठ कर चली जाती तो यह सारा अनर्थ टल

ज.ता। अस्तु। जब रावण उनके निकट पहुँचा, तब उसके सुपार्श्व नामक मंत्री ने कहा:—"महाराज, आप जैसे वीरों को स्त्रियों का वध करना शोभा नहीं देता। तिसपर भी आप सीता-जी के सौंदर्य की ओर देखिए। अतः आप ऐसे स्त्री-रत्न के सामने अपना पराक्रम बतलाने के बदले राम-लक्ष्मण को ही अपना पराक्रम बतलाइए। आप अवश्य ही राम-लक्ष्मण को जीत सकते हैं। फिर आप ऐसा पाप क्यों करते हैं? यदि आप सारी राक्षस-सेना को अपने साथ ले कर, रथ पर चढ़ कर और धनुष्य बाण ले कर शत्रु पर चढ़ाई कर दें तो मुझे विश्वास है, कि आप अवश्य ही शत्रु का नाश कर डालेंगे और फिर क्या है? सीताजी आप को सहज ही में, प्राप्त हो जावेंगी।" यह सुन कर बिना कुछ उत्तर दिये वहां से लौट कर रावण सभा में चला गया। सभा में उपस्थित होनेपर उसने अपने समस्त बचे हुए सेनापतियों को आज्ञा दी कि तुम शेष सारी सेना को इकट्ठी करके राम पर चढ़ाई कर दो। उस समय सहस्रों हाथी, लाखों रथ और करोड़ों पैदल राक्षस सैनिक नगर से निकल कर चारों ओर से बंदर-सेना पर बड़े क्रोध से टूट पड़े। उस दिन तक जितने सामने हुए थे, किसी में भी इतनी राक्षस-सेना इकट्ठी नहीं हुई थी। तिस पर भी तो वे प्राणों की आशा छोड़ कर जी जान से लड़ रहे थे। उस भयंकर युद्ध में दोनों ओर से असंख्य वीर आहत हुए और रक्त की नदियाँ बहने लगीं, पर फिर भी कोई पीछे नहीं हटा। उस दिन श्रीरामजी ने भयंकर स्वरूप धारण कर के राक्षसों को अपनी अस्त्र-विद्या का सामर्थ्य खूब दिखाया। उनके सच्चे स्वरूप को कोई देख नहीं पाता था। केवल उनका वह विजयी

पर-पीड़क धनुष्य ही दिखाई देता था। देखनेवाले की आँखें नहीं ठहरती थीं। उसे पता नहीं चलता था कि तर्कश से कब तीर निकल कर धनुष्य पर लगता है और कब मूँ-मूँ करता हुआ अपने लक्ष्य पर झपटता है। जिन श्रीरामचन्द्रजी ने चौदह हज़ार राक्षसों को जन-स्थान में मार डाला था, उन्होंने उस समय केवल एक घड़ी भर में अपने अस्त्र-प्रभाव से दस हजार रथी, अठारह हजार हाथी, चौदह हजार सवार और दो लाख पदाति राक्षस यमलोक को भेज दिये! अन्त में राक्षस-सेना ने निराश हो कर पीठ फेर दी और शेष सेना लंका को वापिस लौट गई।

उस दिन सारे नगर में हाहाकार मच गया। घर-घर में रोना-पीटना आरंभ हो गया। प्रत्येक स्त्री, बालक और वृद्ध अपने मृतपति, पिता और पुत्रों के लिए शोक करने लगे। वे अनाथ राक्षस-स्त्रियाँ शोक करते हुए रावण की निंदा कर के उसे शाप भी देने लगीं। वे कहने लगीं:—"वह दुर्देवी शूर्पणखा ही इस नगर पर यह भयंकर संकट लाई है; वह शंकरजी के क्रोध से उत्पन्न हुई पूरी डाइन ही है, उसीने हमारे घर-बार को बरबाद कर डाला और इस दुष्ट, हठीले और दुराचारी रावण ही ने हमारे सौभाग्य को नष्ट किया है" इत्यादि नाना प्रकार के शोकोद्गारों के कारण वह नगर यों दिखाई देने लगा, मानो वह शोक-समुद्र के तूफान में जा फँसा है। उन राक्षस स्त्रियों के विलाप सुन कर रावण यों खड़बड़ा कर उठ बैठा मानो चाबुक के फटकारे से घोड़ा। उसने अपने दाँत पीस कर अस्पष्ट शब्दों में रथ को तैयार करने के लिए आज्ञा दी। महापार्श्व और विरूपाक्ष को भी अपने साथ चलने को कहा। शीघ्र ही रावण का मजबूत और आठ घोड़ों से

जुता हुआ रथ तैयार हो गया। तब वह यह कह कर रथ पर चढ़ा कि आज मैं अपने दिव्य अस्त्रों से राम-लक्ष्मण को स्वर्ग भेज कर उनके अश्रुओं का परिमार्जन करूँगा जिनके बंधु, पति या पुत्र इस युद्ध में मारे गये हैं। उस समय उसके मुख की ओर कोई भी नहीं देख सकता था। सभी राक्षस दूर हाथ जोड़े खड़े थे। इस प्रकार जब रावण युद्ध के लिए चला, तब सूर्य भी धूल के कारण छिप गया; चारों दिशाओं में अँधेरा छा गया; पृथ्वी काँपने लगी; घोड़े ठोकर खाने लगे और रथ की ध्वजा पर गिद्ध झपटने लगे। और भी अनेकों बुरे-बुरे अपशकुन हुए, पर रावण ने उनकी जरा भी परवा नहीं की। वह तो सरदारों सहित नगर के उत्तरी द्वार से रणक्षेत्र पर जा खड़ा हो गया, और लगा क्रोध से संतप्त हो कर बंदरों पर बाणों की वर्षा करने। उसके सरदार भी शत्रु-सेना पर टूट पड़े। उस घनघोर संग्राम में दोनों ओर के वीरों ने अपना सारा कौशल और पराक्रम दिखा दिया। अंगद, सुग्रीव, हनुमान, नील आदि वीरों के कार्यों का समग्र वर्णन करना तो बिलकुल ही असंभव है। जब महापार्श्व और विरूपाक्ष से राक्षस वीर भी युद्धभूमि में गिर पड़े, तब रावण ने क्रोध से दाँत पीस कर राम-लक्ष्मण पर धावा किया। देखते ही देखते लक्ष्मण ने सात बाणों से रावण के घोड़े और सारथी को मार डाला, पर उसने रथ से नीचे उतर कर लक्ष्मणजी पर एक भारी और तीक्ष्ण शक्ति इतने जोर से फेंकी कि वह लक्ष्मणजी की छाती को फोड़ कर भीतर पैठ गई, और वे मूर्च्छित हो, पृथ्वी पर गिर पड़े। फौरन श्रीरामजी ने दौड़ कर उस शक्ति को लक्ष्मणजी के शरीर से खींच लिया और उन्होंने क्रोध से उसे तोड़ कर

फेंक दिया। उस समय रावण रामचन्द्रजी पर बराबर बाण छोड़ता जा रहा था, पर उन्हें सहकर भी उन्होंने सुग्रीवादि से कहा:—"तुम लक्ष्मणजी के आस-पास घेरा डाल कर उनकी रक्षा करो। तब तक मैं इस दुष्ट को अभी नष्ट कर देता हूँ।" यों कह कर श्रीरामजी ने रावण पर बाणों की ऐसी वर्षा आरंभ कर दी कि वह पुनः भयभीत हो कर लंका को भाग गया।

(युद्ध० सर्ग० ५४–१०१)

इधर श्रीरामचन्द्रजी लौट कर लक्ष्मणजी के पास आये और उनका शिर अपनी गोदी में रख कर विलाप करने लगे:—"लक्ष्मण, आज तक तो तुमने मेरा साथ दिया, क्या तुम स्वर्ग को जा रहे हो? अब मैं अकेला ही अयोध्या को कैसे जाऊँ? मैं तुम्हारी माताजी से क्या कहूँगा? अब सीताजी को छुड़ा कर मुझे क्या करना है? सुषेण, यह वीर, अपनी माता तथा राज्य को छोड़ कर मेरे साथ वन के दुःख भोगने के लिए आया था, क्या ऐसा बन्धु मुझे पुनः मिल सकता है? इस जगत में स्त्री मिल सकती है, सम्बन्धी भी मिल सकते हैं; पर सगा भाई कभी नहीं मिलता? लक्ष्मण, तुम मेरे साथ बन को आये; अतः चलो मैं भी तुम्हारे साथ स्वर्ग को चलता हूँ। अकेले ही वहाँ न जाओ!" यों कह कर वे लक्ष्मणजी से लिपट गये। उनके उस अपार शोक को देख कर सारे बन्दर, सरदार और विभीषण भी रोने लगे। इतने में सुषेण श्रीरामजी को धीरज दे कर बोले:—"महाराज, मुझे ज्ञात होता है कि अभी लक्ष्मण की मृत्यु नहीं हुई है। उनका मुख अभी फीका नहीं पड़ा है और उनके हाथ पद्मपत्र की नाईं ठंडे और सुखद मालूम देते हैं। उनके हृदय में धुकधुकी

भी है और मंद-मंद सांस भी चल रही है; अतः यदि इस समय संजीवनी मिल जाय तो मैं उन्हें अभी सचेत कर सकता हूँ।" यह सुन कर हनुमानजी ने आगे बढ़ कर कहाः—"सुषेण, मुझसे कहो संजीवनी कहाँ पर मिलेगी ? मैं उसे अभी ले आऊँगा।" सुषेण ने कहाः—"वास्तव में यह कठिन कार्य तुम ही कर सकोगे। इसे दूसरा कोई भी नहीं कर सकता। जाओ, हिमालय पर महोदय गिरि के दक्षिणीय शिखर पर संजीवनी महौषधि है; अतः उसे शीघ्र ही ले आओ। वहीं पर विशल्य-करणी तथा सावर्णकरणी औषधियाँ भी हैं; उन्हें भी ले आओ।" यह सुनते ही हनुमानजी ने जो एक दम उड्डाण किया तो ठेठ हिमालय पर जा पहुँचे और महोदय गिरि के दक्षिण शिखर पर औषधियाँ ढूँढ़ने लगे। पर, वे उन्हें न पहिचान सके; अतः उनके ढूँढ़ने में अधिक समय नष्ट करना व्यर्थ समझ कर उस शिखर को गेंद की नाईं उन्होंने अपने हाथ पर उठा लिया और हिमालय पर से फिर उड्डाण किया तो बात की बात में ठेठ सुषेण के पास वापिस आ पहुँचे। हनुमानजी के उस अद्भुत कार्य को देख कर सुषेण ने दाँतों तले उँगलियाँ दबाईं और बड़े प्रेम से उनको पीठ ठोंकी। तब हनुमानजी ने कुछ दम लेते हुए कहाः—"इस शिखर पर की औषधियों को तुम्हीं पहिचान लो। मैं उन्हें न पहिचान सका और विलंब हो जाने से कहीं लक्ष्मणजी के प्राणों को हानि न हो जाय यह सोच मैं इस शिखर को ही उठा लाया हूँ।" अनंतर सुषेण ने आवश्यक औषधियों को पीस कर ज्यों ही उनका रस लक्ष्मणजी की नाक में डाला, त्यों ही वे पुनः सचेत हो कर उठ बैठे। तब श्रीरामजी ने 'भाई लक्ष्मण'

कह कर उन्हें अपने हृदय से लगाया और बोले:—"लक्ष्मण, तुम हनुमानजी के प्रयत्न से और सुषेण की कृपा से आज पुनः जीवित हो गए हो; आज मुझे इतना आनन्द हो रहा है कि जिसका वर्णन करना असंभव है पर, यदि तुम्हारी मृत्यु हो जाती तो मुझे मेरे शरीर की तथा सीताजी की भी आवश्यकता नहीं थी।" तब लक्ष्मणजी ने उनकी सान्त्वना करते हुए कहा:— "अब तो मैं अच्छा हूँ; जाइए आप अपनी प्रतिज्ञा को पूरी कर के उस अधम राक्षस का नाश कीजिये।" (युद्ध०स०–१०२)

यह सब एक मुहूर्त के भीतर हो गया. यद्यपि रावण लंका को लौट गया था तथापि वह फिर से क्रुद्ध हो कर वीरश्री का आश्रय ले तथा दूसरे रथ पर चढ़ कर मरने-मारने का निश्चय कर के नगर के बाहर युद्ध-भूमि पर आ पहुँचा। श्रीरामजी पर बाणों की इतनी वर्षा करने लगा मानों पर्वत पर मेह बरसता हो। इधर श्रीराम भी लक्ष्मणजी की घटना के कारण असीम क्रुद्ध हो गये थे। उन्होंने भी अपने अक्षय बाणों से रावण के बाणों को बीच ही में गिरा दिया। दोनों पराक्रमी वीरों में घोर युद्ध होने लगा। और सारे राक्षस और बंदर रण-भूमि पर स्तब्ध हो कर उस घोर युद्ध को देखने लगे। देव, असुर, दानव और गंधर्व भी आकाश में एकत्रित हो गये। इन्द्र की आज्ञा पा कर मातलि भी रथ ले कर श्रीरामजी के पास आ पहुँचा और श्रीरामजी से प्रार्थना करने लगा कि "रावण को रथ पर चढ़ कर युद्ध करते हुए और आपको पैदल युद्ध करते हुए देख कर इन्द्र ने आपके लिये यह रथ भेजा है; इसपर चढ़ कर आप युद्ध करें।" श्रीरामजी ने उसकी प्रार्थना को मान लिया और उस रथ पर चढ़

गये। इस प्रकार अब वे दोनों वीर रथ पर चढ़ कर ही युद्ध करने लगे। युद्ध दिन रात होता ही रहा। रावण तो मरने-मारने का निश्चय कर ही चुका था। पर श्रीरामजी भी संसार को रावण-शून्य या राम-शून्य कर देने पर तुले हुए थे। अनेकों शस्त्रास्त्रों का प्रयोग उन्होंने एक दूसरे पर किया, पर कोई पीछे न हटा। अंत में श्रीरामजी ने बड़ी वीरता से एक बाण से रावण का सिर गिरा दिया। पर, उस समय एक बड़ी ही अद्भुत घटना हो गई। रावण के उस एक सिर के बदले वहाँ एक दूसरा सिर उत्पन्न हो गया। ठीक सौ बार यही होता रहा, तब अगस्त्य ऋषि वहाँ पर आये और उन्होंने श्रीरामजी से सूर्य की प्रार्थना करने के लिए कहा। तदनुसार श्रीरामचन्द्रजी ने सूर्य की प्रार्थना कर के वही बाण धनुष्य पर चढ़ाया जो अगस्त्य-ऋषि ने उन्हें दिया था। ब्रह्माजी ने त्रैलोक्य को जीतने के लिए उस बाण को पहले-पहल उत्पन्न कर के इन्द्र को दिया था। उसमें वायु का तत्व भरा था और उसके फले में अग्नि और सूर्य का तेज था। उस दिव्य बाण को प्रजापति अस्त्र से अभिमंत्रित कर के ज्यों ही श्रीरामजी ने रावण के वक्षःस्थल पर मारा, त्यों ही वह रावण के हृदय को फोड़ कर पृथ्वी में घुस गया! बस, रावण एकदम मर कर रथ से पृथ्वी पर गिर पड़ा! यह देखते ही शेष राक्षस भी भयभीत हो कर लंका को भाग गये। बंदर-सेना ने जयजयकार से आकाश को गुँजा दिया। देवताओं ने आकाश से श्रीरामजी पर पुष्प बरसाये और 'साधु साधु' कह कर उनका जयजयकार किया। इस प्रकार सारे चराचर जगत को कष्ट पहुँचाने वाले रावण की मृत्यु के समाचार पा कर तीनों लोक में आनंद छा गया।

(युद्ध० सर्ग० १०३-१११)

अब तक शत्रु बन कर युद्ध करनेवाले विभीषण अपने दुख को न रोक सके। उनकी आँखों से आंसू बहने लगे। तब श्रीरामजी ने उन्हें समझा कर कहा:—"विभीषण, रणभूमि पर जय या पराजय अवश्य ही होती है। तुम्हारा यह शूर भाई पराक्रम बतला करके ही रण-भूमि पर मरा है। क्षत्रिय शूरों की मृत्यु इसी प्रकार से होनी भी चाहिये। इस प्रकार की मृत्यु शोक कारक नहीं बरन् योग्य ही होती है। इसलिए अब तुम शोक न करो बल्कि भावी कार्यवाही करने का प्रबन्ध करो। मेरी शत्रुता का अन्त तो इसकी मृत्यु के साथ ही हो गया है। जिस प्रकार वह तुम्हारा भाई है, उसी प्रकार वह मेरा भी भाई ही है। अब तुम इसकी अन्तिम क्रिया की व्यवस्था करो। इसलिए उठो, और इसके प्रेत का योग्य प्रबन्ध करो।" इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी विभीषण को समझा ही रहे थे कि इतने में रावण की दश सहस्र, स्त्रियां, उसकी मृत्यु के समाचार पाकर, शोक करती हुई नगर के बाहर आई और उस रण-भूमि पर पड़े हुए सहस्रों प्रेतों को देखते-देखते वे रावण के प्रेत के पास जा पहुँचीं और छिन्न बेलि की तरह उसपर गिर पड़ीं। किसी ने उसके चरण अपनी गोदी में रख लिये तो किसी ने हाथ और किसी ने उसका शिर गोद में रख 'हा नाथ! हा महाराज! आप हमें छोड़ कर क्यों चल दिये'? आदि कह कर विलाप करने लगीं। उस दृश्य को देख कर सब के हृदय दुःख से भर गये। उसकी ज्येष्ठ पत्नी मन्दोदरी रावण के मुख को आंसुओं से न्हिलाती हुई बोली—"महाराज, प्रत्यक्ष काल भी आपके सामने खड़ा नहीं रह सकता था; फिर एक मनुष्य के द्वारा आपकी मृत्यु कैसे हुई? इससे ज्ञात होता है कि

यह राम नहीं हैं बरन् प्रत्यक्ष श्रीविष्णु ही अवतार ले कर आये हैं और वास्तव में देवता ही बन्दरों के भेष में उनकी सहायता के लिये आये हैं। आप परम पतिव्रता सीताजी को बलपूर्वक ले आये थे। वही पाप तो कहीं आपका काल नहीं हुआ? लोगों का यह कथन सत्य है कि पतिव्रता के आँसू व्यर्थ ही पृथ्वी पर नहीं गिरते; अन्यथा सारे देव-दानवों को जीतनेवाले आपकी इस रण-भूमि पर कभी मृत्यु नहीं होती। महाराज, मैंने कई बार आपसे प्रार्थना की थी कि सीताजी को लौटा दो, पर आपने मेरा कहा नहीं माना और अब आपने अपना भी नाश कर लिया तथा हम सब का भी। अब सीताजी तो बड़े आनन्द से श्रीरामजी के साथ विहार करेंगी और मैं अभागिनी केवल शोक सागर ही में डूबी रहूँगी। महाराज, आप तो रत्नजटित पलंग पर लेटनेवाले हैं, फिर आज इस रणक्षेत्र में जमीन पर ही क्यों पड़े हैं? मैं राक्षसों के राजा की पटरानी, दानवेश्वर मय की पुत्री तथा देवताओं के राजा को जीतनेवाले की माता थी पर इतनी बड़भागिनी होने पर भी मैं अब पुत्र-पति विहीन हो कर अनाथा की तरह दुःख-सागर में गोते खा रही हूँ। पर क्या मैं स्वप्न तो नहीं देख रही हूँ? महाराज, उठिये; अपनी इस पटरानी से कुछ बातचीत तो करिए। महाराज मुझे भी अपने साथ स्वर्ग को ले चलिये। मैं अब आपके बिना पल भर भी जीती न रहूँगी।" यों कह कर वह शोक से अत्यन्त व्यथित हो कर रावण के विस्तीर्ण वक्षःस्थल पर मूर्च्छित हो कर गिर पड़ी। तब अन्तःपुर की सारी स्त्रियाँ उसे उठा कर ले गईं। इतने में बिभीषण ने रावण के प्रेतकार्य की व्यवस्था की। चंदन, अगंजा आदि की लकड़ी एकत्र करके, रावण के मृत शरीर को

सुवर्ण-रथ में रख कर, उसे जलाने के लिए ले गये तथा उस प्रेत का यथाविधि अग्नि-संस्कार कर दिया। अनन्तर सभी स्त्रियों सहित रावण को तिलांजलि दे कर उन्हें समझा-बुझा कर नगर को भेज दिया। और आप शीघ्र ही श्रीरामजी के पास जा पहुँचे। तब श्रीरामजी ने उन्हें और सुग्रीव को बड़े प्रेम से अपने हृदय से लगा कर कहा:—"आज तुम दोनों की सहायता ही से मैं कृत-कृत्य हो गया हूँ।" यों कह कर उन्होंने अपना धनुष नीचे रख दिया। अनन्तर वे लक्ष्मणजी की ओर देख कर बोले:—"लक्ष्मण, इस मेरे परमभक्त और मित्र विभीषण को लंका में ले जा कर राज्याभिषेक करो। अब मेरी यही उत्कट इच्छा है कि मैं विभीषण को लंका की राजगद्दी पर बैठे हुए देख लूं।" तब लक्ष्मणजी ने बन्दरों को सुवर्ण कलश दे कर समुद्र-जल मंगवाया। फिर लक्ष्मणजी विभीषण को अपने साथ ले कर लंका में प्रविष्ट हुए। उस समय जितने राक्षस जीवित थे, उन सभी ने बड़े प्रेम से विभीषण को लंका के राजसिंहासन पर बैठा कर उनका अभिषेक किया! जहां तहां चारों ओर जयजयकार का घोष होने लगा तथा मंगलवाद्य बजने लगे। अनन्तर सभी राक्षसों को समझा-बुझा कर विभीषण शीघ्र ही लक्ष्मणजी सहित श्रीरामजी के पास जा पहुँचे और उन्होंने हाथ जोड़ कर दधि, अक्षत, आदि मंगल सूचक पदार्थ श्रीरामजी को अर्पण किये तथा श्रीरामजी ने भी बड़े प्रेम से उन्हें ग्रहण किया। (युद्ध० स० ११२–११४)

अनन्तर श्रीरामचन्द्रजी ने अपने सामने नम्रता पूर्वक खड़े हुए, शैल के सदृश प्रचंड वीर, हनुमानजी की ओर देख कर कहा:—"भाई, हनुमान, अब तुम विभीषण की आज्ञा ले कर,

सीताजी से रावण के मारे जाने और मेरे, लक्ष्मण के, तथा सुग्रीव के कुशल समाचार कह आओ। सीताजी को यह प्रिय वार्त्ता सुनाने के योग्य तुम्हीं हो और वे जो कुछ उत्तर दें, वह मुझसे आकर कहो।" यह आज्ञा पाते ही वे विभीषण से आज्ञा माँग कर शीघ्र ही लंका में प्रविष्ट हुए और अशोक वन में जा कर सीताजी से मिले। उस समय कई दिनों तक स्नान न कर सकने के कारण मलिन बदन वाली पतिव्रता सीताजी कुछ देर तक उनकी ओर टक टकी बाँधे देखती रहीं। प्रथम दिन से लेकर उस समय तक की सारी घटनाओं के चित्र उनकी आँखों के सामने आ खड़े हुए और हर्ष के कारण उनके रोमांच भी खड़े हो गये। फिर उनके सौम्य और आनन्दित वदन को देखकर हनुमानजी श्रीरामजी का संदेश सुनाने लगे 'वैदेहि, श्रीरामचन्द्र जी कुशल हैं—लक्ष्मण और सुग्रीव भी सानन्द हैं। श्रीरामचंद्र-जी ने अपने शत्रु को मार डालने की प्रतिज्ञा को पूर्ण कर दिया और तुम्हारी कुशल पूंछी है और यह संदेश कहलाया है कि 'सीताजी, बन्दरों और विभीषण की सहायता से मैंने रावण को रणभूमि पर मार डाला है; अतः ये प्रिय समाचार तुम्हें सुनाता हूँ। सीता, इसमें मैं तुम्हारा ही अभिनंदन करता हूँ; क्योंकि तुम्हारे समान धर्मपरायण स्त्री के प्रभाव के ही कारण इस युद्ध में मेरी विजय हुई है। मैंने समुद्र पर सेतु बना कर अपनी कठिन प्रतिज्ञा को पूरी किया है; अतः अब तुम चिंता न करो। लंका में अब तुम्हें किसी बात का भी भय नहीं है; क्योंकि यहाँ विभीषण राज्य करते हैं। अब तो यही समझो कि तुम अपने घर पर ही हो। मैं अपने अत्यन्त प्रसन्न मित्र हनुमान को तुम्हारे पास

भेजता हूँ।" इस प्रकार हनुमानजी ने श्रीरामचन्द्रजी का संदेश अक्षर-अक्षर सीताजी को सुना दिया। पर उन्होंने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। हाँ, उस समय उनका वदन अवश्य अत्यन्त तेजस्वी और आनन्दित दिखाई देने लगा पर उनके विशाल नेत्रों से आँसू भी गिर ही रहे थे। हनुमानजी ने चिंतातुर हो कर पूंछा:—"देवी वैदेहि, आप मुझे उत्तर क्यों नहीं देतीं?" सीताजी ने कहा:—"हनुमान, तुमने प्राणों से भी प्रिय समाचार सुनाये हैं; अतः उनके बदले में तुम्हें पुरस्कार देने योग्य कोई उत्तम वस्तु इस समय मेरे पास न होने से ही मैं स्तब्ध हो गई हूँ। यदि मैं इस पृथ्वी पर के सारे रत्न या तीनों लोक का राज्य भी तुम्हें दे सकती तो वह भी इस प्रिय संदेश को सुनाने का पूरा बदला नहीं कहा जा सकता"। सीताजी के ये वचन सुनकर हनुमानजी शंका रहित हो गये। उनके मन में आनन्द उमड़ उठा और उन्होंने हाथ जोड़ कर प्रार्थना की:—"सीताजी, वास्तव में उक्त उद्गार आपके बड़प्पन को सोहते हैं। दूसरों के पास ऐसे बचन कहाँ से सुनाई देंगे? अस्तु, मैं आपके उत्तर से धन्य हो गया हूँ। अब मुझे आप एक बात की आज्ञा दीजिये। आपको मृत्यु तुल्य कष्ट देनेवाली इन दुष्टा राक्षसियों को मैं मार डालना चाहता हूँ। मेरा विश्वास है कि उस पाशविक आचरण के बदले वे उक्त दण्ड के ही पात्र हैं।" यह सुनकर सीताजी ने दया पूर्वक कहा:—"नहीं, हनुमान, तुम इनको मत मारो। इन बेचारियों का कोई अपराध नहीं है। इन्होंने जो कुछ किया वह सब रावण की आज्ञा के अनुसार ही किया है। रावण की मृत्यु हो जाने के दिन से वे मुझे बिलकुल ही कष्ट नहीं देतीं। अब तक जो कुछ

भी हुआ, वह मेरे भाग्य से ही हुआ है। इसके अतिरिक्त यदि दूसरों ने हमें दुख दिया हो तो हमारी विजय हो जाने पर हमें उनसे बदला लेने की कभी चेष्टा नहीं करनी चाहिये। क्या तुम्हें उस वन के रीछ और मनुष्य की कहानी मालूम नहीं है? जब मनुष्य ने सिंह के कहने से रीछ को नीचे ढकेल दिया था, परंतु रीछ ने, सँभल कर ऊपर चढ़ जाने पर भी, उस मनुष्य का बदला नहीं लिया। अतः तुम उसके वचनों का स्मरण करो। बुद्धिमान मनुष्य को पापाचरण करने वालों के पाप की ओर नहीं देखना चाहिये। बल्कि अपने शील को ही सुरक्षित रखना चाहिए; क्योंकि सज्जनों के लिए तो शील ही भूषण है। आर्य जन पापी अथवा वध के अधिकारी मनुष्य के अपराध को भी यथा संभव क्षमा कर देते हैं। अरे, अपराध किससे नहीं होते?" सीताजी के ये उदारता भरे वचन सुनकर हनुमानजी के मुख से हठात् धन्योद्गार निकल पड़े और उन्होंने कहा कि आप वास्तव में श्रीरामजी की योग्य पत्नी हैं! अनन्तर उन्होंने पूछा कि मैं श्रीरामचन्द्रजी से क्या कहूँ? तब सीताजी ने कहा कि 'मैं अपने भक्तवत्सल पति के दर्शन करना चाहती हूँ।' तब हनुमानजी शीघ्र ही श्रीरामचन्द्रजी के पास जा पहुँचे और बोलेः—"जिनके लिए आपने यह सारा कार्य किया है, वे शोक मूर्ति सीता देवी आपके दर्शन करना चाहती हैं। आपकी विजय के समाचार पाकर उनके नेत्रों से आनंदाश्रु बहने लग गये और उन्होंने आपके दर्शन की उत्कट इच्छा प्रकट की है। पूर्व परिचय के कारण उनका मुझपर विश्वास है; इसीसे वे लज्जा को त्याग कर अपनी आँखों में आँसू लाकर बोलीं कि मैं अपने पतिदेव के दर्शन करना

चाहती हूँ।" इस प्रकार हनुमानजी के वचन सुन कर श्रीरामचन्द्रजी अत्यंत दुःखित हो गये। वे कुछ देर तक तो चुप-चाप बैठे रहे पर फिर गहरी साँस ले कर जमीन की ओर देखते हुए विभीषण से बोलेः—"विभीषण, सीताजी को निहला कर दिव्य उबटन लगा कर तथा उत्तम वस्त्रालंकारों से भूषित कर के, शीघ्र ही यहाँ पर ले आओ; जरा भी देर मत करो।" यह आज्ञा सुनते ही विभीषण ने सीताजी से स्नान करने के लिए प्रार्थना की और यद्यपि उन्हें नहाने की इच्छा नहीं थी, तथापि पति की आज्ञा को मान कर के उन्होंने स्नान किया; उत्तम वस्त्र पहिने तथा आभूषण पहिन लिए और शिबिका में बैठ कर विभीषण के साथ हो लीं। लंका से बाहर उनके बानर-सेना के निकट पहुँचते ही विभीषण के सुवर्ण दंड धारी चोबदार श्रीरामजी के आस-पास के बंदरों को 'हटो हटो' कह कर एक तरफ हटाने लगे, जिससे बड़ी हलचल मच गई। तब श्रीरामजी ने किंचित कुपित हो कर कहाः—"विभीषण, मेरे इन प्रिय बंदरों को मेरी आज्ञा के बिना व्यर्थ ही क्यों कष्ट पहुँचाते हो? सीताजी को शिबिका में से उतार कर पैदल ही यहाँ पर ले आओ। जिनके लिये मैंने इन बंदरों को इतने कष्ट दिये उनको इन्हें भी देख लेने दो। यदि दुःख के समय, विवाह में, युद्ध में अथवा यज्ञ के समय स्त्रियाँ लोगों के सामने खड़ी रहें तो कोई हानि नहीं है। तब उक्त आज्ञा पा कर विभीषण सीताजी को पैदल ही सबके सामने, श्रीरामजी के सामने ले आये। पर, श्रीरामजी के मुँह से वे शब्द उस समय लक्ष्मण, सुग्रीव तथा हनुमानजी को जरा विचित्र मालूम हुए। देवी सीताजी तो लज्जित हो

कर बड़े प्रयास से श्रीरामजी के पास जा पहुँची। पति को परम देव माननेवाली सीताजी अत्यन्त हर्ष, आश्चर्य और प्रेम से श्रीरामजी के मुख की ओर बड़ी लालायित हो कर देखने लगीं। पर उस समय उन्हें उनके मुख पर प्रीति की छाया भी नहीं दिखाई दी। उस चेहरे पर तो दैन्य और रोष की लहरियाँ उमड़ रही थीं। इस प्रकार श्रीरामजी की उक्त विचित्र स्थिति को देख कर सीताजी को अत्यन्त विषाद और भय उत्पन्न हुआ। सीताजी को हाथ जोड़े विनय और लज्जा से अपने पास खड़ी हुई देख कर श्रीरामचन्द्रजी, अपने हृदय के भावों को प्रकट करके बोले:—

"सीता, शत्रु को रण-भूमि पर गिरा कर और तुम्हें बन्दीगृह से छुड़ा कर मैं यहां पर लाया हूँ। शूर पुरुष का जो कर्तव्य था, वही मैंने किया है। मैंने अपने शत्रु का और मेरे अपमान का एक साथ ही नाश कर दिया है। आज मेरे पराक्रम की सिद्धि हो गई। आज मेरे परिश्रम सफल हो गये। कठिन समुद्र को तै करके मैंने आज अपनी प्रतिज्ञा को पूरी की है। 'दुराचारी परपुरुष बलात्कार से तुम्हें ले गया था' यह जो कलंक मेरे सिर पर लगा था, उसे मैंने जहां तक मनुष्य से हो सकता है, अपने प्रयत्न से आज धो डाला है। दूसरों के अपमान करने पर भी जो मनुष्य अपने तेज से उसका प्रतिकार नहीं करता, उस क्षुद्र का सामर्थ्य और पौरुष किस काम का? हनुमान ने शत योजन समुद्र को लांघ कर, लंका का नाश करके जो महान पराक्रम किया वह आज सफल हो गया। सुग्रीव ने और उनकी सेना ने कई दिनों तक जो भयंकर युद्ध किया; वह भी आज सफल हो गया। अपने दुष्ट भ्राता का त्याग करके विभीषण ने मेरे लिये जो परिश्रम

उठाया, वह भी आज सफल हो गया। इस प्रकार जब वे संभाषण कर रहे थे, तब सीताजी का हृदय, इस उत्सुकता से आतुर हो रहा था कि अब श्रीरामजी क्या कहते हैं। वे बड़ी उत्सुकता पूर्वक श्रीरामजी के मुख की ओर देख रही थीं कि श्रीरामचन्द्रजी बोले:—"पर सीता इस बात को तुम्हें याद रखना चाहिये कि यह प्रयास किया, गया है वह तुम्हारे लिये नहीं बल्कि मुझ पर तथा मेरे प्रसिद्ध कुल पर जो कलंक का टीका लगा था, उसे धो डालने ही के लिए मैंने और मेरे मित्रों ने इस महायुद्ध का परिश्रम उठाया है। यह तुम्हारे लिये नहीं; क्योंकि तुम्हारी शुद्धि के विषय में संदेह उत्पन्न करनेवाले कई जबरदस्त कारण हैं। तुम्हें अपने सामने खड़ी देख कर मुझे जरा भी आनन्द नहीं होता बरन जिस प्रकार नेत्र पीड़ित आदमी को दीया असह्य हो जाता है, उसी प्रकार मैं भी तुम्हारा मुख देखना नहीं चाहता। इसलिए हे वैदेहि, तुम यहाँ से चली जाओ। जहां चाहो चली जाओ, मेरी तरफ से तुम्हें छुट्टी है। ये दशों दिशाएँ तुम्हारे लिये खुली हैं। कौन ऐसा कुलीन और तेजस्वी पुरुष होगा जो लोभ में फँस कर महीनों तक कैद की हुई पत्नी को पुनः अपने पास रखने के लिए तैयार हो जावेगा?" यों कह कर श्रीरामजी ने अपना क्रुद्ध बदन सीताजी की तरफ से दूसरी ओर मोड़ लिया। श्रीरामजी के इन वज्र के समान कठोर वचनों को सुन कर सीताजी की ऐसी दशा हो गई। मानों उनपर बिजली गिर पड़ी हो। वे उस समय दुःख वश मूर्च्छित हो कर नीचे गिरने ही वाली थीं, पर क्रोध के कारण सँभल गई। सब लोगों के सामने श्रीरामजी के ये वचन सुन कर उन्हें इतना दुःख हुआ मानो सहस्रों छुरियाँ उन्हें

एकाएक भोंक दी गई हों, और उनकी आँखों से आंसू बहने लगे। पर, शीघ्र ही अपनी आंखें पोंछ कर गद्गद कण्ठ हो कर वे बोलीं:—"जिस प्रकार प्राकृत पुरुष अपनी प्राकृता स्त्री से अवमानना भरे वचन कहता है उसी प्रकार से वार वर श्रीरामचंद्रजी आपने ये कठोर वचन मुझे क्यों सुनाये ? मैं वैसी नहीं हूँ जैसी आप मेरे विषय में शंका कर रहे हैं। आप स्वयं ही उस बात की परीक्षा कर लें। आपको अपने बड़-प्पन की ही सौगन्ध है। हाँ, रावण मुझे उठा कर जरूर ले गया और उस समय उसका मुझे स्पर्श भी हुआ था, पर उस समय मैं तो लाचार ही थी। वह तो मेरे भाग्य का ही अपराध है। पर, मेरा हृदय मेरे हाथों में है; वह सिवा आपके अन्य किसी पुरुष की ओर कभी गया ही नहीं। वर्षों तक आपके साथ रहने पर भी यदि आप मेरे हृदय को नहीं परख सके तो ज्ञात होता है कि अब मेरा सदा के लिए ही नाश हो गया है। महाराज, उसी समय ही आपने मेरा त्याग क्यों नहीं कर दिया ? जिस समय हनुमानजी को आपने मेरी स्थिति देखने के लिए लंका में भेजा था, यदि आप वैसा करते तो मैं उसी समय उनके सामने अपने प्राण त्याग देती और इन असंख्य वीरों के प्राणों को संकट में डालने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। महाराज, आपने इस समय क्रोध के वशीभूत हो कर हमारे उस पवित्र पाणिग्रहण-विधि को बिलकुल भुला दिया। इतने दिन की मेरी भक्ति, मेरा प्रसिद्ध कुल, मेरा शील आदि बातों का तो आपने ख्याल भी नहीं किया।" यों कहते हुए शोकावेग के कारण सीताजी का कंठ रुक गया। वे अधिक कुछ भी न कह सकीं।

फिर जरा अपने आपको सँभाल कर वे आँसू भरे नेत्रों से लक्ष्मण की ओर मुड़ कर बोलीं:—"वत्स-लक्ष्मण, इस संकट से छुटकारा पाने का मुझे तो अब केवल एक ही उपाय दीख पड़ता है। तुम लकड़ी एकत्रित कर के चिता जलाओ। मैं उसमें कूद पड़ूँगी। यदि मैं शुद्ध हूँगी तो अग्नि-नारायण मुझे नहीं जलावेंगे और यदि पापिनी हूँगी तो मेरे लिए अग्नि में जल मरना ही उचित है।" यह सुन कर लक्ष्मणजी ने बड़े दीन-बदन हो कर श्रीरामजी की ओर देखा और जब उन्होंने भी संकेत द्वारा उन्हें आज्ञा दे दी, तब लक्ष्मणजी ने शीघ्र ही चंदन की लकड़ियों की एक चिता तैयार कर के उसमें आग लगा दी। उस समय किसी को भी हिम्मत नहीं होती थी कि वह श्रीरामजी की ओर देख भी ले, फिर उनसे सीताजी के विषय में कोई सिफारिश करना तो बहुत दूर की बात थी। उस समय वे काल की तरह भयंकर दिखाई देते थे। चिता के लगते ही सीताजी अधोबदन किये हुए श्रीरामजी की परिक्रमा कर के अग्नि के पास जा कर खड़ी हो गईं, और देवता तथा ब्राह्मणों को नमस्कार कर के हाथ जोड़ कर अग्नि से यों प्रार्थना करने लगी:—"हे अग्नि-नारायण, तुम सारे लोक के साक्षी हो। तुम मेरी रक्षा तभी करना यदि मेरा चित्त श्रीरामजी के अतिरिक्त अन्य किसी की ओर न गया हो। श्रीरामजी का ख्याल असत्य हो और मैं अपवित्र नहीं हूँ तो मेरी रक्षा करो।" इस प्रकार अग्नि की प्रार्थना कर के उसे परिक्रमा लगा कर वे निःशंक हृदय से उस जलती हुई चिता में कूद पड़ीं। उनके उस दुष्कर कर्म को देखने के लिए सहस्रों स्त्री-पुरुष एकत्रित हो गये थे। एकाएक बंदरों और राक्षसों के मुख से 'हाय हाय' शब्द

निकल पड़े और चारों ओर तहलका मच गया। पर उसी समय एक महान् आश्चर्य हो गया। एकाएक स्वयं अग्नि-पुरुष सीताजी का हाथ पकड़ कर चिता के बाहर आये और मध्यान्ह सूर्य की तरह तेजोमयी सुवर्ण के आभूषण और लाल वस्त्र पहिने दिव्य पुष्पमाला गले में धारण किये, काले केश धारण करने वाली और अनुपम सौंदर्यवती उन विशुद्ध सीताजी को श्रीरामजी के पास खड़ी कर के सर्वसाक्षी भगवान् पावक बोले:—"श्रीराम, लो अपनी सीताजी को सँभालो। यह अत्यंत शुद्ध और निष्पाप है। अब इनका पालन करो।" स्वयं अग्नि से सीताजी की पवित्रता का प्रमाण और आश्वासन मिलने पर श्रीरामजी को अवर्णनीय आनंद हुआ। कुछ देर तक तो वे तल्लीन हो गये फिर उन्होंने कहा:—"सीताजी के लिए यह दिव्य कार्य कर के दिखा देना आवश्यक ही था; क्योंकि दुष्ट रावण के अन्तःपुर में उनके बहुत दिनों तक रह लेने पर यदि मैं उन्हें पावन किये बिना ही अपने पास रख लेता तो लोग मुझे मूर्ख और काम-परायण ही कहते। मुझे यह भली-भाँति ज्ञात है कि सीताजी शुद्ध हैं और उनका मुझपर पूर्ण प्रेम है। इसीलिए ऐसी पतिव्रता स्त्रियों को उनके सद्गुणों के तेज के कारण अग्नि की ज्वाला की नाई पर पुरुष भी स्पर्श नहीं कर सकते। फिर भी लोकमत की ओर ध्यान देना आवश्यक था। आपने मुझे मेरी प्रिय भार्या को परीक्षा कर के लौटाया है; अतः अब तो वह मुझे तपे हुए सुवर्ण की नाईं और भी प्रिय होगी।" श्रीरामचंद्रजी यह कह रहे थे कि इतने में इन्द्रादि लोकपालों ने आकाश से श्रीराम-सीताजी पर पुष्पवृष्टि की और इन्द्र ने श्रीरामजी से कहा:—"श्रीराम, आपने रावण

को मार कर सारे देवताओं को भय से मुक्त कर दिया है और इन परम साध्वी सीताजी ने यह कठिन कार्य कर के तीनों लोक में अपनी अक्षयकीर्ति फैला दी है; इसलिए संतुष्ट हो कर हम तुम्हें दर्शन दे रहे हैं। श्रीराम, हमारे दर्शन कभी निष्फल नहीं होते। हम तुम्हें वर देना चाहते हैं, जो चाहे हमसे माँग लो। तब श्रीरामजी ने इन्द्र से यह वर माँग लिया कि 'रणभूमि पर मरे हुए सभी बंदरों और रीछों को आप जीवित कर दीजिये। इन्द्र ने 'धन्य धन्य' कह कर उन्हें बहुत सराहा और अपनी अमृत-मयी दृष्टि से मरे हुए सभी बंदरों और रीछों को जीवित कर दिया। इस प्रकार मरे हुए बंदर और रीछों को जीवित होते देख कर सुग्रीव, जाम्बवान् आदि सारे सरदार श्रीरामजी के आस-पास एकत्रित हो गये और उन्होंने बड़े आनन्द से गर्जना कर के श्रीरामजी का जय-जयकार किया। उस समय तो आनंद की परमावधि हो गई। श्रीरामचंद्र और सीताजी को जो आनंद हुआ वह तो केवल अवर्णनीय था। देवता भी तीनों लोक के शत्रु की मृत्यु के समाचार पा कर अत्यंत आनंदित हो गये। उन्होंने श्रीरामजी को अयोध्या को शीघ्र ही लौट जाने के लिए कहा और उनके आदरपूर्वक किये नमस्कार का ग्रहण कर के वे अदृश्य हो गये। अनंतर श्रीरामजी ने विभीषण, सुग्रीव, जाम्बवान् और हनुमान को अपने हृदय से लगा कर कहा कि आज आप सब विश्राम करें। (युद्ध० स० ११५-१२२)

उस रात को सभी सुख और आनन्द से सोये। दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही बिभीषण ने श्रीरामजी को उत्तम और सुगंधित वस्तुओं से मंगल स्नान कराने का प्रबन्ध किया और

श्रीरामजी से प्रार्थना की कि वे स्त्रियों द्वारा सीताजी को मंगल-स्नान कराने की आज्ञा दें। विभीषण ने सारे बन्दर सरदारों को भी नहाने की आज्ञा देने के लिए श्रीरामजी से प्रार्थना की। तब श्रीरामचन्द्रजी ने उत्तर दिया:—"विभीषण, मेरा दीन भ्रातृवत्सल भाई भरत नंदिग्राम में मुनिव्रत धारण किये मेरी राह देख रहा है। उसने प्रतिज्ञा की है कि 'यदि ठीक चौदह वर्ष के अन्त में आप न लौटेंगे तो मैं अपने प्राणों का त्याग दूंगा।' अतः मैं उसे मिलने के लिए बहुत आतुर हूँ। मैं जानता हूँ कि मेरा सत्कार करने की तुम्हें बड़ी इच्छा है, तथापि भरत से मिल कर उसे बिना मुक्त किये मुझे स्नानालंकार अच्छे नहीं लगेंगे। इसलिए अब तो हमारे जाने की शीघ्र तैयारी करो। तुम सुग्रीव आदि मित्रों को न्हिला कर उन्हींका सत्कार करो। उनका सत्कार मेरा ही सत्कार है।" यह सुन कर विभीषण ने कहा—"महाराज, आप पुष्पक विमान पर सवार होते ही आज ही अयोध्याजी को पहुँच जावेंगे; अतः वहां पहुँचने की कोई चिंता न कीजिए। महाराज, यहाँ पर लक्ष्मण और सीताजी सहित रह कर एक दिन तो मेरे सत्कार को ग्रहण कीजिये।" पर श्रीरामजी ने उन्हें युक्ति-पूर्वक समझा-बुझा कर पुष्पक विमान को जल्दी मंगाने की आज्ञा दी। आज्ञा पाते ही वह दिव्य विमान शीघ्र ही वहाँ पर आ पहुँचा। तब श्रीरामजी ने विभीषण से कहा:—"विभीषण, इन बन्दरों ने अपने प्राणों की भी परवा न करके युद्ध में अनेक पराक्रम किये हैं, इन्हींकी सहायता से तुम्हें राज्य मिला है; अतः मेरी इच्छा है कि तुम्हें धन-रत्नादि से इनका सत्कार करना चाहिए। राजा को चाहिए कि वह अपने प्राप्त धन से सेना को

हमेशा सन्तुष्ट रखे।" तब विभीषण ने अनेक रत्न और धन आदि दे कर उन सब का यथायोग्य सत्कार किया। फिर श्रीरामजी विमान में बैठ गये और सीताजी को भी अपने पास बिठा लिया तथा लक्ष्मणजी भी विमान में बैठ गये। अनन्तर श्रीरामजी सब से कहने लगे:—"सुग्रीव, विभीषण, हनुमान और जांबवान; तुम सब ने मिल कर इस मित्र-कार्य को अच्छी तरह से पूरा किया है; अतः तुम सब आनन्द पूर्वक अपने-अपने घर को जाओ।" तब सभी ने हाथ जोड़ कर कहा:—"महाराज, आप हमें अपने साथ अयोध्याजी को ले चलिये, हम आपके राज्याभिषेक को देख कर और भरत, शत्रुघ्न तथा माता कौशल्याजी से मिल कर अपने घर को चले जावेंगे।" उनकी इस प्रार्थना को सुन कर श्रीरामजी बहुत आनन्दित हुए, और उन्होंने उनकी प्रार्थना को मान कर सभी को अपने साथ विमान में बैठा लिया। जब सारे राक्षस और बन्दर आनन्द पूर्वक उस दिव्य विमान में बैठ गये तब श्रीरामजी की आज्ञा पाते ही वह विमान आकाश में उड़ा और उत्तर दिशा की ओर चला। उस समय श्रीरामजी सीताजी को भिन्न-भिन्न प्रदेश दिखा कर बोले:—"सीता, यह देखो, यहां पर कुंभकर्ण तुम्हारे लिये मारा गया था। वहां लक्ष्मणजी ने इन्द्रजित का वध किया था। यह देखो, सारी रण-भूमि राक्षसों के प्रेतों से भरी पड़ी है। इस त्रिकूट पर्वत पर बसी हुई लंका नगरी को देखो। इस स्थान को देखो, समुद्र लांघने पर बन्दर-सेना यहीं ठहरी थी, नल ने तुम्हारे लिये समुद्र में यह सेतु बनाया है। इस भयंकर, अपार और शंख-शुक्तियों से युक्त समुद्र को भी देखो। उस हिरण्यनाम पर्वत को देखो; जो हनुमानजी को

बिश्रांति देने के लिये समुद्र के बीच से बाहर निकला हुआ दिखाई दे रहा है। समुद्र के उत्तर तट वाले हमारे सेना निवेश को देखो? यहीं पर तो महादेवजी ने मुझपर कृपा की थी और यहीं से यह सेतु बनाया था; इसीलिए यह सेतुबन्ध तीर्थ प्रसिद्ध हुआ है। अब हम सुग्रीव की किष्किंधा नगरी तक आ पहुँचे हैं। उस दिव्य और सुंदर किष्किंधा नगरी को देखो।" तब सीताजी ने प्रार्थना की:—"महाराज, तारा और अन्य बन्दर-स्त्रियों को भी विमान में बैठा कर उन्हें भी अपने साथ ले चलने की मुझे बड़ी इच्छा है।" यह सुन कर श्रीरामजीने विमान को नीचे उतार दिया और सुग्रीव से अपनी सारी बन्दर स्त्रियों को ले आने के लिये कहा, तब सुग्रीव बड़े आनन्द से तारा सहित सारी बन्दर-स्त्रियों को, उत्तमोत्तम आभूषण पहिना कर, विमान के पास ले आये। विमान में बैठ कर, उन सब ने सीताजी के दर्शन करके उन्हें नमस्कार किया और विमान पुनः आकाश में उड़ने लगा। तब श्रीरामजी ने ऋष्यमूक पर्वत के पास सीताजी से कहा:— "सीता, यही वह ऋष्यमूक पर्वत है जहांपर सुग्रीव से मेरी भेंट हुई, और मैंने बाली को मार डालने का बचन दे कर सुग्रीव से मित्रता की थी। इस सुंदर पंपा सरोवर को तो देखो। मैंने यहाँ पर तुम्हारे लिये कितना शोक किया था। यही वह पंचवटी और रमणीय गोदावरी नदी है। इसी बड़े वृक्ष पर जटायु बैठा था और यहीं से उसने रावण से युद्ध करके, तुम्हारे लिये, अपने प्राण त्याग दिये थे। सीता, उस कदली वृक्षों से युक्त ऋषि अगस्तजी के आश्रम को देखो। यह देखो, यहां पर हमने विराध राक्षस को मारा था। अब तो चित्रकूट भी आ गया।

पुण्य-सलिला माता गंगाजी को प्रणाम करो। यह भरद्वाज का आश्रम है और वह शृंगवेरपुर दिखाई दे रहा है! उसके दूसरी ओर अयोध्याजी दिखाई देती है। सीता, हमारी पुण्य पितृभूमि अयोध्या को नमस्कार करो; इस पुण्यभूमि में हम चौदह वर्षों पश्चात् लौट रहे हैं।" तब सीताजी ने बड़ी उत्सुकता से अयोध्या को नमस्कार किया। यह देख कर बन्दर और राक्षस, स्त्री और पुरुष सभी बड़े कौतुक से खड़े हो-हो कर अयोध्याजी को देखने लगे। इतने में श्रीरामचन्द्रजी ने विमान को नीचे उतरने की आज्ञा दी, और वे भरद्वाज ऋषि के आश्रम में जा पहुँचे। सभी लोगों ने विमान से उतर कर भरद्वाज मुनि के दर्शन किये। तब श्रीरामजी ने उनसे अयोध्या के कुशल समाचार पूछे। ऋषि भरद्वाजजी ने अयोध्या के कुशल समाचार सुनाये और उन्हें उस दिन वहीं पर रह कर, दूसरे दिन भरतजी से मिलने के लिये कहा। तदनुसार वे उस दिन वहीं पर रहे। भरद्वाजजी ने सब का आतिथ्य किया और सभी ने बड़े प्रेम और आदर से उसको स्वीकार किया।

(युद्ध० सर्ग० १२३—१२६)

भरतजी को पहले ही से सूचित कर देने तथा उनके मन की परीक्षा लेने के लिए श्रीरामजी ने हनुमानजी से कहा कि:—"पहिले शृंगवेरपुर जा कर निषाद से मेरे समाचार कहो। वह मेरा परम मित्र है। अनंतर नंदिग्राम में जाओ और भरत से मिल कर उसे सारा हाल कहो तथा उसके चित्त की परीक्षा भी कर लो। क्योंकि संभव है, चौदह वर्ष तक राज्य-सुख का अनुभव लेने पर राज्य को त्याग देना उसके लिए जरूर बड़ा कठिन कार्य होगा। भरत जैसे असीम प्रेम करने वाले भाई के दिल में

भी लोभ उत्पन्न हो जाना असंभव नहीं है। इसलिए उनके मन की तथा उनके बदन पर दिखाई देने वाले मनोविकार की स्थिति को ध्यान से देखना।" इस प्रकार श्रीरामजी की आज्ञा पाकर हनुमानजी गरुड़ की नाई वहाँ से चल दिये। वे पहले शृंगवेर-पुर को पहुँचे और उन्होंने गुह से, श्रीरामजी के भरद्वाज आश्रम को आ जाने के समाचार कहे। यह आनंद वार्ता सुन कर गुह को अपार आनंद हुआ। उसने हनुमानजी को अपने हृदय से लगा कर श्रीरामजी के कुशल समाचार पूँछे। तब उन्होंने सारा हाल सुन कर कहा कि नौका तैयार करने को कोई जरूरत नहीं है। क्योंकि श्रीरामजी पुष्पक-विमान में बैठ कर आ रहे हैं। अनंतर हनुमानजी नंदिग्राम को पहुँचे और मनुष्य का रूप बनाकर भरतजी से मिले। उपवास के कारण उनका शरीर कृश हो रहा था, मुख मलीन था और सिर पर जटाएँ बढ़ी हुई थीं। भरतजी को इस तरह देख कर उन्हें मालूम हुआ मानों प्रत्यक्ष धर्म ही शरीर धारण कर के वहाँ पर बैठे हैं। भरतजी के इस अपूर्व और असीम बंधु-प्रेम को देख कर हनुमानजी अत्यंत आनन्दित हुए। उनसे हाथ जोड़ कर वे बोले:—"श्रीरामचन्द्रजी रावण का वध कर के सुखपूर्वक लौट आए हैं।" इन अमृत के समान शब्दों को सुनते ही वे हर्षोन्माद के कारण, एकदम मूर्च्छित हो कर पृथ्वी पर गिर पड़े और कुछ देर में सचेत हो कर उन्होंने हनुमानजी को अपने हृदय से लगा लिया तथा आनन्द की अश्रु-धाराओं से उन्हें भिगो दिया। फिर वे बोले:—"चाहे तुम देवता हो या मनुष्य; मैं तुम्हें इन प्रिय समाचारों को सुनाने के बदले सहस्र गौएँ और सौ गाँव इनाम देता हूँ।" अनन्तर उन्होंने शत्रुघ्न

जी से वे शुभ समाचार सारे नगर में फैलाने, तथा नगर को शीघ्र ही सजाने तथा राजमाता और गुरु वशिष्ठजी को वहाँ पर ले आने के लिए कहा। फिर भरतजी ने हनुमानजी से उनका नाम, स्थान आदि पूँछ कर श्रीरामजी के समाचार पूँछे। तब हनुमानजी ने जिस दिन श्रीरामजी ने चित्रकूट पर्वत को छोड़ा था, उस दिन से लगा कर रावण को मारने, विभोषण को लंका का राज्य सौंपने तथा सुग्रीव, विभोषण आदि सहित भरद्वाज ऋषि के आश्रम को वापिस लौट आने तक के सारे समाचार कह सुनाये और यह भी कहा कि अब शीघ्र ही राम, लक्ष्मण और सीताजी पुष्पक विमान में बैठ कर यहाँ पर आ पहुँचेंगे। शीघ्र ही नगर-निवासी उत्तमोत्तम वस्त्र और आभूषण पहिन कर और अपने-अपने वैभव के अनुसार हाथी घोड़ों पर बैठ कर चौदह वर्षों के अनन्तर लौटे हुए अपने प्रिय और पराक्रमी रावणान्तक राजा रामचन्द्र को देखने के लिए गांव के बाहर आए। राजा दशरथ की सारी स्त्रियाँ भी माता कौशल्याजी को आगे करके वहाँ पर गईं। भरतजी भी श्रेष्ठ ब्राह्मणों तथा नगर के मुख्य-मुख्य नागरिकों और मंत्रियों को अपने साथ लेकर नंदिग्राम से श्रीरामजी का स्वागत करने के लिए आ पहुँचे। तब सैकड़ों बाजे और नक्कारे बजने लगे। सभी अपने-अपने हाथों में पुष्प, अक्षत (चाँवल) आदि मंगल वस्तुएँ लिए हुए थे। भरतजी के शिर पर श्रीरामचन्द्रजी की चरण पादुका और हाथ में श्वेत राजछत्र और चँवर थे। इस प्रकार भरत अयोध्या-निवासी प्रजा जन सहित श्रीरामजी की अगुवानी के लिए तैयार खड़े थे। तब हनुमानजी ने बहुत दूर पुष्पक-विमान को आकाश में देख

कर उसे भरतजी को बतलाया। लाखों मनुष्यों के मुंह से एकाएक जोर से "श्रीरामचन्द्रजी आ गये" यह आनन्दोद्गार निकल पड़ा, और उनके जयघोष से आकाश गूंज उठा। ज्यों-ज्यों वह अत्यन्त सुंदर रत्नजटित सुवर्ण-विमान धीरे-धीरे नजदीक आया, त्यों-त्यों श्रीरामजी का चन्द्रमा के सदृश मुख सब लोगों को दिखाई दिया। उस समय ऐसा मालूम हुआ, मानों पूर्णिमा के चन्द्रमा का ही आकाश में उदय हुआ हो। सभी लोगों ने श्रीरामचन्द्रजी को प्रणाम किया। विमान ज्योंही भरतजी के निकट आया त्यों ही उन्होंने श्रीरामचन्द्रजी को पृथ्वी पर साष्टांग दण्डवत किया। जब वह विमान नीचे उतरा, तब श्रीरामचन्द्रजी ने भरतजी को भी विमान में बिठा लिया। उस समय भरतजी ने श्रीरामजी के चरणों पर अपना शिर रक्खा। तब श्रीरामचन्द्रजी ने कहा:—'भरत, तुम मेरी चिंता के कारण कितने दुबले हो गये हो' ? और उन्हें अपने हृदय से लगा लिया। अनन्तर भरतजी ने सीताजी को प्रणाम किया और लक्ष्मणजी को गले लगा लिया। सुग्रीवादि सभी बन्दरों ने मनुष्य के रूप बनाये थे; अतः भरतजी ने उन सभी को अपने गले लगा कर उनकी कुशल पूंछी। अनन्तर श्रीरामजी और अन्य सभी लोग विमान से नीचे उतरे और उन्होंने माता कौशल्याजी को प्रणाम किया। उन वृद्धा माताजी की प्रेम रूपी अश्रुधाराएँ अमृत की वर्षा की तरह श्रीरामचन्द्रजी के शिर पर गिरीं! अनन्तर श्रीरामजी ने अन्य माताओं की वन्दना करके गुरु वशिष्ठजी के चरणों पर शिर नँवाया। फिर वे मंत्रीगण और प्रजाजनों से मिले। सीताजी के प्रणाम करते समय तो माता कौशल्याजी ने

उन्हें अपने हृदय से लगा लिया। जब तारा प्रभृति बन्दर-स्त्रियों ने भी राज-माताजो को प्रणाम किया, तब सीताजी उन्हें उन सबका परिचय कराती गईं। इस प्रकार उस समय वहाँ पर तो प्रेम का समुद्र ही उमड़ आया! राजा-प्रजा, माता-पुत्र, सास-बहू भाई-भाई, गुरु-शिष्य, मित्र-मित्र और उनकी स्त्रियाँ आदि सब की वर्षों में भेंट होने पर इस तरह प्रेम का उमड़ना सर्वथा योग्य ही तो था। फिर श्रीराम तथा सीताजी जैसे, अपने आंतरिक गुणों के कारण सबके मनको आकर्षित करने वाले अवतारी मनुष्य, चौदह वर्ष तक दृष्टि की ओट में रह कर अब लोगों के दृष्टिगोचर हुए थे, अतः उस समय यदि प्रेम का प्रवाह वर्षाकाल के समुद्र की असंख्य लहरों की तरह, बहुत देर तक उमड़ता रहे तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है! अस्तु! सब से मिलाप हो जाने पर भरतजी ने श्रीरामजी की चरण-पादुकाएँ उनके पाँवों में पहिना कर कहा:—"महाराज, चौदह वर्ष तक इस धरोहर की मैंने चिंतापूर्वक रक्षा की है; अतः इसे पुनः आपको सौंप कर तथा आज आपको अयोध्या के राजा बने हुए देख कर मैं कृतार्थ हो गया हूँ। मैंने आपके राज-काज को किस प्रकार निभाया; इसका परिचय कराने के लिए मैं आज दसगुना कोष आपको सौंपता हूँ। आप कोषागार देख लीजिये।" इस प्रकार भरतजी के निःसीम भ्रातृ-प्रेम और निरपेक्षता को देख कर बंदरों और विभीषण की आँखों से आँसू की धाराएँ बह निकलीं। तब भरतजी ने हाथ जोड़ कर श्रीरामचन्द्रजी से प्रार्थना की कि आप आज ही अयोध्या को चल कर राज्याभिषेक करा लीजिए, जिससे हम सबको बड़ा आनंद होगा। तब श्रीरामजी ने उनकी

प्रार्थना को मान लिया। और फिर उस पुष्पक विमान को अपने स्वामी कुबेर की ओर जाने की आज्ञा देने पर, वह उत्तर दिशा की ओर चल दिया। (युद्ध० स० १२८–१२९)

अनन्तर श्रीरामजी सबको अपने साथ ले कर नन्दिग्राम को पहुँचे। तब मंत्रियों ने भरतजी की जटा निकलवा कर उन्हें मांगलिक स्नान कराया। फिर लक्ष्मणजी की भी जटा निकलवा कर उन्हें भी तथा सारे बंदरों को भी मंगल स्नान कराया गया। अनन्तर श्रीरामचन्द्रजी को भी दिव्यासन पर बिठला कर उनका जटाभार निकलवा कर और सुगंधित उबटन उनके शरीर में मल कर नहलाया। उधर माता कौशल्याजी ने भी बड़े प्रेम से सीताजी तथा सभी बंदर-स्त्रियों को स्नान कराया और सभी को उत्तमोत्तम वस्त्र दिये। श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण और भरतजी को भी अच्छे वस्त्र और आभूषण पहिनने के लिए दिये गये। तब सुमंत रत्नों से सजे हुए आठ घोड़ों के एक रथ को ले आए। उस समय श्रीरामचन्द्रजी उसपर चढ़ गये और स्वयं भरतजी रथ को चलाने लगे। शत्रुघ्न ने श्रीरामचन्द्रजी पर छत्र ताना और विभीषण ने चँवर लिया। लक्ष्मण और सीताजी भी श्रीरामजी के पास रथ में बैठ गये तथा सुग्रीवादि वीर और मंत्रीगण हाथियों पर सवार हुए। इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी ने लाखों मनुष्यों से बसी हुई और हजारों तोरणों से सजी हुई अयोध्या नगरी में प्रवेश किया। तब सभी लोग श्रीरामजी का जय-जयकार करने लगे। नगर की स्त्रियाँ बड़ी उत्सुकता से श्रीसीताजी व अन्य बंदर-स्त्रियों को देखने के लिए अपने-अपने भवनों के झरोखों में बैठ कर श्रीरामजी पर फूल बरसाने लगीं। इस प्रकार श्रीराम-

जी की सवारी राजमहल के पास पहुँचते ही वे रथ से उतर पड़े। सुवर्ण कलश ले कर स्त्रियों के श्रीराम-लक्ष्मण और सीताजी का स्वागत करने पर उन्होंने राजमहल में प्रवेश किया। तथा भरत-जी से सुग्रीवादि मिहमानों को अपने महल में ठहराने के लिए कहा। इस प्रकार उन्हें वहाँ पर ठहरा कर भरतजी ने सुग्रीव को चार सुवर्ण कलश दे कर कहा:—"अपने किन्हीं बलवान् बंदर वीरों को भेज कर शाम होने के पहले चार समुद्रों का जल मँगवा लो; क्योंकि समुद्र-जल के बिना राज्याभिषेक नहीं हो सकता।" यह सुन कर सुग्रीव ने वैसे ही चार बन्दरों को समुद्र का जल लाने के लिए भेज दिया। इधर श्रीरामचंद्रजी ने कौशल्या माता-जी को प्रणाम कर के मुख्य राजमहल में प्रवेश किया। सायं-काल तक राज्याभिषेक की सारी तैयारियाँ हो गई। तब वसिष्ठ प्रभृति ऋषि, मनु से लगा कर उस दिन तक के इक्ष्वाकु-वंश के राजाओं का जिस दालान में राज्याभिषेक किया गया था, वहाँ उन्हें ले गए और उन्होंने श्रीराम-सीताजी को उस परम्परागत महान् सिंहासन पर बैठाया। वसिष्ठजी ने समुद्र जल से उन्हें अभिषेक करा के मनु आदि राजाओं का पहिना हुआ और स्वयं ब्रह्माजी का निर्माण किया हुआ रत्न-जटित किरीट श्रीरामचन्द्रजी को पहिनाया। तब सभी लोगों ने जय जयकार किया और मंगल-वाद्य बजने लगे। वसिष्ठजी ने श्रीरामजी को राज्यालंकार पहि-नाए, शत्रुघ्न ने उनपर श्वेत छत्र तान दिया, एक चँवर सुग्रीव ने उठा लिया और दूसरा विभीषण ने। अनंतर श्रीरामचंद्रजी ने तीस करोड़ सुवर्ण मुद्राएँ ब्राह्मणों को दक्षिणा में दीं, मंत्रियों को वस्त्र और आभूषण दिये तथा सुग्रीव, विभीषण जाम्बवान् और हनु-

मानजी आदि मिहमानों को भी रत्नादि दे कर विभूषित किया। फिर उन्होंने सीताजी को मोतियों का हार और अनेक आभूषण दे कर दिव्य वस्त्र भी दिये। तब सीताजी ने अपने गले में पहिने हुए हार पर हाथ रख कर बड़े कौतूहल से सारे बन्दरों की ओर और फिर श्रीरामजी की ओर देखा। तब श्रीरामचन्द्रजी ने उनके हृदय की बात मालूम कर के बड़े प्रेम से कहा:—"तुम्हारी इच्छानुसार तुम चाहे जिसको यह हार दे सकती हो।" यह आज्ञा पा कर सीताजी ने अपने गले का हार निकाल कर हनुमानजी को अपने पास बुला कर कहा कि तुम में बल, बुद्धि, पराक्रम, धैर्य, विनय और जय सर्वदा वास करते हैं" और वह हार उनके गले में पहिना दिया। यह देख कर सारे सभाजनों ने हनुमानजी का जय जयकार किया। अस्तु। इस प्रकार सभी के लिए वह दिन अपरिमित उत्सव और आनन्द से बीता। नगर-निवासी बन्दरों के पराक्रम को सुन कर बड़े आश्चर्य-चकित हुए। विभीषण, सुग्रीव, हनुमान्, जाम्बवन्त, नल, नील, अंगद, मयंद, द्विविद आदि थोड़े दिनों तक वहीं रहे। अनन्तर श्रीरामचन्द्रजी ने उन सबको यथायोग्य रीति से अपने-अपने घर को बिदा कर दिया। फिर श्रीरामचन्द्रजी अयोध्या में अच्छी तरह से राज-काज देखने लगे और सारी प्रजा सुख और आनंद से रहने लगी। राम-राज्य शुरू होने पर अब विधवाओं का दिखाई देना बन्द हो गया। साँप और रोगों का भय जाता रहा, चोरी का नाम निशान तक नहीं रहा तथा सभी प्रकार के अनर्थ नष्ट हो गए। अब वृद्ध पुरुषों को बालकों के प्रेत-कार्यकरने के कुप्रसंग भी बन्द हो गए। और श्रीरामचन्द्रजी की धर्मपरायण-वृत्ति को देख

कर लोग स्वयं भी धर्मपरायण बन गए। फल, पुष्प, धन, धान्य आदि की सर्वदा समृद्धि होने लगी और वर्षा भी यथा-समय होने लगी। इस प्रकार सारे राज्य में सुख और नीति का उत्कर्ष हो कर प्रजा आनन्दित हो गई। श्रीरामचन्द्रजी ने भी दशभूरि-दक्षिण अश्वमेध कर के अक्षयकीर्त्ति प्राप्त की। इस प्रकार दस हजार दस वर्ष तक राज्य कर के श्रीरामचन्द्रजी वैकुंठ को पधारे। वाल्मीकि कृत इस धन्य और यशस्कर रामायण काव्य को जो कोई पढ़ेगा या सुनेगा, उसको सभी प्रकार के संकटों से रक्षा होगी।

(युद्ध० स०-१३०)

उत्तर कांड

जब श्रीरामचन्द्रजी अयोध्या को लौट कर, राज्याभिषिक्त हो, राज करने लगे, तब एक दिन चारों ओर के ऋषि श्रीरामचन्द्रजी का अभिनन्दन करने के लिए अयोध्याजी गये। उत्तर के विश्वामित्र, कश्यप, वसिष्ट, अत्रि, गौतम, जमदग्नि और भरद्वाज; दक्षिण के आत्रेय, नमुचि, अगस्त्य, सुमुख और विमुख; पूर्व के कौशिक, यवक्रीत, गार्ग्य, गालव, कण्व, मेधातिथिपुत्र आदि तथा पश्चिम के वृषंगु, कलषी, धौम्य, कौतिय आदि ऋषि अपने-अपने शिष्यों सहित जब राजसभा में पहुँचे, तब श्रीरामचन्द्रजी ने उठ कर उनका स्वागत किया। उन्हें उत्तम आसनों पर बैठा कर उनकी मधुपर्क से यथावत् पूजा की, और हाथ जोड़ कर सब की कुशल पूछी। ऋषि बोले:—"श्रीराम, हम सब कुशल से हैं और आपको सकुशल देख कर हमें आनन्द होता है। सचमुच यह बड़े ही आनन्द की बात है कि तीनों लोक को कष्ट देनेवाले भयंकर राक्षस रावण को जीत कर आपने उसे स्वर्ग को भेज दिया, उस कठिन कार्य को पूरा करके आप अयोध्या लौट आए; आपने प्रहस्त, विरूपाक्ष आदि राक्षसों को मारा पर उसपर इतना आश्चर्य हमें नहीं होता। आश्चर्य तो हमें कुंभकर्ण के समान बलशाली राक्षस के वध पर होता है जिसके समान बलशाली राक्षस आजतक संसार में उत्पन्न ही नहीं हुआ। सचमुच यह आपका एक महान् कार्य है। सचमुच

ही आपने बड़ा कार्य किया है। और सब से अधिक आश्चर्य होता है हमें इन्द्रजित के वध पर क्योंकि रावण तथा कुंभकर्ण की अपेक्षा उसे जीतना अत्यन्त कठिन कार्य था। अस्तु। आप उन भयंकर शत्रुओं को मार कर कुशल पूर्वक लौट आये हो; अतः आपकी सर्वदा जय होवे।" यह सुन कर श्रीरामचन्द्रजी ने ऋषियों से पूछा कि महाराज आप इन्द्रजित का इतना अधिक महत्व क्यों दे रहे हैं? तब अगस्त्य मुनि ने राक्षसों का सारा हाल श्रीरामचन्द्रजी से कहा। अगस्त्य ऋषि दक्षिण के ही निवासी थे अतः कहने की आवश्यकता नहीं है कि उन्हें राक्षसों के विषय में सारी बातें मालूम थीं। उन्होंने कहा:—

जब ब्रह्माजी ने समुद्र को निर्माण किया, तब उसकी रक्षा करने के लिए उन्होंने दो जातियां उत्पन्न कीं। एक यक्ष और दूसरी राक्षस। राक्षसों के दो नेता थे; हेति और प्रहेति। प्रहेति विरक्त था, अतः वह तपस्वी बन गया; और हेति ने राक्षसों के राज्य की स्थापना कर दी। उसे 'काल' की भगिनी 'भामा' से विद्युत्केश नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। हेति ने विद्युत्केश का विवाह संध्या की पुत्री सालकंटंकटा के साथ कर दिया। इस सम्बन्ध से विद्युत्केश के सुकेश नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। सुकेश को देववती नामक एक गंधर्व कन्या से तीन पुत्र हुए— माल्यवान्, सुमाली और माली! उन तीनों ने मेरु पर्वत पर बड़ा कठिन तप किया, और ब्रह्माजी ने प्रसन्न हो कर उन्हें वर दिया कि तुम्हें कोई भी शत्रु न जीत सकेगा और तुम दीर्घजीवी होगे। पर इस वर के कारण वे उन्मत्त हो गये। और देव-दानवादिकों को कष्ट पहुँचाने लगे। उन्होंने विश्वकर्मा के द्वारा अपने

लिए त्रिकूट पर्वत की चोटी पर एक अत्यन्त सुंदर और विस्तीर्ण पुरी बनवाई। तब माल्यवान्, सुमाली और माली सुवर्ण तट से घिरी हुई उस लंका नगरी में रह कर राक्षसों पर राज्य करने लगे। नर्मदा नामक एक अप्सरा ने अपनी तीन कन्याएँ उन तीनों भाइयों को ब्याह दीं। यथा समय माल्यवान के वज्रमुष्टि विरूपाक्ष, दुर्मुख आदि सात पुत्र और अनला नामक एक कन्या उत्पन्न हुई। सुमाली को प्रहस्त, अकंपन, और धूम्राक्ष आदि दस पुत्र और राका, पुष्पोत्कटा, कैकसी और कुंभीनसा नामक चार कन्याएं उत्पन्न हुई। माली के अनल, अनिला, हर और संपाति नामक चार पुत्र हुए। यही बिभीषण के चार सारथी थे। इनके साथ आपकी शरण आये थे, लंका का राज्य करते हुए इन तीनों भाइयों ने सारी पृथ्वी का राज्य प्राप्त कर लिया। पर उससे भी उन्हें तृप्ति न हुई। वे अब देवताओं पर चढ़ाई करने लगे। बल्कि ब्रह्माजी के वर से उन्मत्त हो कर उन्होंने तो वैकुण्ठ पर तक चढ़ाई कर दी। तब नारायण ने अपने चक्र से माली का सिर उड़ा दिया। राक्षसों ने भी बड़ा पराक्रम किया, पर जब श्रीविष्णु के चक्र और गरुड़ के पंखों के आवेग से सहस्रों राक्षस मरने लगे, तब माल्यवान् और सुमाली वहाँ से भाग गये। फिर इन्होंने श्रीविष्णु के भय से लंका को भी छोड़ दिया और रसातल में जा कर रहने लगे। उस समय लंका कुछ काल तक वीरान हो गई।

प्रजापति के मानस पुत्र पुलस्त्य ऋषि का विवाह तृणबिंदु राजा ने अपनी कन्या के साथ कर दिया था। उन्हें उसके द्वारा विश्रवा नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। विश्रवा अपने पिता की ही

तरह महान् तपस्वी था। भरद्वाज ऋषि ने उसे अपनी कन्या अर्पण की। इस कन्या से उसे जो पुत्र उत्पन्न हुआ, वह अत्यंत भाग्यशाली और तपस्वी था। तब ब्रह्माजी ने उसे देवताओं का धनाध्यक्ष नियत करके लोकपाल बना दिया। वह विश्रवस् का पुत्र था, अतः वैश्रवण कहलाने लगा। इसके अतिरिक्त कुबेर, धनद, आदि भी उसी के नाम थे। राक्षसों ने लंका को त्याग दिया था; अतः वह निर्जन हो गई थी। यह देख पिता ने वह नगरी उसे सौंप दी। कुबेर तो सारे धन का अधिपति बन गया था; अतः सुवर्णमय लंका नगरी का स्वामित्व भी उसीको सौंपा गया। इस प्रकार कुबेर लंका में रह कर यक्षों का राज करने लगा। जब ब्रह्माजी ने कुबेर को लोकपाल बनाया, तब उसे पुष्पक नामक विमान भी दिया गया। उसमें बैठ कर वह इन्द्र की नाईं सारे लोकों में घूमता था और कभी-कभी अपने पिता पौलस्त्य अथवा विश्रवा ऋषि के दर्शन के लिए मेरु पर्वत पर भी जाया करता था। (उत्त० स० १—८)

एक समय सुमाली राक्षस अपनी कुमारी कन्या कैकसी के लिए योग्य वर ढूंढ़ने के प्रीत्यर्थ उसे अपने साथ लेकर पाताल से मृत्यु-लोक को आया। उस समय कुबेर पुष्पक विमान में बैठकर लंका से अपने पिता की ओर जाता हुआ उसे दिखाई दिया। तब कुबेर का वैभव देखकर अपनी हीन स्थिति के विषय में उसे बड़ा खेद हुआ, और वह अपनी कन्या से बोला:— बेटी, इस कुबेर को अपने पिता की कृपा से कैसा वैभव प्राप्त हुआ है? तूने भी हमारे वंश में जन्म लिया है अतः तू भी हमारे कुल का उद्धार करेगी तो सचमुच ही तेरा इस कुल पर

बड़ा उपकार होगा। इसलिए तू विश्रवा ऋषि को अपनी तपस्या से संतुष्ट करके उनके साथ विवाह कर और उनसे कुबेर के सदृश पुत्र पाने की इच्छा प्रकट कर, जिससे वे राक्षसों को फिर से वैभव प्राप्त करा देंगे।" तब कैकसी ने पिता की आज्ञा मान ली और वह विश्रवा ऋषि के आश्रम में चली गई। उसने अपने तप से ऋषि को संतुष्ट करके उनसे कुबेर के सदृश तेजस्वी पुत्र पाने की इच्छा प्रकट की। दुष्ट लोगों का आचरण अच्छा होने पर भी, उनके उद्देश बुरे होने से, वे कभी पूर्णतया सफल मनोरथ नहीं होते, अतः जिस समय कैकसी ने विश्रवा ऋषि से पुत्र पाने की इच्छा प्रकट की, वह भयंकर संध्या समय था। ऋषि ने उसकी बात को मान तो लिया, पर कहा कि 'तूने बड़े बुरे समय यह वर मांगा है; अतः तुझे भयंकर पुत्र होंगे। पर, जब उसने फिर से हाथ जोड़ कर ऋषि से प्रार्थना की, तो इन्होंने यह कहकर उसका समाधान कर दिया कि 'तुझे एक सद्गुण संपन्न पुत्र भी होगा'। तदनुसार कैकसी को विश्रवा ऋषि से पहली बार दशग्रीव राक्षस उत्पन्न हुआ। उस समय सैकड़ों भयसूचक बुरे शकुन हुए। दूसरा पुत्र अत्यन्त प्रचंड था, जिसका नाम कुम्भकर्ण रक्खा गया। तीसरी संतति कन्या थी* शूर्पणखा और चौथा पुत्र विभीषण। जब ये चारों बालक अपने पिता के आश्रम में रहने लगे, तब आश्रम के तथा उसके आसपास के लोगों को बड़ा कष्ट होने लगा। कुम्भकर्ण तो कभी-कभी मुनियों के बालकों को भी मार डालता था। एक दिन जब कुबेर अपने विमान में

* महाभारत में लिखा है कि शूर्पणखा रावण की सौतेली भगिनी थी।

बैठकर पिता के दर्शन करने के लिए गया, तब कैकसी ने अपने पिता के कथन का स्मरण करके दशग्रीव से कहा:—"बेटा देखो, तुम्हारा भाई कुबेर अपने पराक्रम और कर्त्तव्य-पालन करने से किस उच्च पद तक जा पहुँचा है ? अतः यदि तुम भी इसीके सदृश पराक्रम बतला कर वैभव प्राप्त कर लोगे, तभी तुम अपने पिता के सच्चे पुत्र कहलाओगे।" इस प्रकार अपनी माता के मर्मभेदक उपदेश और उत्साहित करनेवाले वचन सुनकर उन तीनों भाइयों ने तपस्या करना आरम्भ कर दिया। उनमें से दशग्रीव ने तो दस हजार वर्षों तक निराहार खड़े रह कर तपस्या की; और प्रत्येक सहस्र वर्ष के समाप्त होते ही अपने शिरों में से एक एक शिर काट कर वह अग्नि को समर्पण कर दिया करता था। इस प्रकार नौ सहस्र वर्षों तक तपस्या करके उसने अपने नौ शिर अग्नि को समर्पण कर दिये। पर दस हजार वर्ष पूर्ण हो जाने पर जब वह अपना दसवाँ सिर भी काटने लगा, तब ब्रह्माजी ने प्रसन्न हो कर वर माँगने की आज्ञा दी। दशग्रीव ने मृत्यु का डर मिट जाने के उद्देश से अमरत्व मांगा पर ब्रह्माजी ने कहा 'तू अमर नहीं हो सकता; कोई दूसरा वर माँग।' तब उसने यक्ष, राक्षस, गंधर्व, पिशाच, नाग, असुर, देव, दानव के हाथ अपनी मृत्यु न होने का वर माँग लिया और कहा कि मनुष्यों से से तो मुझे जरा भी डर नहीं है। ब्रह्माजी ने 'तथास्तु' कह कर यह भी कहा कि तेरे हवन किये हुए सारे शिर फिर से तुझे प्राप्त हो जावेंगे और तेरे सारे मनोरथ पूर्ण होंगे। इस प्रकार और भी वर देकर ब्रह्माजी ने उसे संतुष्ट कर दिया। इसके बाद वे विभीषण के पास गये और उसे वर माँगने के लिए कहा। उस

धर्मात्मा ने यह वर माँग लिया कि 'किसी भी समय मेरी धर्म बुद्धि विचलित न होने पावे।' सब लोग उसकी धर्म-शीलता की प्रशंसा करने लगे। ब्रह्माजी ने विभीषण को इस वर के साथ साथ अमरत्व भी प्रदान कर दिया। इस प्रकार दोनों को वर देकर ब्रह्मदेव ने मानों यह स्पष्टतया सूचित कर दिया कि बुरे की मौत निश्चित है। अब ब्रह्माजी कुम्भकर्ण की ओर मुड़े और उसे उन्होंने वर माँगने के लिये कहा। यह देख सारे देवता उनसे प्रार्थना करने लगे कि महाराज यह तो बिना वर के ही न जाने कितने मनुष्यों को रोज खा डालता है, वर प्राप्त कर लेने पर तो यह और भी बलवान् हो जायगा और सभी लोगों को खा डालेगा। इसलिए महाराज कृपा करके इसे वर न दीजिये।' पर, ब्रह्माजी तो उसे वर मांगने के लिए कह चुके थे। और अब वे अपने शब्दों को वापिस लेना नहीं चाहते थे। उन्होंने उसकी इच्छा को तृप्त करना ही योग्य समझा, सरस्वती की प्रार्थना करके उसे कुम्भकर्ण की जिह्वा पर बिठाकर उससे कोई अच्छा सा वर मांग लेने के लिए जरूर सूचित कर दिया। सरस्वती ने वही किया जिससे कुंभकर्ण के मुंह से निकल गया। "मुझे वर्षों तक गाढ़ निद्रा का आनन्द प्राप्त होता रहे" ब्रह्माजी ने भी तथास्तु कह दिया। इस प्रकार उन तीनों भाइयों ने तपस्या करके ब्रह्माजी से अभीष्ट वर प्राप्त कर लिये और आश्रम को लौट कर अपनी माता से सारा हाल कह सुनाया। (उत्त० स० ९–१०)

यहाँ पर यह शंका की जा सकती है कि ब्रह्माजी ने उन दुष्टों को वर क्यों दिये ? अतः उसके रहस्य के विषय में भी कुछ विचार करना आवश्यक है। बल प्राप्त करने के लिए तप के

अतिरिक्त और कोई दूसरा साधन हई नहीं, इसी सिद्धांत को यहाँ पर प्रकट किया गया है। शरीर को कष्ट देकर व्रतादि नियमों से चित्त की एकाग्रता करके, ईश्वर की आराधना करना ही तपस्या है। और तप से बल की प्राप्ति तो अवश्य ही होती है, फिर चाहे तप करनेवाला सज्जन हो या दुर्जन। रसोई बनाने पर पाक-निष्पत्ति अवश्य होती है, फिर चाहे रसोइया चोर हो या भला आदमी; उसी प्रकार यदि दुष्ट लोग भी तप करें तो उन्हें भी परमात्मा की ओर से उसका पुरस्कार अवश्य ही मिलता है। अत: हमें जहाँ कहीं बल का दर्शन होता है, वह अवश्य ही तप का फल होता है। तप के ही कारण दुष्ट बलवान् होते हैं। पर, वे अपने बल का बुरा उपयोग करते हैं जिससे धीरे-धीरे वह नष्ट होता जाता है। अच्छे लोगों की तपस्या तो सर्वदा जारी रहती है; इसीसे उनका बल बढ़ता रहता है। सारांश इसमें संदेह नहीं कि बल तो तपस्या का ही फल होता है, इस सिद्धान्त की परिभाषा भी बड़ी सरल है। जब तक मनुष्य की तपस्या जारी रहती है, तब तक अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के लोग एक से ही नीति और धर्म-मार्ग का अवलंबन करते रहते हैं, इसीसे यदि दुष्टों को भी उनके तप का फल प्राप्त हो तो उसमें आश्चर्य मानने की कोई बात नहीं है। अस्तु।

दशग्रीव, कुंभकर्ण और विभीषण के इस वर प्राप्ति के समाचार उनके नाना सुमाली को मालूम होते ही उसे बड़ा ही आनंद हुआ। उसने दशग्रीव के पास पहुँच कर अपनी लंका फिर से प्राप्त कर लेने का उसे आग्रह किया। यह सुन कर दशग्रीव ने पहले तो अपने पिता पौलस्त्य से, कुबेर से लंका के विषय में

बातचीत के लिये, कहा, पर उन्होंने उसका कहना नहीं माना। तब दशग्रीव ने प्रहस्त के द्वारा अपने भाई कुबेर से कहला भेजा कि राक्षसों की लंका को फिर से उन्हें सौंप दो। कुबेर तो अपने भाई के स्वभाव से भलीभांति परिचित ही था, अतः उसने अपने पिता विश्रवा ऋषि की सम्मति से लंका को फिर से राक्षसों को सौंप दी और वह अपने पिता की आज्ञा के अनुसार ही कैलास पर्वत पर 'अलका' नामक एक नवीन सुंदर नगर बना कर वहाँ पर रहने लगा।

पाताल को गये हुए सारे राक्षस अब तो लंका को लौट आये और दशमुख को वहाँ का राज्याभिषेक कर के उसकी छत्र-छाया में आनंदपूर्वक रहने लगे। थोड़े दिनों के बाद दशग्रीव ने अपनी भगिनी शूर्पणखा का विवाह दानवों के राजा विद्युजिव्ह के साथ कर दिया और मयासुर ने होरा नामक अप्सरा से जन्मी हुई अपनी सुंदर और गुण-सम्पन्न कन्या मन्दोदरी का विवाह दशग्रीव के साथ किया। दशग्रीव ने अपने दोनों भाइयों का भी विवाह इसी मौके पर शीघ्र कर दिया। वैरोचन की नाती वज्र-ज्वाला कुंभकर्ण को और शैलूम गंधर्व की कन्या सरमा विभीषण को व्याही गई। इस प्रकार वे तीनों भाई आनन्दपूर्वक दिन बिताने लगे। उन तीनों को बड़े पराक्रमी पुत्र उत्पन्न हुए। दशग्रीव को मन्दोदरि से जो पुत्र हुआ, उसने जन्म होते ही मेघ के सदृश मेघ-गर्जना की थी। अतः इसका नाम मेघनाद रख दिया गया। वही आगे चल कर फिर इन्द्रजित् कहलाने लग गया। जब ब्रह्माजी के वर के अनुसार कुंभकर्ण को खूब निद्रा आने लगी, तब उसके लिए दशग्रीव ने चार योजन लंबी और दो

योजन चौड़ी एक विस्तीर्ण गुफा तैयार करवा दी और उसे सुवर्ण रत्न आदि अलंकारिक वस्तुओं से खूब सजा दिया। जब कुंभकर्ण उसमें पहले-पहल जा कर सोया तो वर्षों तक उसकी नींद नहीं खुली। दशग्रीव को भी अपने वैभव का मद चढ़ आने से वह देव, ऋषि, गंधर्व, यक्ष आदि को कष्ट देने लगा। उसने उनके नगर लूट लिये और उनके नंदनवन के सदृश बाग भी नष्ट-भ्रष्ट कर डाले। इस प्रकार दशग्रीव के बुरे आचरणों को देख कर कुबेर ने उसकी ओर दूत भेज कर उसे यह समझाने का प्रयत्न किया कि, "मैंने एक हजार वर्ष तक तप कर के भगवान् शंकर को प्रसन्न कर के उनसे मित्रता कर ली है; अतः तुम भी अपने कुल के अनुसार धर्माचरण कर के अपनी उन्नति करो।" अपने भाई का यह संदेश सुन कर दशमुख अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा। उसने कहा, "क्या मेरे सामने शंकर से मित्रता करने का यह घमंड करता है? अच्छा तो लो पहले तुम्हारी ही खबर लेता हूँ।" यों कह कर उसने उस दूत का सिर काट लिया और शीघ्र ही कुबेर पर चढ़ाई करने की तैयारी कर दी। महोदर, प्रहस्त, मारीच, शुक, सारण और धूम्राक्ष नामक छः बलवान् सरदारों को अपने साथ ले कर वह कुबेर पर चढ़ गया। जब कुबेर के यक्ष राक्षस-सेना के आगे नहीं टिक सके, तब सहस्रों यक्षों को मर कर गिरे हुए देख कर कुबेर ने मणिभद्र नामक यक्षों के सरदार को उन राक्षसों पर चढ़ाई करने के लिए भेजा। पर, प्रहस्त ने मणिभद्र और उसके सारे वीरों का भी नाश कर दिया। अन्त में कुबेर ने स्वयं ही रावण पर चढ़ाई की। उन दोनों के बीच भीषण युद्ध हुआ। कुबेर ने उसपर अनेक अस्त्र छोड़े, पर उनसे

उसको कुछ भी हानि नहीं पहुँची। अन्त में दशग्रीव के गदा-प्रहार से कुबेर मूर्च्छित हो कर रणभूमि पर गिर पड़ा। तब दशग्रीव ने उसका पुष्पक-विमान ले लिया और उसकी पुरी को नष्ट कर के आप पुष्पक-विमान में बैठ कर कैलास से चल दिया।

(उत्तर० स० ११-१५)

जब दशग्रीव उस विमान में बैठकर जा रहा था, तब एक स्थान पर उस विमान की गति रुक गई, जिससे वह बड़ा आश्चर्य चकित हुआ। इतने ही में नंदी बन्दर का रूप बना कर वहाँ पर पहुँचा और उसने दशग्रीव से कहा:—"इस पर्वत पर शंकर पार्वती क्रीड़ा कर रहे हैं। किसी को भी वहां जाने की आज्ञा नहीं हैं, अतः तुम यहाँ से चले जाओ।" नन्दी के उस भेष को देखकर दशग्रीव पहले तो खूब खिल खिला कर हँस पड़ा। इसपर नंदी को बड़ा गुस्सा आया और दशग्रीव को शाप दिया कि इसी बन्दर कुल में सैकड़ों वीर उत्पन्न होकर तेरा नाश करेंगे।" पर, दशमुख ने उसके इस कथन की ओर जरा भी ध्यान न देकर कहा:—"अरे, पर शंकर हैं कौन? जिस पर्वत पर मेरा विमान रुक गया? उसीको मैं उखाड़ फेंकता हूँ।" यों कहकर वह विमान से नीचे उतरा और अपने बीसों हाथों से उस पर्वत को पकड़ कर जोर से हिला दिया। यह देख शंकरजी को किंचित् क्रोध हो आया और उन्होंने अपने पाँव के अँगूठे से उस पर्वत को लीला पूर्वक दबा दिया। त्योंही दशग्रीव नीचे गिर गया और उसकी बीसों भुजाएँ उस पर्वत के नीचे दब गईं। इस समय अपने हाथों के दब जाने के कारण दशग्रीव इतना चिल्लाया कि सारी पृथ्वी गूंज उठी और देव, दानव, गंधर्व भयभीत

हो-हो कर वहाँ पर आकर वह चमत्कार देखने लगे। रावण की उस दशा को देख कर देवताओं को उसकी दया आ गई और उन्होंने उसे श्रीशंकर की प्रार्थना करने की सलाह दी। तब दशानन ने श्रीशंकर की प्रार्थना करके उन्हें प्रसन्न कर लिया। और अपने हाथ पर्वत के नीचे से निकाल लिये। पर भगवान शंकर तो इतने संतुष्ट हो गये थे कि उन्होंने उसे एक तलवार भी इनाम में दे दी। दशग्रीव के उस रोने-पुकारने से सारी चराचर सृष्टि में हलचल मच गई थी। केवल यही नहीं, उसकी वह चिल्लाहट बराबर एक हजार वर्षों तक जारी रही; अतः शंकरजी ने उसका नाम 'रावण' रख दिया और तभी से लोग दशग्रीव को रावण कहने लग गये।

इस प्रकार भगवान शंकर को प्रसन्न करके रावण पुनः पुष्पक विमान में बैठा और वहाँ से चल दिया तो हिमालय में जहाँ पर मरुत्त राजा यज्ञ कर रहा था, वहाँ जा पहुँचा। रावण को देखते ही सारे देवता डर कर गुप्त हो गये और उन्होंने पशु-पक्षियों के भेष बना लिए। इन्द्र मोर बन गया, यमराज ने कौए का रूप धारण किया। कुबेर ने गिरगट का और वरुण ने हंस का भेष बना लिया। अन्य देवताओं ने भी भिन्न-भिन्न रूप बना लिये। तब मरुत राजा धनुष्य ले कर युद्ध करने को निकला, पर बृहस्पति के भाई संवर्त ने, जो यज्ञ कर रहे थे, उनको वापिस लौटाया। उन्होंने राजा को समझा कर कहा:—"यज्ञ की दीक्षा ले लेने पर क्रोध करना भी हानिकर है, फिर युद्ध की तो बात ही जुदी है।" इस प्रकार जब मरुत्त युद्ध से परावृत हो गये, तब रावण, उस यज्ञ का नाश कर और कई ऋषियों को स्वर्ग को भेज करके वहाँ

से चल दिया। रावण के चले जाने पर देवताओं ने अपने पूर्व स्वरूप धारण कर लिये और उन्होंने जिन-जिन प्राणियों के भेष बनाये थे, उन सब को वर दिये। इन्द्र ने मोर को आंखों की छाप के पींछे दे दिये, यम ने कौए से कहा कि जब कि तुझे कोई मारेगा तभी तेरी मृत्यु होगी, वरुण ने हंस का रंग श्वेत बना दिया और वैश्रवण ने गिरगट को सुनहला बना दिया। अस्तु। रावणके वहां से चल देने पर वह पृथ्वी के सभी राजाओं को जीतने लगा। जो राजा उसकी शरण में जाते थे, उन्हें तो वह छोड़ देता था, पर जो युद्ध के लिये तैयार होते थे, उन्हें जीत कर मार डालता था। इस प्रकार जब वह अयोध्या को गया, तब अनरण्य राजा ने उसकी शरण नहीं ली बल्कि वह अपनी सेना को ले कर उसपर चढ़ गया। पर उस भीषण युद्ध में अनरण्य मारा गया। इस प्रकार जब अनेक राजा मारे गये, तब एक दिन रावण को पुष्पक विमान में बैठे हुए देख कर नारदजी ने उसे कहा:—"अरे, मनुष्यों को जीत कर के उन्हें मारने में कोई पुरुषार्थ नहीं है। मनुष्य तो मृत्यु के मुख में यों गिरते ही हैं। हां, यदि तू मृत्यु को ही युद्धभूमि पर जीत लेगा, तब जरूर तेरी कीर्ति होगी।" नारदजी के इस उपदेश को सुन कर रावण यमलोक पर धावा करने के लिए दक्षिण की ओर चला। उस समय यम के दूत उससे लड़ने लगे, पर उसने उनका पराभव कर दिया। तब सब के प्राण हरण करने वाले स्वयं यमराज ही अपने भयंकर रथ में बैठ कर युद्ध के लिये तैयार हो गये। प्रत्यक्ष यमराज को देख कर रावण के राक्षस भयभीत हो कर भाग गये, पर रावण भय से जरा भी विचलित नहीं हुआ। इस प्रकार

राक्षसों के राजा और प्रेतों के राजा के बीच घोर युद्ध होने लगा। यम ने सहस्रों शस्त्र और अस्त्र का उपयोग किया, पर उनसे उसका बाल भी बांका नहीं हुआ। पहुँची। सात दिन और सात रात तक लगातार वह युद्ध होता रहा। अंत में यमराज अपना महा दंड रावण पर फेंकने के लिए तैयार हो गये। यह देख ब्रह्माजी वहाँ पर एकाएक प्रकट हो कर बोले:—"यह कालदंड तो सभी प्राणियों का संहार करने वाला है। यह अमोघ-दंड मैंने ही तुम्हें दिया है और रावण को भी मैंने ही वर दिया है; अतः यदि तुम यह महादण्ड उसे मारोगे और रावण कहीं मर जायेगा तो असत्य का टीका मेरे माथे लगेगा। और यदि रावण न मरा तो भी मैं ही झूठा कहलाऊँगा। इसलिए तुम इस दंड से रावण को मत मारो। तब यमराज ने कहा:—"आप हम सबके शासक हैं, अतः आपकी आज्ञा मुझे मान्य है। मैं अब यहाँ से चला जाता हूँ। इसके अतिरिक्त और कोई साधन मुझे नहीं देख पड़ता।" यों कह कर उन्होंने अपना दंड नीचे रख दिया और उसके सहित आप भी गुप्त हो गये। तब रावण ने जय घोष कर के अपना नाम फिर से एक बार यमपुरी में गुँजा दिया और फिर अपने सेनापतियों सहित वहाँ से चल दिया। (उत्तर० सर्ग० १६—२२)

जब रावण यम को जीत कर पश्चिम की ओर चला तो वरुण लोक की भोगावती नगरी पर चढ़ाई कर के नागों के राजा वासुकी को जीत लिया। अनंतर मणिमयी नगरी पर चढ़ाई कर के निवात कवच राक्षसों को जीता। फिर उसने अम्भवती पुरी के कालकेय-नरेश पर चढ़ाई की। और उस युद्ध में अपने बह-

नोंई शूर्पणखा के पति विद्युज्जिव्ह को मार डाला। कालकेय को जीत कर रावण वरुणपुरी को पहुँचा। वहाँ पर सुरभि नामक कामधेनु खड़ी थी; अतः उसे परिक्रमा कर के उसने वरुण के लोगों से युद्ध करने के लिए कहा। उस समय वरुण पुत्रों ने शस्त्र ले कर उसपर चढ़ाई कर दी, पर उसने उन्हें हरा दिया। तब ब्रह्माजी के वर के कारण उसे विजेता मान कर वरुण के लोगों ने वरुण के ब्रह्मलोक को चले जाने की बात कह कर, रावण को समझा-बुझा कर वहाँ से लौटा दिया। इस प्रकार रावण ने उत्तर, दक्षिण और पश्चिम दिशाओं के लोकपाल कुबेर, यम और वरुण को भी जीत लिया। अनन्तर वह पुष्पक-विमान में बैठ कर लंका को चला गया। तब उसकी विधवा बहन शूर्पणखा रोती हुई उसके सामने आ कर के गिर पड़ी और 'तू मेरे पति को तक नहीं पहिचान सका' आदि अनेक बातें कह कर उसने उसकी भर्त्सना की। तब रावण ने कहा:—"युद्ध छिड़ जाने पर फिर पिता-पुत्र का संबंध भी भूल जाना पड़ता है।" इस प्रकार उसने उसे समझा-बुझा कर दंडकारण्य में रहने की आज्ञा दे दी और उसके मौसेरे भाई खर को १४ हजार राक्षसों सहित उसके साथ भेज दिया। (उत्तर० सर्ग० २३–२४)

लंका में निकुंभिला नामक एक वाटिका थी। मेघनाद ने वहाँ पर एक सुवर्ण स्तम्भवाला देवालय बनाया और शुक्र की सहायता से यज्ञ कर के शंकरजी को प्रसन्न कर लिया था। तब शंकरजी ने उसे एक दिव्य-रथ बाणों के दो अक्षय तर्कश और एक धनुष दे दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने रथ में बैठ कर अदृश्य हो कर के शत्रुओं पर बाण वर्षाने की तामसी नामक

विद्या भी उसे प्रदान की थी। जब रावण वापिस लौटा, तब मेघनाद माहेश्वर यज्ञ की समाप्ति कर रहा था। रावण को समाचार मालूम होते ही उसने निकुंभिला में जा कर मेघनाद की बहुत प्रशंसा की। साथ ही उसने उसे भविष्य में देवताओं की अधिक आराधना न करने का भी आग्रह किया। अनन्तर रावण ने शेष दिशा अर्थात् पूर्व के लोकपाल इन्द्र पर चढ़ाई करने की तैयारी की। उसने कुंभकर्ण को जगा कर उसे तथा मेघनाद को भी अपने साथ ले लिया। लंका की रक्षा के लिए विभीषण को छोड़ कर अपने साथ बड़े-बड़े वीर सैनिकों को ले देवताओं को जीतने के लिए वह चला। कैलाश मार्ग से स्वर्ग को पहुँचते ही इन्द्र भी आदित्य, रुद्र, मरुत्, वसु, अश्विनीकुमार आदि देवताओं को अपने साथ ले कर रावण के साथ युद्ध करने के लिए तैयार हो गये। देवता और राक्षसों के बीच भयंकर युद्ध छिड़ा और दोनों ओर के असंख्य वीर समर-भूमि पर गिरने लगे। सुमालि और अष्टम वसु के बीच द्वंद्व युद्ध छिड़ा। वसु ने सुमालि को गदा-प्रहार से मार डाला। सुमालि को मरा हुआ देख कर रावण के पुत्र मेघनाद ने देवताओं पर चढ़ाई कर दी। उसने शंकर के वर के अनुसार अदृश्य हो कर अपने अक्षय तर्कश से देवताओं पर लाखों बाण बरसाये। देवता कुंभकर्ण और रावण से भी न हारते पर मेघनाद के अदृश्य युद्ध के सामने वे नहीं टिक सके। इन्द्र का पुत्र जयंत सबसे आगे युद्ध कर रहा था। मेघनाद ने उसे मूर्च्छित कर दिया। यह देख शची के पिता अर्थात् जयंत के दादा पुलोमा दैत्य ने उसे एकदम रणभूमि से हटा कर समुद्र में छिपा कर रख दिया। इस प्रकार जब पुत्र के

समर में गिरने के समाचार इन्द्र को मालूम हुए, तब अत्यन्त क्रोधित हो कर उन्होंने मेघनाद पर चढ़ाई कर दी। मेघनाद ने अपने अस्त्रों के प्रभाव और अदृश्य होने की विद्या के बल से इन्द्र को जर्जर कर दिया और उन्हें बाँध कर अपनी सेना की ओर ले गया! तब राक्षसों को अवर्णनीय आनंद हुआ। उस समय रावण ने अपने पुत्र को हृदय से लगा कर कहा:—"तू मेरे कुल में मुझसे भी अधिक प्रतापी उत्पन्न हुआ है। वास्तव में मेरे समान बड़भागी इस पृथ्वी पर कोई भी नहीं है। अस्तु, अब इन्द्र को लंका में ले चलना चाहिए।" इस प्रकार देवताओं का पराभव कर इन्द्र को कैद कर के रावण अपने पुत्र और बंधु-जन सहित लंका को जा पहुँचा। उधर स्वर्ग में हाहाकार मच गया। अन्त में सारे देवता ब्रह्माजी को अपने साथ ले कर लंका को गये। ब्रह्माजी ने आकाश से रावण की स्तुति कर के कहा:— "तेरे पुत्र के पराक्रम को देख कर मैं अत्यंत संतुष्ट हो गया हूँ। तेरा पुत्र केवल तेरे समान ही नहीं वरन् तुझसे भी अधिक पराक्रमी है; अतः अब से मेघनाद इन्द्रजित् (इन्द्र को जीतने वाला) कहलावेगा। पर यह देख, ये सारे देवता तेरी शरण में आये हैं; अतः तू इन्द्र को छोड़ दे। उस समय इन्द्रजित् ने ब्रह्माजी से अमर होने का वर माँगा। तब ब्रह्माजी ने कहा:—"इस पृथ्वी पर कोई भी अमर नहीं है; फिर तू कैसे अमर हो सकता है?" तब इन्द्रजित् ने पुनः प्रार्थना की:—"मुझे कम से कम यह तो वर दे दीजिएगा कि यज्ञ-हवन करने पर मुझे अग्नि से दिव्य-रथ प्राप्त होवे और यदि मैं उस रथ पर चढ़ कर शत्रुओं से लड़ूँ तो अमर रहूँ।" उस समय ब्रह्माजी ने संतुष्ट हो कर इन्द्रजित् को

वह वर दे दिया और इन्द्र को छुड़ा लिया। फिर सारे देवता स्वर्ग को चल दिये। इस प्रकार जो कार्य रावण और कुंभकर्ण भी नहीं कर सके, वही इन्द्रजित् ने कर दिखाया। इन्द्रजित् का पराक्रम और उसे मिले हुए वर इतने विचित्र थे कि लक्ष्मणजी के द्वारा उसका वध होना एक अत्यन्त आश्चर्यकारक बात है; अतः हम सब आपको धन्यवाद देते हैं।"

(उत्तर० सर्ग २५–३०)

इन्द्रजित् और रावण की उस अद्भुत कथा को सुन कर श्रीरामचन्द्रजी ने अगस्त्य ऋषि से पूछा:—"महाराज, जब रावण पृथ्वी पर के सारे राजाओं को इस प्रकार जीत रहा था, तब उसका सामना करने योग्य पुरुष पृथ्वी भर में कोई नहीं था? क्या उस समय यह पृथ्वी निर्वीर्य हो गई थी?" इस प्रश्न को सुन कर ऋषि महाराज बोले:—"श्रीराम, यह कैसे हो सकता है?" संसार में सेर पर सवासेर तो होते ही हैं। इसलिये यह घमंड करना व्यर्थ है कि मेरे समान बुद्धिमान और बलवान् दूसरा कोई है ही नहीं। एक बार पृथ्वी पर घूमते-घूमते राजा सहस्रार्जुन को जीतने के लिए रावण माहिष्मती गया और उसने अर्जुन को युद्ध की चुनौती दी। यह सुन उनके मन्त्री ने रावण से प्रार्थना पूर्वक कहा:–"राजन, सहस्रार्जुन नर्मदा नदी पर स्नान करने के लिये गये हैं; अतः आज आप यहीं पर ठहरिए।" तब रावण अपने सरदारों सहित विंध्याचल पर्वत पर चला गया और नर्मदा नदी पर स्नान करके नित्य नियमानुसार सुवर्णलिंग की पूजा करने लगा। नीचे की ओर एक कोस पर राजा सहस्रार्जुन नर्मदा में क्रीड़ा करते थे। उन्होंने यों ही जल क्रीड़ा करते हुए अपनी सहस्र-

भुजाओं से नर्मदा का पानी रोक लिया। प्रवाह के रुकते ही इधर ऊपर नर्मदा का पानी बढ़ने लगा और बढ़ते-बढ़ते जहां पर रावण पूजा कर रहा था, वहाँ तक जा पहुँचा और उसकी सारी पूजा सामग्री को बहा कर ले गया। यह देख कर रावण बड़ा बिगड़ गया। उसने घटना का ठीक-ठीक पता चलाने के लिए शुक-सारण को भेजा। वे नदी के तट से होते हुए ठेठ उस स्थान तक जा पहुँचे जहां पर सहस्त्रार्जुन नर्मदा के प्रवाह को रोके हुए लीला पूर्वक खड़े थे। वे उसे देख कर रावण के पास लौट आये और सारे हाल कह सुनाये। अर्जुन की धृष्ठता पर रावण को बड़ा क्रोध हुआ। और वह उसे इस गुस्ताखी का दण्ड देने के लिए चल पड़ा। अर्जुन के मंत्रियों ने रावण से कहा कि यह युद्ध करने का अवसर नहीं है, पर रावण के राक्षस उन्हें मार कर चट कर गये। अब तो बड़ी हलचल मच गई। समाचार ज्ञात होते ही सहस्त्रार्जुन हाथ में गदा ले कर नदी तीर पर रावण के सामने जा कर खड़े हो गये। उन्हें देख कर रावण का सेनापति प्रहस्त आगे को बढ़ा, पर अर्जुन ने उसे एक घड़ी में ही पृथ्वी पर लिटा दिया; तब सारे सरदार पीछे को हट गये। फिर, रावण गदा ले कर आगे की ओर बढ़ा और उन दोनों के बीच घोर युद्ध होने लगा। रावण के शरीर पर गदा का प्रहार तो अवश्य ही होता था, पर उसे वर मिलने के कारण उससे किसी तरह की हानि नहीं पहुँचती थी। इतने में सहस्त्रार्जुन ने अपने पांच सौ हाथों के बल से गदा का एक ऐसा प्रहार किया, कि गदा के तो टुकड़े-टुकड़े हो गये पर रावण भी रोता चिल्लाता हुआ नीचे बैठ गया। तब अर्जुन ने दौड़ कर अपनी

हजार भुजाओं से रावण को पकड़ लिया और रस्सों से उसे बांध कर माहिष्मति नगरी को ले गया। उस समय तक प्रहस्त पुनः सचेत हो गया था। उसने सारे राक्षसों को एकत्र कर अर्जुन पर चढ़ाई कर दी और रावण को छुड़ाने का प्रयत्न किया, पर सबको पराजित हो कर वहाँ से रास्ता नापना पड़ा। रावण के बन्दी हो जाने के समाचार तीनों लोक में फैल गये। उन्हें सुन कर बूढ़े पुलस्त्य ऋषि अपने नाती के प्रेम के कारण स्वयं दौड़े हुए महिष्मती को गये। सहस्रार्जुन ने आगे बढ़ कर हाथ जोड़ कर उनसे पूछा:—"महाराज, आपके आगमन से मैं धन्य हो गया हूँ। आपकी क्या इच्छा है?" तब पौलस्त्य महर्षि बोले:— "इसमें कोई संदेह नहीं है कि तुमने रावण के यश को हर लिया है। निःसन्देह तुम्हारा पराक्रम अवर्णनीय है। पर, यह मेरा नाती है; अतः मैं तुमसे यही मांगता हूँ कि तुम इसे छोड़ दो।" इस प्रकार पौलस्त्य ऋषि ने रावण को छुड़ाया और उन दोनों में मित्रता करा दी। उसी प्रकार एक बार रावण बाली के पराक्रम की तारीफ सुन कर, उसे जीतने के लिए किष्किंधा पहुँचा। बाली प्रति दिन चारों समुद्रों पर जा कर संध्या करता था। जब रावण वहां पर पहुँचा, तब बाली अपने नित्य नियमानुसार दक्षिण समुद्र पर संध्या करने के लिये गया हुआ था। ये समाचार बाली के मन्त्रियों से रावण को मालूम होते ही वह भी अपने पुष्पक में बैठ कर दक्षिण समुद्र की ओर गया। बाली को वहां देखते ही, उसने सोचा कि इसे पीछे से जा कर अचानक कैद कर लेना चाहिए। यों सोचता हुआ वह विमान से उतरा और धीरे-धीरे दबे पाँव से बाली के पास जा पहुँचा। बाली को उसके आने का

हाल मालूम हो गया था; उसने रावण को अचानक ही पकड़ने का विचार कर लिया था। रावण बाली के पास पहुँचा और प्रहार करने ही को था कि इतने में बाली ने बिना ही पीछे देखे, अपनी पूँछ से उसे जकड़ करके, आकाश में उड़ गया। अनन्तर नित्य-नियमानुसार उसने पश्चिम, उत्तर और पूर्व समुद्र पर संध्यादि कर्म किया और किष्किन्धा पहुँच कर, रावण को अपनी पूँछ से छोड़ कर, उसे पूछा कि तू कौन है? रावण तो पहले ही अधमरा सा हो चुका था। उसने हाथ जोड़ कर कहाः—"मैंने तुम्हारे समान बलवान् प्राणी आज तक नहीं देखा। मैं तुम्हें जीतने के लिये आया था, पर मुझे उसका पूरा फल मिल गया। अब मेरी आन्तरिक इच्छा यही है कि मैं तुमसे मित्रता करूँ।" तब बाली ने उसका हाथ पकड़ कर उससे मित्रता कर ली और उसे एक मास तक किष्किंधा में रख कर फिर लंका को विदा कर दिया। अस्तु। तात्पर्य यह कि उस समय रावण से भी बढ़ कर कई बलवान पुरुष थे, पर वे सत्वस्थ थे, लोगों को कष्ट नहीं पहुँचाते थे। पर रावण का वैभव और बल तो उसके घमण्ड तथा दुराचार के ही कारण कम हो गया। और यद्यपि वह देवादिकों के लिए भी अवध्य था, तथापि आपने उसे मार कर राक्षसों के कष्ट से पृथ्वी को छुड़ा दिया है; अतः जगत् आपका बहुत कुछ उपकृत है। अस्तु। अब हम आप से बिदा मांगते हैं।" तब श्रीरामचन्द्र-जी ने विनय पूर्वक उन ऋषियों से प्रार्थना कीः—"सभी कार्यों की योग्य व्यवस्था हो जाने पर मुझे एक यज्ञ करने की इच्छा है; अतः मैं जब कभी आपको बुलाऊँ तब आप सब लोग आकर मेरे यज्ञ को सफल करें।" इस प्रकार सभी ऋषि यज्ञ के लिए

आने का वचन दे कर, श्रीरामचन्द्रजी को आशीर्वाद देते हुए, अपने-अपने आश्रम को चले गये। (उत्तर-सर्ग ३१—३६)

अनेक देशों के राजा भी श्रीरामचन्द्रजी का अभिनन्दन करने के लिए गये थे और श्रीरामजी ने उनका यथोचित आदर करके, उन्हें कुछ दिवस तक रख कर, उत्तमोत्तम रत्न दे कर वहां से बिदा किया। विदेह के राजा और सीताजी के पिता जनक भी श्रीरामजी से मिले, उन्हें अनेक प्रकार के रत्न अलंकार, दास, दासी, घोड़े, हाथी आदि दे कर वापिस चले गये। इसी प्रकार भरतजी के मामा युधाजित् भी श्रीरामचन्द्रजी से मिल कर चले गये। इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी के कई मास अत्यन्त सुख से बीते। वे प्रातः काल होते ही स्नान संध्यादि से निवृत्त हो, होम और देवताओं का पूजन कर अतिथियों का सत्कार करते थे। अनन्तर दुपहर को राजकाज देखते थे तथा अवसर के समय सुग्रीव, विभीषणादि मित्र-मण्डल के सहवास में आनन्द से बिता कर सीताजी को भी सभी प्रकार का सुख देते थे। इस प्रकार उनके कई दिन आनन्द से बीते। सीताजी भी धार्मिक कर्मों से छुट्टी पा कर सभी सासुओं की सेवा करके दोपहर के अनन्तर तारा और अन्य बन्दर स्त्रियों सहित आनन्द से अपना समय बिताती थीं। इस प्रकार कई दिन बीत जाने पर श्रीरामचन्द्रजी ने सुग्रीव को अपने देश को वापिस लौट जाने की आज्ञा दी तथा विभीषण से भी कहा:—"तुम्हारी प्रजा तुम्हारे लिये उत्कण्ठित हो रही होगी; अतः अब तुम भी लौट जाओ। मुझे तुम सब ने अत्यन्त कठिन समय पर सहायता दी। मुझे तुम्हारा स्मरण सर्वदा होता रहेगा।" यों कह कर श्रीरामजी ने सुग्रीव, विभीषण,

जांबवान, मयन्द, द्विविद, अंगद, हनुमान आदि सभी का रत्नों और वस्त्रों से सत्कार किया और उनसे बारंबार कहा 'मुझे कहीं भूल मत जाना।' उस समय सभी की आँखों से आंसू बहने लगे। सभी ने श्रीरामचन्द्रजी के चरणों पर शिर रख कर और उन्हें परिक्रमा करके उनसे बिदा मांगी। हनुमानजी ने बिदा मांगते समय हाथ जोड़ कर कहा:—"महाराज, मेरा प्रेम, मेरी भक्ति आपमें अचल रहेगी। और जब तक रामकथा इस जगत् में प्रचलित रहेगी, तब तक इस देह में मेरे प्राण रहेंगे। मैं सर्वदा आपके गुणानुवाद सुनूँगा। और, उसीसे मेरे विरह दुख का शमन होगा।" हनुमानजी की इस प्रार्थना को सुन कर श्रीराम-जी पुलकित हो गये और उन्होंने एकदम सिंहासन से उतर कर हनुमानजी को अपने हृदय से लगा लिया। "हनुमान्, मुझ पर तुमने इतने उपकार किये हैं कि मैं उनसे कभी मुक्त ही नहीं हो सकता। पर, तुम्हारे उपकार मुझपर सदा के लिये रहें यही मेरी आन्तरिक इच्छा है। परमात्मा करें और प्रत्युपकार करने के योग्य तुमपर कोई आपत्ति न आवे। तुम्हारे कथनानुसार जब तक लोग मेरी कथा को गावेंगे, तब तक तुम जरूर चिरंजीव रहोगे तथा तुम्हारा यश भी चारों ओर फैलता रहेगा।" यों कह कर श्रीरामचन्द्र जी ने अपने गले का नौ रत्नों का हार उनके गले में पहिना दिया, तब सभी बन्दरों ने कूद कर अपना हर्ष प्रकट किया। अस्तु। इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी ने सभी बन्दरों और राक्षसों को अपने-अपने घर बिदा कर दिया। (उत्तर सर्ग० ३८—४०)

जब अच्छा समय आता है, तब सभी कुछ अच्छा ही होता जाता है। जब श्रीरामचन्द्रजी का सीताजी सहित अयोध्याजी

में राज्याभिषेक हुआ, तब सभी राजा रजवाड़ों ने उनका अभिनन्दन करके उन्हें नजर-न्यौछावर की। बड़े-बड़े ऋषियों ने भी श्रीरामजी को आशीर्वाद दिये। बन्दर और राक्षस सन्तुष्ट हो कर अपने-अपने घर को चल दिये। पुष्पक विमान को भी कुबेर को ओर भेज दिया था, पर कुबेर ने उसे पुनः लौटा कर श्रीरामजी से कहला भेजा कि 'रावण को आपने जीत लिया है; अतः अब इस विमान के भी आप ही स्वामी हैं।' तब श्रीरामजी ने कुबेर को धन्यवाद दे कर विमान को लौटाते हुए कहा कि 'जब मैं याद करूँ तब तुम चले आना'। इधर सीताजी को गर्भ रहे कुछ मास बीत गये थे। श्रीरामजी को इससे बड़ा आनन्द हुआ। कौशल्या माताजी का आनन्द तो अवर्णनीय ही था। श्रीराम सीताजी को संतुष्ट रखने के लिए बड़ा प्रयत्न करते थे। वे जानते थे कि सीताजी को वन में बहुत से दुःख उठाने पड़े थे; अतः उनका परिहार करने का वे सर्वदा प्रयत्न करते रहते थे। एक दिन श्रीरामचन्द्रजी ने सीताजी से पूछा:—"सीता, तुम्हें जो गर्भ दोहद हों जिस बात की इच्छा हो, वह मुझसे कहो। तुम्हारी इच्छा को पूर्ण करना मेरा कर्तव्य है।" उस धर्मशील साध्वी के गर्भ दोहद अथवा इच्छाएँ तो निःसदेह पवित्र होनी ही चाहिए। वे बोली:—"आर्यपुत्र, मेरी इच्छा है कि गंगाजी के तट पर मुनियों के आश्रमों में रहनेवाली महिलाओं को, उत्तमोत्तम अलंकार और वस्त्र दे आऊँ।" श्रीरामजी ने कहा:—"ठीक तो है। तुम्हारी यह इच्छा तुम्हारे सद्गुण और कुलीनता को बहुत ही फबती है। मैं तुम्हें वहाँ पर भेजने का अभी प्रबन्ध किये देता हूँ।" यों कह कर श्रीरामचन्द्रजी अपने अन्तःपुर से निकल कर

राजसभा में चले गये। (उत्तर० स० ४१—४२)

पर भविष्य की ओट में कुछ और ही छिपा था। श्रीरामचन्द्रजी और सीताजी के निर्मल सुख-आकाश में दुःख के काले-काले बादलों की घन-घोर छटा छा रही थी। उनके शेष जीवन पर बिजली गिरने ही वाली थी। पर, श्रीरामजी ने उस संकट को भी शांति पूर्वक सह करके इस बात का प्रत्यक्ष आदर्श खड़ा कर दिया कि ऐसे अकल्पित दुःख के समय मनुष्य को कैसा व्यवहार रखना चाहिए। अस्तु। नित्य नियमानुसार राज सभा में जाकर अपने मित्रों और सहकारियों से बात चीत करते-करते—जब उन्होंने पूछाः—"मित्रो, नगर और देश में जनता क्या कहती है? वह मुख्यतः किस बात की चर्चा करती है?" तब भद्र नामक जासूस ने हाथ जोड़ कर कहा "महाराज, राजमार्गों, चौराहों, बाजारों, वनों और उपवनों में जो भली बुरी बातें होती रहती हैं, उनमें लोग खास कर आपके पराक्रम को बहुत ही वर्णन करते हैं। आपके समुद्र में सेतु बनाने की बात सुनकर तो वे दाँतों तले उँगली दबाते हैं। वे कहते हैं कि वह कार्य तो देव-दानवों के लिये भी अत्यन्त कठिन था। बन्दरों और रीछों से मित्रता करके और राक्षसों का पराभव करके, रावण के सदृश बलवान् राजा को रसातल में पहुँचा देने की बात सुन कर भी वे बड़े आश्चर्य चकित होते हैं। पर, रावण के घर में एक वर्ष तक कैदी बनकर रही हुई, सीताजी को छुड़ा कर उनका पुनः अङ्गीकार कर लेने पर लोग आप पर अवश्य दोष लगाते हैं। उनका कहना यही है कि यदि राजा ही ऐसा कार्य करने लगे तो हमें वैसा कार्य करने में क्या हानि है क्योंकि 'यथा राजा तथा प्रजा।'

भद्र के मुंह से ये वचन सुनकर श्रीरामजी का हृदय दुःखावेग के कारण एकदम फट गया। उन्होंने सभी मित्रों को विदा कर दिया। फिर कुछ देर तक एकान्त में बैठकर उन्होंने अपने मन में किसी बात का निश्चय किया और द्वारपाल को पुकार कर लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न को बुलाने की आज्ञा दी। श्रीरामजी की आज्ञा के अनुसार वे तीनों शीघ्र ही वहाँ पर उपस्थित हो गये। उस समय ग्रहण लगे हुए चन्द्रमा की तरह श्रीरामजी का उदास और तेज रहित मुख तथा उनकी आँखों से आँसू गिरते हुए देखकर वे तीनों बड़े ही घबराये। तीनों भाई आगे बढ़े और हाथ जोड़ कर, उन्होंने श्रीरामजी के चरणों पर सिर नवाँया; तब श्रीरामचंद्रजी ने उनको प्रेम से उठा कर और हृदय से लगा कर उत्तम आसन पर बैठाया और फिर कहने लगे:—"प्रिय बंधुओं, तुम मुझे प्राणों से भी अधिक प्यारे हो। तुम्हीं मेरे सर्वस्व हो। तुम्हारे ही चलाये हुए इस राज-काज को मैं केवल नाम मात्र के लिए देखता हूँ। आप बुद्धिमान् और ज्ञाता हो; अतः मेरी बात का न्याय करो।" श्रीरामचन्द्रजी के मुँह से ये वचन सुन कर उन तीनों भाइयों के मुख उदास हो गये तथा राजा रामचन्द्रजी आगे क्या कहते हैं यह सुनने के लिए उनके मन उद्विग्न और अत्यन्त आतुर हो उठे। तब श्रीरामजी ने कहा:—"प्रिय भाइयो, तुम सब शांत हो कर सुनो। अपने मन कलुषित न होने दो। लोग मुझे सीताजी का पुनः स्वीकार करने के कारण दोषी बताते हैं। यह जनापवाद मेरे हृदय को विदीर्ण कर रहा है। लक्ष्मण, तुम्हें तो सारी बातें मालूम ही हैं। रावण सीताजी को जन-स्थान से हमारी अनुपस्थिति में बलपूर्वक ले गया था। मैंने उस अपयश को लंका पर

चढ़ाई कर और रावण को मार कर के धो भी डाला । और वहीं मुझे सीताजी का पुनः अंगीकार करने न करने के विषय में आशंका हुई थी और मैंने उनका स्वीकार न करने का ही निश्चय भी कर लिया था । पर, लक्ष्मण, तुम जानते हो कि उसने उस समय कैसा अपूर्व कार्य किया था । अग्नि में कूद कर जब उन्होंने अपनी पवित्रता को सिद्ध करना चाहा तब अग्नि-नारायण ही ने स्वयं प्रकट हो कर सीताजी को मुझे सौंपते हुए कहा था कि सीताजी पाप-रहित हैं । लक्ष्मण, तुमने तो वह घटना अपनी आँखों ही से देखी थी न ? मुझे भी विश्वास है कि सीताजी पाप-रहित ही हैं । इसीसे मैं उन्हें अयोध्या को ले आया और उनके सहित मैंने राज्याभिषेक भी करा लिया । ऐसी दशा में भी यह लोकापवाद उत्पन्न हुआ है और सारे देश में तथा नगरी में चारों ओर मेरी अपकीर्त्ति फैल गई है । प्रिय भाइयो, लोग जिस मनुष्य की अपकीर्ति गाते हैं, उसका अवश्य ही अधःपात होता है । हमारी अपकीर्त्ति होना किसी प्रकार भी अच्छा नहीं है । सत्कीर्त्ति को तो सारे लोग वरन् देवता भी पूज्य मानते हैं । अच्छे लोग अपनी सत्कीर्त्ति फैलाने के लिए ही सदा प्रयत्न करते रहते हैं । केवल इतना ही नहीं वरन् अपनी अपकीर्त्ति के कलंक को धोने के लिए प्राणों को भी खर्च कर देते हैं, अतः प्रिय बंधुओ, मैं तो सत्कीर्त्ति के लिए तुम्हारा भी त्याग कर सकता हूँ; फिर सीताजी की तो बात ही क्या है ? इसलिए अब हमें भी वही करना चाहिए जो कर्त्तव्य हमें इस समय प्राप्त हुआ है ? यद्यपि मैं शोक-समुद्र में गिरा हूँ—बल्कि इस समय मेरे समान दुःखी प्राणी इस जगत में कोई नहीं है; तथापि लोगों को प्रसन्न रखना ही

मेरा कर्तव्य है। इसलिए लक्ष्मण, कल प्रातःकाल ही सीताजी को रथ में बैठा कर, गंगाजी के पार तमसा नदी के तीर पर, भगवान् वाल्मीकि ऋषि के आश्रम के निकट वाले घने बन में छोड़ आओ। मैं जो कुछ कह रहा हूँ, उसे तुम निःशंक हो कर करो। यदि तुम्हारा मुझपर प्रेम होगा तो तुम मुझे इस निश्चय से विचलित करने का प्रयत्न न करोगे। तुम्हें मेरी शपथ है। इस समय तुम मेरे प्रस्ताव का अनुमोदन करो और मुझसे कुछ भी न कहो। सीताजी ने मुझसे हाल ही में गंगा तट के आश्रमों में रहने वाली मुनि-स्त्रियों को वस्त्र आभूषण देने के विषय में पूँछा था और मैंने उन्हें वहाँ पर भेजने का वचन भी दे दिया है। अतः हे लक्ष्मण, तुम्हारे साथ सीताजी बड़े आनंद से हो जावेंगी। इसलिए अब तुम जाओ और मेरी आज्ञा का पालन करो।" यों कह कर श्रीरामचन्द्रजी ने दुःखावेग के कारण इनकी ओर से अपना मुँह दूसरी ओर फेर लिया और उन तीनों को बिदा कर के आप भी शोकाकुल हो कर बड़े कष्ट से वहाँ से चल दिये।

(उत्तर० सर्ग० ४३-४५)

दूसरे दिन प्रातःकाल के समय सुमन्त श्रीरामचन्द्रजी के शीघ्रगामी रथ को तेजी से चलाते हुए दिखाई दिये। लक्ष्मण, तथा सीताजी उस रथ में बैठी थीं। लक्ष्मणजी की आँखें तो शोक के कारण लाल हो गई थीं, पर वे भोली-भाली सीताजी आनन्द में मग्न थीं। उनके पास अनेक सुंदर वस्त्र और आभूषण थे। उनके बदन पर गर्भ धारण करने की कांति चमकती थी। केवल इतना ही नहीं वरन् उनके निष्पाप और निष्कपट हृदय में मुनि-स्त्रियों को अलंकार देने की सदिच्छा से, उनके मुख मंडल

पर प्रसन्न विचारों की छाया तथा धर्म और उदारता के उत्साह की छटा भी फैल गई थी। जब वे लक्ष्मणजी से 'मुनि-स्त्रियाँ इन वस्त्रों को बहुत ही पसंद करेंगी। क्या उन्होंने ऐसे अलंकार पहले कभी देखे होंगे?' आदि प्रश्न पूँछतीं तो लक्ष्मणजी के हृदय को असह्य वेदनाएँ होती थीं और इस बात को सोच कर कि उन विचारी को अपने सिर पर मँडराती हुई आपत्ति का जरा भी ज्ञान नहीं है, उनका हृदय और भी अधिक टूक-टूक हुआ जाता था। "लक्ष्मण, आज तुम इतने उदास क्यों हो? तुम्हारी आँखों से इस तरह ये आँसू क्यों गिर रहे हैं? यद्यपि महाबाहु श्रीरामजी का वियोग असह्य तो मुझे भी मालूम होता है, पर मुझे तो मुनियों के आश्रम में केवल एक ही रात रहना है। वत्स लक्ष्मण, राजाधिराज रामचन्द्रजी से हमें बहुत देर तक अलग नहीं रहना होगा।" उनके ये शब्द तो लक्ष्मणजी के हृदय में भाले की तरह चुभे और यह सोच कर कि इस निरपराधी और मुझपर पूर्ण विश्वास रखने वाली देवी का मुझे कपट से घात करना होगा; वे दुःखसागर में डूब गये। लक्ष्मणजी के मुँह से इसके उत्तर में एक शब्द भी नहीं निकला। फिर भी सीताजी ने उनसे बारंबार उनके दुःख का कारण पूँछा। और कहा कि "मेरे भी हृदय की विचित्र दशा हो रही है। मुझे ये बुरे शकुन क्यों हो रहे हैं? मैं तो एक धार्मिक कार्य करने के लिए जा रही हूँ।" आदि बातें करते हुए वे संध्या के समय भागीरथी पर जा पहुँची। वहाँ पर गुह के लोगों ने शीघ्र ही नौका तैयार कर दी। तब लक्ष्मण और सीताजी रथ से उतर कर नौका पर जा बैठीं। मल्लाहों ने शीघ्र ही नौका को दूसरे किनारे पर लगा दिया।

लक्ष्मणजी ने सीताजी को नौका से नीचे उतारा। इस प्रदेश में पहुँचते ही उन्होंने सीताजी को साष्टांग दंडवत किया और हाथ जोड़ कर केवल 'देवी सीताजी' यही शब्द अपने मुँह से निकाले। उनका कंठ भर आया, इससे अधिक वे कुछ भी न बोल सके। तब सीताजी एक दम घबरा गईं और उन्होंने बड़ी दीनतापूर्वक पूँछा:—"लक्ष्मण, तुम दिन भर से रो रहे हो, और अब मेरे चरण पकड़ते हो; बात क्या है, जो कुछ हो सच-सच बता दो। अब मुझमें बिलकुल धैर्य नहीं है।" तब लक्ष्मण बड़े कष्ट से बोले:—"देवी, राजा रामचन्द्रजी ने लोकापवाद से डर कर आपको यहीं पर वाल्मीकि के आश्रम के निकट वन में छोड़ देने की मुझे आज्ञा दी है" वज्र के समान इस वचन का असर हुआ। बेचारी सीताजी, टूटे कदली वृक्ष की नाईं, एकाएक मूर्च्छित हो कर पृथ्वी पर गिर पड़ीं। पर, कुछ देर सचेत हो कर वे विलाप करने लगीं:—"हा, दुर्दैव क्या अब भी तू मेरा पीछा नहीं छोड़ता? लक्ष्मण, क्या ब्रह्माजी ने मुझे दुःख भोगने ही के लिए उत्पन्न किया है? मैंने पहले जन्म में कौन-सा घोर पाप किया था? मैंने सचमुच ही किसी सुखी दम्पति का विछोह किया होगा? लक्ष्मण, मैंने तुम्हारे सामने अग्नि में कूद कर के पवित्रता को सिद्ध कर दिया था। क्या फिर भी न्यायी महाराज लोकापवाद से डर कर मेरा त्याग कर रहे हैं? मैं वन के दुखों को बहुत भोग चुकी। पर, आर्यपुत्र के दर्शनों के कारण वे मुझे जरा भी असह्य नहीं मालूम हुए और उनके आश्रय ही के कारण प्रत्येक आश्रम में मेरा आदर-सत्कार होता था। पर, अब इस दशा में मुझे कौन आश्रय देगा। यदि कोई

आश्रय देकर रख भी ले तो मैं श्रीरामचन्द्रजी के बिना अपने दिन कैसे काट सकूंगी ? अब मेरे दुख को कौन सुनेगा ? क्या मैं यह कहूँ कि श्रीरामजी ने मेरा त्याग कर दिया है ? हे प्रभो, अब मुझे इन प्राणों का मोह नहीं है। लक्ष्मण, अब तो मेरी यही इच्छा है कि तुम्हारे सामने ही माता गंगाजी में कूद कर अपने प्राण त्याग दूँ। पर, इस समय मेरे उदर में श्रीरामचन्द्रजी का वंश है, अतः मैं उसका घात नहीं कर सकती।" इस प्रकार शोक करते हुए भावी संतान के प्रेम के कारण प्राणों के विषय में चिंतातुर हो कर सीताजी ने किसी प्रकार धीरज धारण किया और वे बोलीः—"लक्ष्मण, अच्छा, तो मेरे भाग्य में जो कुछ बदा हो, उसे भोगने के लिये मैं तैयार हूँ; जाओ अब तुम वापिस लौट जाओ और राजाज्ञा के अनुसार मुझे यहीं पर छोड़ जाओ। हाँ, तुम अच्छी तरह ध्यान से देख लो कि मैं गर्भवती हूँ, और जाओ, अपना कर्तव्य करो। सभी सासुओं से हाथ जोड़ कर प्रणाम कहना और उस धार्मिक राजा से मेरा यह संदेश सुना देना कि,—"महाराज, सब के सामने अग्नि में कूद कर मैं अपने को निर्दोषी सिद्ध कर चुकी हूँ। आप भी भली भाँति जानते हैं कि मेरी आपपर पूर्ण भक्ति है। पर फिर भी आपने लोकापवाद से डर कर मेरा त्याग कर दिया है। अस्तु, वह मुझे मान्य है; क्योंकि स्त्रियों के लिए तो पति ही मुख्य देव है, पति ही उनका बंधु और वही उनका गुरु भी है। लोकापवाद से अपनी सत्कीर्ति को कलंकित न करने की आपकी इच्छा आपको सर्वथा फबती है, और राजा के नाते वही तुम्हारा परमधर्म भी है। इस समय मेरा भी यही कर्तव्य है कि आपकी कीर्ति को कलंकित न

करूँ अतः मैं आपको मेरा त्याग करने के लिए दोष नहीं देती। अब मुझे इस शरीर की भी बिलकुल चिन्ता नहीं है। आपका वंश मेरे उदर के बाहर निकलते ही मैं प्रत्येक जन्म में आपके सदृश पति मिलने और इस जन्म की नाईं आपका वियोग न होने के लिए कठिन-तपस्या करूँगी। उस समय यद्यपि पत्नी के नाते आपका मुझपर प्रेम न रहे तौ भी अपने राज्य की एक तपस्विनी के नाते आप मुझपर सदा कृपा की दृष्टि बनाये रक्खें।" इस प्रकार उस पतिव्रता का निःसीम पति प्रेम देखकर और सदाचरण के निश्चय सूचक शब्द सुनकर लक्ष्मणजी की आँखों में आँसू उमड़ आये। अन्त में वे बोलीं 'लक्ष्मण, जाओ। अपने राजा की आज्ञा और कर्तव्य का पालन करो' यह आज्ञा होते ही लक्ष्मणजी ने फिर से एक बार उन्हें साष्टांग प्रणाम किया और उन्हें परिक्रमा लगाकर वे गंगा के तट पर; नौका में, जा बैठे। थोड़ी ही देर में वे गंगाजी को पार करके दूसरे तट पर जा पहुँचे और फिर रथ में बैठ कर अयोध्याजी को चल दिये। जब कभी वे पीछे की ओर मुड़ कर देखते थे, तो उन्हें यही आभास होता था कि मानों सीताजी उनकी ओर देख रही हैं। और सचमुच बेचारी सीताजी भी तब तक बराबर टक लगाये देख रही थीं जब तक कि वह रथ उनकी दृष्टि से ओझल नहीं हुआ। अन्त में एकदम 'महाराज, आपने मुझे इस निबिड़ जंगल में क्यों छोड़ दिया?' कह कर वे फूट-फूट कर रोने लगीं। उनका वह शोकालाप उस अरण्य में गूंज उठा, जिसमे वन के भौंरों के शब्द भी बन्द हो गये। उस समय वाल्मीकि के शिष्य समिधा लाने के लिए उस तरफ गये हुए थे; उस शब्द को सुन

कर वे द्रवित हो गये। उन्होंने सीताजी की स्थिति को देख कर वाल्मीकिजी से जा कर कहा कि "भगवन् एक कुलीन स्त्री घने बन में गंगा तट पर अकेली बैठी हुई शोक कर रही है।" शिष्यों के ये वचन सुन कर वाल्मीकि ऋषि ही अर्घ्य ले कर वहाँ पर पहुँचे और बोले:—"सीताजी, तुम मेरे परममित्र राजा दशरथ की पुत्र-वधू हो। रामचन्द्रजी के तुम्हारा त्याग कर देने का कारण मुझे अंतर्ज्ञान से मालूम हो गया है। मैं जानता हूँ कि तुम पाप रहित हो; इसलिए अब तुम शोक न करो। मेरे साथ चलो। मेरे आश्रम की तपस्विनियां तुम्हारा अपनी कन्या की तरह, पालन करेंगी। मैं आश्रम के निकट ही एक कुटीर में तुम्हारे रहने का प्रबन्ध किये देता हूँ, इसलिए आओ मेरे साथ चलो।" वाल्मीकि ऋषि के ये सांत्वना भरे स्निग्ध बचन सुन कर सीताजी ने उठ कर उन्हें प्रणाम किया और वे हाथ जोड़ कर उनके आश्रम की ओर चली गई। (उत्तर स० ४६—४९)

सीताजी को वाल्मीकि ऋषि अपने आश्रम पर ले गये। इन निश्चित समाचारों को प्राप्त कर के लक्ष्मणजी बड़े व्यथित हृदय से अयोध्या की ओर चले। उनके शोकाकुल वदन की ओर देख कर सुमंत ने कहा:—"लक्ष्मणजी, आप शोक न करिये। इस घटना को तो पहले ही से दुर्वासा-ऋषि ने राजा महाराज दशरथजी से कह दिया था; अतः अपरिहार्य घटना के विषय में शोक करना उचित नहीं है। ऋषि दुर्वासा जी ने यह भी भविष्य में कहा था कि सीताजी के दो पुत्र होंगे और श्रीरामचन्द्रजी उन्हें राज-सिंहासन पर बिठला कर निज धाम को जावेंगे। उनमें से पहला कथन तो सत्य हो चुका है; अतः दूसरा भी अवश्य ही

सत्य सिद्ध होगा। पर, आप इस बात को और किसी से न कहियेगा। योग्य समय जान कर के ही यह बात मैंने आपसे कही है।" सुमंत के उक्त वचन सुन कर लक्ष्मणजी का शोक कुछ-कुछ कम हुआ और वे शीघ्र ही अयोध्या जा पहुँचे। तब वे राजमहल में जा कर श्रीरामचन्द्रजी से मिले और उनके चरणों पर सिर नँवा कर हाथ जोड़ कर बोले:—"महाराज, आपकी आज्ञा के अनुसार मैं सीताजी को गंगा के पार, वाल्मीकि के आश्रम के निकट छोड़ आया हूँ। उन परमसाध्वी ने आपको जो संदेश कहा है, वह भी सुनिये।" यों कह कर उन्होंने सीताजी का सारा संदेश सुनाया। सीताजी का संदेश सुन कर श्रीरामजी की आँखों से आँसुओं की अविरल धारा बहने लगी। उस समय लक्ष्मणजी ने उन्हें समझा कर कहा:—"महाराज, काल की गति विचित्र होती है। होनहार कभी नहीं टलती; अतः आप अपने शोक को रोकिये। आपके समान दृढ़ निश्चय वाले और नीतिमान् पुरुष कभी शोकाधीन नहीं होते। संचय करने के अनंतर उसका क्षय और उन्नति के अनंतर पतन अवश्य ही होता है। संयोग के अनंतर वियोग और जन्म के अनंतर मृत्यु भी होती ही है; अतः पुत्र, स्त्री, धन आदि पर अधिक प्रेम नहीं करना चाहिये। मैं तो छोटी बुद्धि वाला हूँ; अतः आपसे कुछ कहने का मेरा अधिकार नहीं है। आप तो स्वयं ही अपना समाधान कर लेने के योग्य हैं। इतना ही नहीं वरन् आप सब लोगों को समझा भी सकते हैं। ऐसी दशा में इस शोक को भुला देना आपके लिए कोई कठिन नहीं है। आपके सदृश पुरुष सिंह ऐसे संकट के समय धैर्य्य से कभी नहीं डिगते। जिस अपवाद के डर से आपने सीताजी का त्याग कर दिया

है; उसकी चर्चा तो आपके सामने भी लोगों में होती रहेगी। तो भी उसके विषय में किसी बात का सोच-विचार न करें। धैर्य-पूर्वक आप अपने मन को सँभालिये और इस दुर्बल बुद्धि का त्याग कर के व्यर्थ संताप को छोड़ दीजिये।" लक्ष्मणजी के उक्त वचन सुन कर श्रीरामजी ने उन्हें अपने हृदय से लगा कर कहा:— "लक्ष्मण, तुम्हारा कथन बिलकुल सत्य है। अस्तु। तुमने मेरी कठिन आज्ञा को पाला; अतः मुझे बड़ा आनन्द हुआ है। तुम्हारे वचन सुन कर के मेरे मन का समाधान हो गया है और मैंने संताप को भी छोड़ दिया है। मैंने गत चार दिनों से राज-काज को बिलकुल ही नहीं देखा है; अतः अब प्रजा की आवश्यकताओं की ओर ध्यान देना आवश्यक है। जो राजा प्रजा का न्याय नहीं करता, वह नर्क को जाता है। दो ब्राह्मण वादी-प्रतिवादियों ने नृग राजा को इसी कारण शाप दे कर गिरगिट-पड़ा बना दिया था। इसलिए यदि कोई प्रजा न्याय माँगने के लिए आई हो तो उसका फैसला करो।" इस प्रकार लक्ष्मणजी से कह कर श्रीरामचन्द्रजी नित्य नियमानुसार राजसभा में चले गये। (उत्तर० सर्ग० ५०—५३)

शिशिर-ऋतु बीत कर वसंत-ऋतु का समय आ पहुँचा था। एक दिन श्रीरामजी नित्य-नियमानुसार प्रातः-कर्मादि से निवृत्त हो कर प्रजा की आवश्यकताओं पर विचार करने के लिए राज-सभा में जा विराजे थे। इतने में द्वारपाल ने आ कर कहा:— "महाराज, यमुना के तट पर रहने वाले ऋषि, च्यवन महर्षि को अपने साथ ले कर, राजद्वार पर आये हुए हैं और वे आप से मिलना चाहते हैं।" तब उन्होंने उन्हें शीघ्र ही वहाँ ले आने

की आज्ञा दी। श्रीरामजी ने उन ऋषियों का बड़े प्रेम और नम्रता से स्वागत कर के उन्हें उत्तम आसनों पर बैठाया। अनंतर वे हाथ जोड़ कर बोले:—"ऋषिवर, आपकी इच्छा मुझसे कहिये। मेरा शरीर, मेरा राज्य और मेरे बंधु आपकी सेवा के लिए तैयार हैं।" तब सभी ऋषियों ने श्रीरामचन्द्रजी को 'धन्य धन्य' कह कर उनकी बहुत प्रशंसा की। च्यवन भार्गव ऋषि ने उनसे कहा:—"मधु का पुत्र लवण राक्षस इन ऋषियों को बहुत कष्ट पहुँचा रहा है। उसके पास उसके पिता को भगवान शङ्कर का दिया त्रिशूल होने से वह अजेय और मतवाला हो रहा है। आपने रावण का वध किया है, अतः आप लवण का भी वध कर सकते हैं। इसी विचार से ये ऋषि आपकी ओर आये हुए हैं।" यह सुन कर श्रीरामजी ने अपने बन्धुओं से कहा:—लवण का वध करने के लिए तुममें से कौन तैय्यार है? तब शत्रुघ्न ने कहा:—"भरतजी ने १४ वर्ष तक वन के दुःख भोगे हैं; अतः इस समय उन्हें कष्ट न दे कर उस कार्य को करने के लिए मुझे आज्ञा दीजिये।" उनके ये वचन सुन कर श्रीरामजी ने उन्हें उस कार्य को पूर्ण करने के लिए भेज दिया और कहा:—"लवण को मार कर तुम्हीं मधुपुरी का राज्य करो। मैं तुम्हें अभी से मधुपुरी का राज्याभिषेक कर देता हूँ।" यह कह कर महर्षि वसिष्ठजी से राज्याभिषेक की सामग्री मँगवा कर के उन्होंने शीघ्र ही सभी ऋषियों के द्वारा बड़े आनन्द से शत्रुघ्न का अभिषेक कर दिया। दूसरे दिन श्रीरामजी ने उनके साथ सेना दे कर कहा:—"तुम आगे जाओ। ये ऋषि सेना के पीछे आवेंगे। लवण राक्षस को वर मिला है कि जो कोई उसके सामने आवेगा

वही मारा जायगा। इसलिए तुम गुप्त रह कर इस बाण से लवण को मारना। इस शर को श्रीविष्णु ने मधु-कैटभ के वध के लिए निर्माण किया था।" यों कह कर उन्होंने एक बाण शत्रुघ्न को दे दिया। तब शत्रुघ्न श्रीरामजी के चरणों पर मस्तक रख कर और उनकी परिक्रमा कर के वहाँ से चल दिये। वे संध्या समय तक गंगाजी को पार कर के उस दिन वाल्मीकि के आश्रम में टिक गये। उसी दिन सीताजी के दो युग्म-पुत्र हुए। आश्रम में चारों ओर आनन्द की धूम मच गई। शत्रुघ्नजी को ये समाचार मालूम होते ही वे भी वहाँ पर गये और उन नवजात बालकों को देख कर उन्हें बड़ा आनन्द हुआ। उन्होंने सीताजी का नम्रतापूर्वक अभिनंदन किया। तब महर्षि वाल्मीकि ने उन बालकों का रक्षो-बन्धन करने के लिए दर्भ को मंत्रित कर के उनके अग्र अर्थात् कुश तोड़ कर दाइयों से बड़े पुत्र को अभिषिंचन करने के लिए कहा। अनन्तर कुश के नीचे के हिस्से (लव) पुनः उन्हें दे कर के छोटे बालक का अभिषिंचन करने के लिए कहा और आशी-र्वाद दिया कि ये बालक आगे चल कर कुश और लव के नाम से प्रसिद्ध होंगे। (उत्तर० सर्ग० ६०—६६)

दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही शत्रुघ्नजी ने प्रातः कर्मादि से निवृत्त होकर पश्चिम की ओर कूच कर दिया। सात दिन तक चलने पर वे यमुना नदी पर भार्गव मुनि के आश्रम में जा पहुँचे और वहां पर उस रात को रह कर दूसरे दिन प्रातःकाल ज्यों ही लवण राक्षस भोजन ढूँढ़ने के लिये मधुपुरी से चल दिया, त्यों ही यमुना को पार कर मधुरा के द्वार में जा डटे। जब दोपहर के समय लवण अनेक पशु और मनुष्यों को मार

कर उनके मांस का बोझ ले कर आया; तब उसे देखते ही शत्रुघ्न-जी ने धनुष उठा कर कहा कि "मैं राजा दशरथ का पुत्र और रामचन्द्रजी का बन्धु तुझे मार कर इस देश को भयरहित करने के लिए आया हूँ; इसलिए युद्ध के लिये तैयार हो जा।" उनके ये वचन सुन कर लवण ने मांस का बोझ उतार कर रख दिया। उस समय उसके पास त्रिशूल तो था नहीं; अतः एक वृक्ष को ही उखाड़ कर वह शत्रुघ्न पर झपटा। बस फौरन शत्रुघ्न ने ज्यों ही श्रीरामजी का दिया हुआ वह दिव्य बाण उसपर छोड़ा त्योंही वह लवण के हृदय को फोड़ कर पुनः शत्रुघ्न के तर्कश में लौट आया। इस प्रकार शत्रुघ्न ने लवण को मार कर उस देश को अभय दिया। पीछे से उनकी सेना भी वहाँ पर जा पहुँची और उसके साथ ही साथ अयोध्या से गये, हुए व्यापारी, शिल्पज्ञ आदि लोग भी जा पहुँचे। उन्होंने मधुपुरी बसाई; तब वह देश 'शूरसेन' के नाम से प्रसिद्ध हुआ और शत्रुघ्नजी की छत्रछाया में सभी प्रकार के धन-धान्यादि से वह समृद्ध हो गया। शत्रुघ्नजी ने बारह वर्ष तक मथुरा में भलीभांति राज्य करके उस देश को सुखी बना दिया। अनन्तर वे श्रीरामचन्द्रजी के दर्शन की लालसा से वहाँ से चल दिये और पहले की नाई, वाल्मीकि के आश्रम में भी एक दिन रहे। आश्रम में रामायण का वीणा-मृदंग पर गायन हो रहा था, उसे सुन कर, श्रीरामजी के पूर्व-चरित्र का प्रत्यक्ष रूप से उन्हें आभास होने से वे तल्लीन हो गये। पर, उस आश्चर्य का कारण वाल्मीकि ऋषि से पूछने की उन्हें हिम्मत न हुई। अपने दिल को तथा सैनिकों को उन्होंने यही कह कर किसी प्रकार समझा दिया कि ऋषियों के आश्रम पर ऐसे चमत्कार तो

होते ही रहते रहते हैं। दूसरे दिन शत्रुघ्न वहाँ से चले और तीसरे दिन अयोध्या जी जा पहुँचे। उस समय राजसभा में उन्होंने श्रीरामजी का अवितृप्त दर्शन किया और उन्हें हमेशा अपने पास रखने के लिए प्रार्थना की। श्रीरामजीने उन्हें समझाया कि 'प्रजा का पालन करना ही क्षत्रियों का परमधर्म है; अतः तुम्हें उसी धर्म का पालन करना चाहिए।' यह कह कर सात दिन तक उन्हें अपने पास रख कर पुनः मथुरा को अपना राजकाज सँभालने के लिये बिदा कर दिया। (उ०-स० ६७-७२)

शत्रुघ्न के चले जाने पर एक दिन प्रातःकाल के समय एक ब्राह्मण बारह-तेरह वर्ष के बालक के प्रेत को ले कर राजसभा के बाहर आ कर विलाप करके कहने लगाः—"हम माता पिता के जीवित रहते हुए हमारा यह छोटा अल्प आयु वाला लड़का क्यों मरा ? मुझे तो स्मरण नहीं है कि मैं कभी झूठ बोला हूँ या अन्य कोई पाप मैंने किया हो। मेरी वर्तमान स्थिति से यह भी संभव नहीं है कि मैंने पूर्व जन्म में भी कोई भयंकर पाप किया हो; अतः यह संकट तो राजा के ही किसी अपराध के कारण मुझपर आया है। राजा जो पाप करते हैं अथवा उनके राज्य में जो पाप होते हैं, वे ही प्रजा को सताते हैं। महाराज, आप इस विषय में कुछ सोच-विचार करें; अन्यथा मैं अपनी पत्नी सहित इस राजद्वार पर ही प्राण दे दूंगा।" इस प्रकार ब्राह्मण के के शोकोद्गार सुन कर श्रीरामजी ने वसिष्ठ प्रभृति विद्वान ब्राह्मणों और मन्त्रियों को सभा में बुला कर उनसे ब्राह्मण के सारे हाल कहे और पूछा कि यह ब्राह्मण मुझपर या मेरे शासन पर पाप का घड़ा फोड़ता है; अतः कृपया बताइए इसका

कथन कहाँ तक सत्य है ? इस प्रकार श्रीरामजी के खिन्न और आतुर वाणी से किये हुए इस प्रश्न को सुन कर नारदजी ने उत्तर दिया:—"श्रीराम, इस अनर्थ के होने, की कथा सुनिए। कृतयुग में तो केवल ब्राह्मण ही तपस्या करते थे। ब्राह्मणों के अतिरिक्त, अन्य कोई भी तप नहीं करता था: अतः उस युग में सभी लोग दीर्घदृष्टिवाले, नीरोग और दीर्घजीवी थे। अनन्तर त्रेतायुग में क्षत्रिय भी तप करने लगे, जिससे वीर्य और तपोबल के कारण उस युग में क्षत्रिय और ब्राह्मण सुख-संपन्न हो गये। पर, अधर्म ने अपना अड्डा इस पृथ्वी पर जमा दिया। अनृत, हिंसा, असंतोष और विरोध येही अधर्म के चार पाँव हैं। उनमें से त्रेतायुग में एक पाँव पृथ्वी पर पड़ते ही मनुष्य की आयु कम हो गई। द्वापर में वैश्य भी तप करने लगे और ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य अर्थात् तीनों वर्ण तपस्या में फँस गये। पर, अधर्म के दूसरे पांव 'हिंसा' का पृथ्वी पर अड्डा जम जाने से उनकी आयु और भी अधिक घट गई। अस्तु। शूद्रों को तो तप करने का अधिकार ही नहीं है। हां, यह बात जुदी है कि भावी अर्थात् कलियुग में तो वे भी तप करेंगे। अतः मालूम होता है कि इस द्वापर युग में ही कोई शूद्र तप कर रहा है; इसीसे यह अनर्थ हुआ है। इसलिए आप उस शूद्र को ढूँढ कर उचित दण्ड दीजिये, जिससे यह ब्राह्मण-पुत्र पुनः जीवित हो सके"। नारदजी के उक्त वचन सुन कर श्रीरामचन्द्रजी ने लक्ष्मणजी से उक्त ब्राह्मण को समझाने के लिये कहा और उसके पुत्र के शव को तेल में रख छोड़ने की आज्ञा दी। अनन्तर पुष्पक-विमान का स्मरण करते ही वह विमान हाथ जोड़े वहां पर उपस्थित हो गया।

फिर श्रीरामजी, सभी ऋषियों को प्रणाम करके, उस विमान में बैठे और सारी पृथ्वी को ढूँढ़ने के लिये चल दिये। उन्होंने पूर्व पश्चिम और उत्तर दिशाएँ ढूँढ़ीं, पर तप करनेवाले शूद्र का पता उन्हें कहीं पर भी नहीं लगा। अनन्तर दक्षिण दिशा में खोज करते हुए उन्हें शैवल पर्वत के नीचे सुंदर सरोवर के निकट एक वृक्ष से उलटा टँगा हुआ एक तपस्वी दिखाई दिया। तब श्रीरामजी ने शीघ्र ही विमान को रोक कर उससे पूछा कि तू कौन है और क्यों तप करता है ? मैं अयोध्या का राजा रामचन्द्र यह बात जानना चाहता हूँ। तब उसने कहा कि मैं शंबूक नामक शूद्र स्वर्ग-प्राप्ति के लिये तप कर रहा हूँ। उसी समय श्रीरामजी ने अपने खड्ग से उसका सिर काट कर उसे यथायोग्य दण्ड दिया। स्वर्ग से श्रीरामचन्द्रजी पर पुष्पों की वर्षा हुई और देवताओं ने रामचन्द्रजी को प्रत्यक्ष रूप से दर्शन दिये। तथा ब्राह्मण पुत्र के अयोध्या में जीवित हो जाने के सुसमाचार सुना दिये। ऋषि अगस्त्यजी का आश्रम निकट ही होने के कारण पहले उनके दर्शन करके फिर अयोध्या को जाने की आज्ञा दे कर देवता-गण अदृश्य हो गये। तब श्रीरामजी अगस्त्यजी के दर्शन करने के लिए गये, तब उन्होंने बड़े प्रेम से उनका स्वागत करके शंबूक को यथायोग्य दण्ड देने के उपलक्ष में उनकी बड़ी प्रशंसा की और कहा:—"जिस प्रकार तप के बिना सिद्धि प्राप्त नहीं होती ठीक वैसेही पात्रता के बिना तप नहीं, अतः आपने शंबूक को मार कर ब्राह्मण-पुत्र को जीवित करके महान् कार्य किया है।" फिर अगस्त्यजी ने श्रीरामजी को एक दिव्य कंकण दिया और उन्होंने भी भक्तिपूर्वक उसका स्वीकार किया। फिर

श्रीरामजी के उस विस्तीर्ण देश के अरण्य होने तथा उस दिव्य सरोवर की उत्पत्ति का हाल पूछने पर अगस्त्य ऋषि दण्डकारण्य की उत्पत्ति की कथा यों कहने लगे:—मनु के पुत्र इक्ष्वाकु के सौ पुत्र थे, अतः उन्होंने उन सब को पृथ्वी बांट दी थी। उनका सब से छोटा पुत्र दण्ड बड़ा आवारा था, अतः उसे विन्ध्य और शैवल पर्वत के बीच का यह सौ योजन लंबा-चौड़ा देश इक्ष्वाकु ने दिया था। एक बार दण्ड ने भृगु ऋषि की नवयौवना कन्या अरजा पर बलात्कार किया। तब भृगुजी ने इस देश पर लगातार सात दिनों तक राख बरसाई। और फिर शाप दिया कि यह देश दण्ड सहित नष्ट हो जावेगा। अपने आश्रम के लोगों को उस देश से निकल कर बाहर बसने की आज्ञा दे दी। अतः भृगुजी के शाप के अनुसार यह देश अरण्य बन गया है; तभी से इसे दंडकारण्य कहते हैं। वहां के लोग जहां पर जा कर बसे, वही जनस्थान कहलाने लग गया। भृगुऋषि ने अरजा को तप करने के लिये उसी आश्रम में रक्खा और वहांपर एक सुंदर सरोवर उत्पन्न किया।—इस प्रकार दण्डकारण्य की कथा कहने पर अगस्त्यजी ने श्रीरामजी को, उस दिन, अपने ही आश्रम में सत्कार पूर्वक रख लिया। दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही श्रीरामजी पुष्पक विमान में बैठ कर अयोध्या को लौट गये तथा उस ब्राह्मण के जीवित पुत्र सहित उसका योग्य सत्कार करके उसे अपने घर को विदा किया। (उत्तर स० ७३—८२)

अनन्तर श्रीरामचन्द्रजी ने भरत और लक्ष्मणजी के परामर्श से सभी पापों का नाश करनेवाला अश्वमेध यज्ञ करने का निश्चय किया। उन्होंने चारों दिशाओं के बड़े-बड़े ऋषियों को निमंत्रित

किया और भिन्न-भिन्न देशों के राजाओं को भी बुलाया। किष्किंधा से सुग्रीव अपनी बन्दर-सेना सहित, श्रीरामजी का संदेश पाते ही, यज्ञ में सहायता करने के लिए अयोध्या जा पहुँचे। उसी प्रकार विभीषण भी लंका से अपने राक्षस सरदारों को साथ लेकर वहां आ उपस्थित हुए। शत्रुघ्न भी श्रीरामजी की आज्ञानुसार मथुरा से शीघ्र ही चल दिये। फिर भरत-शत्रुघ्नजी ने ऋषियों के मतानुसार गोमती के तट पर नैमिषारण्य में एक विस्तीर्ण यज्ञ-मंडप तैयार किया। राजा और ब्राह्मणों के रहने के लिए उसके पास सुन्दर भवन और पर्ण कुटियाँ बनवाई गईं और सभी प्रकार की धान्यादि सामग्री वहाँ पर एकत्रित की गई। इस प्रकार सारी तैयारियाँ हो जाने पर लक्ष्मणजी अच्छे मुहूर्त्त में सीताजी की सुवर्ण-मूर्ति बड़े ठाटबाट के साथ अयोध्याजी से सरयू-तीर के यज्ञ-मंडप में ले गये और ऋषियों ने शीघ्र ही श्रीरामजी को यज्ञ की दीक्षा दी। फिर उन्होंने उत्तम लक्षणों से युक्त यज्ञ के अश्व को छोड़ कर उसके साथ सेना सहित लक्ष्मणजी को भेजा। जो राजा, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वहाँ पर आते थे, भरत और शत्रुघ्नजी योग्य सत्कार-पूर्वक उनका स्वागत करके वहाँ पर ठहराने का प्रबन्ध करते थे। इस प्रकार यज्ञ का आरम्भ हो जाने पर ब्राह्मणों को भोजन दिये जाने का कार्य आरम्भ हुआ। उनके भोजन की व्यवस्था के लिए सुग्रीव नियत किये गये थे और दक्षिणा देने का कार्य विभीषण को सौंपा गया था। सुग्रीव ने भोजन का ऐसा अच्छा प्रबन्ध किया कि जो कोई जिस पदार्थ को माँगता था, वही उसे परोसा जाता था। उनको इच्छानुसार दान देने का प्रबन्ध भी

विभीषण ने अच्छा किया था। उन्होंने सुवर्ण और रत्नों के ढेर, दान करने के लिये, लगा दिये थे। जब दान दिया जाने लगा, तब सारे ऋषियों के मुख से यही उद्गार निकल पड़े कि इतना दान तो किसी भी अश्वमेध में नहीं दिया गया था! इस प्रकार वह उत्सव लगातार एक वर्ष तक होता रहा। श्रीरामजी के अश्वमेध की अपूर्व कीर्ति को सुनकर वाल्मीकि महर्षि अपने शिष्यों सहित उस यज्ञ को देखने के लिए अयोध्या आये। तब भरतजी ने अत्यन्त प्रेम और नम्रता से उनका स्वागत करके उन्हें एक सुंदर पर्णकुटि में ठहराया। उस समय वाल्मीकि कुश और लव को भी अपने साथ ले गये थे; अतः उन्होंने उन्हें स्थान स्थान पर—राजा के महलों में, ऋषियो के आश्रमों में, बाजार में, राजद्वार में—वीणा मृदंग सहित रामायण-गान करने की आज्ञा दी। जब वे सुन्दर राजपुत्र अपने मधुर कंठ से उस अद्भुत काव्य को गाने लगते, तब सुनने वाले मोहित हो जाते थे। इस प्रकार सहस्रों लोग उन बालकों की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। जब उनकी कीर्ति श्रीरामचन्द्रजी तक पहुँची, तब एक दिन श्रीरामजी ने उन बालकों को यज्ञ-मंडप में बुलाकर, सभी ऋषियों के सामने, उस काव्य को गाने की आज्ञा दी। उस दिन उन बालकों ने आदि-काण्ड के २० सर्ग सुनाये। उन्हें सुनकर श्रीरामचन्द्रजी इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने उन बालकों को अठारह सहस्र मुहरें देने के लिये भरतजी से कहा। और, जब भरतजी वह पारितोषक उन्हें देने लगे, तब उन्होंने कहा:—"हम तो आश्रमवासी बालक हैं; हमें सोना लेने से क्या लाभ है?" उस समय सारी सभा आश्चर्य चकित हो गई। उन बालकों के

स्वरूप को देखकर के लोग अत्यन्त ही आश्चर्य-मग्न हो गये। वे तो केवल श्रीरामजी के ही प्रतिबिंब थे। फर्क था तो केवल यही कि उनके सिर पर जटाएँ थीं और शरीर पर वल्कल थे। प्रत्यक्ष श्रीरामजी की नाईं उनका मुख देखकर लोग अत्यन्त मोहित हो गये; और जब वे सुन्दर बालक अपने मधुर कंठ से प्रत्यक्ष श्रीरामचन्द्रजी की सभा में आदि-काव्य गाने लगे, तब तो सभी लोग सहसा तल्लीन और तटस्थ हो गये! इस प्रकार उस यज्ञ मंडप में, यज्ञ से अवसर पाने पर जब कई दिनों तक उन बालकों के गायन होते रहे, तब श्रीरामजी को ये समाचार मिले और उन्हें विश्वास भी हो गया कि वे उन्हीं के पुत्र हैं। बाद में उन्हें यह भी मालूम हुआ कि सीताजी भी महर्षि-वाल्मीकि के साथ आई हैं। अतः एक दिन श्रीरामचन्द्रजी ने कुशल और आचार-संपन्न दूतों को बुला कर भरी सभा में उनसे कहा:—"तुम वाल्मीकि महर्षि से हाथ जोड़ कर मेरा यह संदेश कहो कि, 'भगवन्, यदि आपकी आज्ञा हो तो सीताजी को राज-सभा में आ कर अपनी शुद्धता के विषय में शपथ लेनी चाहिए, इससे मुझे अत्यन्त आनन्द होगा' और इस विषय में वाल्मीकि और सीताजी का जो कुछ अभिप्राय हो, वह मुझसे आ कर कहो।" तब उन दूतों के द्वारा श्रीरामजी के उस संदेश को सुन कर वाल्मीकि ने कहा:—"अच्छा है, सीताजी आपकी आज्ञा-नुसार कल आपकी सभा में अपनी शुद्धता सिद्ध करेंगी; स्त्रियों के लिए तो पति ही मुख्य देवता है।" तदनुसार दूसरे दिन उस यज्ञमंडप में सारी सभा भर जाने पर श्रीरामचन्द्रजी ने यज्ञ के प्रीत्यर्थ वहाँ पर आये हुए सभी ऋषियों और लोगों को खास

कर बुलवाया। तब वसिष्ठ, विश्वामित्र, जाबाली, कश्यप, अगस्त्य, दुर्वासा, भृगु, मार्कण्डेय, पुलस्त्य, मौद्गल, गार्ग्य, च्यवन, शतानन्द, नारद, पर्वत आदि महान-महान ऋषि सभा में एकत्रित हो गये। श्रीरामजी ने उन्हें उत्तमोत्तम आसनों पर बैठाया। सारे राजा, बन्दर और राक्षस भी अपनी-अपनी जगह पर जा बैठे। क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि भी उस दृश्य को देखने के लिए यज्ञमंडप में इकट्ठे हो गये—सब के दिल में केवल एक उत्सुकता और उत्कंठा थी। 'अब क्या होगा?' सभा पाषाण की नाईं निश्चल हो कर बैठी हुई थी। उस समय आगे की ओर वाल्मीकि महर्षि और उनके पीछे-पीछे हाथ जोड़, आंखों से आंसू बहाती और आवेदन किये हुए सीताजी सभा के बीच में आ कर खड़ी हो गईं। उन्हें देख कर सारे सभाजनों के मुख से 'धन्य-धन्य' की शान्त-ध्वनि निकल पड़ी। श्रीरामचन्द्र और सीताजी का अपूर्व प्रेम और उनके उस समय के विचित्र दुख का प्रतिबिंब, उन दोनों की ओर देखनेवालों के अन्तःकरणों पर भी पड़ा। प्रत्येक सभाजन के नेत्रों से अश्रु बहने लगे। किसी-किसी के मुँह से 'धन्य राजा रामचन्द्र' 'धन्य सीताजी' आदि उद्गार भी निकल पड़े। कुछ देर में सारी सभा के शान्त हो जाने पर वाल्मीकि ऋषि सभा के बीच में खड़े हो कर बोले:—"दाशरथे रामचन्द्र, तुमने जब से इन पतिव्रता और धर्मशीला पत्नी सीताजी का, लोकापवाद के कारण, वन में त्याग दिया है, तभी से वे मेरे आश्रम में रहती हैं। अब वे तुम्हारा समाधान करने के लिये अपनी शुद्धता को सिद्ध करेंगी। सीताजी के ये दो पुत्र तुम्हारे ही हैं। मैं प्रचेतस का आठवां पुत्र हूँ। मैंने आजतक कभी असत्य संभाषण नहीं

किया है। मेरा विश्वास है कि यह विदेह राजा की कन्या सर्वथा पापरहित और शुद्ध है। मेरा यह कथन बिलकुल सत्य है। यदि यह असत्य होगा तो मेरी सहस्त्रों वर्षों की तपस्या फल-रहित हो जावेगी। सीताजी भी अपने को पापरहित होने का तुम्हें विश्वास दिलावेंगी।" तब वाल्मीकि के उक्त वचन सुन कर श्रीरामजी हाथ जोड़ कर बोले:—"सीताजी एक बार अग्नि में कूद पड़ी थीं, तब सारे देवताओं ने उनके पापरहित होने के विषय में मुझे विश्वास दिलाया था; इसीसे उनका स्वीकार करके उन्हें मैं अयोध्या ले आया था। पर, जब यहां उनके विषय में लोकापवाद आरंभ हो गया; तब मैंने सीताजी को पापरहित जान करके भी, उनका त्याग कर दिया था; अतः आप मुझे क्षमा करियेगा। मुझे भलीभांति ज्ञात है कि ये दोनों पुत्र भी मेरे ही हैं। पर, अब इन सभी लोगों को विश्वास दिलाने के लिए सीता-जी को भी अपनी शुद्धता सिद्ध करनी चाहिए। और यदि वे सभी लोगों के सामने शुद्ध सिद्ध हो जावेंगी तो मेरा उनपर बड़ा विश्वास और प्रेम होगा।" इस प्रकार श्रीरामजी के वचन सुन कर सीताजी आगे बढ़ीं। उस समय उन्होंने तपस्वी-जनोचित गेरुए वस्त्रधारण किये थे। वे यों तो पहिले ही से बहुत कृश थीं और तिस पर भी शोक के कारण और भी अधिक दुर्बल हो गई थीं। उस समय वे पृथ्वी की ओर देख रही थीं। तब उन्होंने हाथ जोड़ जोर से कहा:—"यदि मैंने आज दिन तक श्रीरामजी के अतिरिक्त अन्य किसी पुरुष के विषय में अपने मन में विचार न किया हो तो हे धरणी माता, तुम मुझे अपने पेट में स्थान दो। यदि मन, कर्म और वचन से आज तक मैंने श्रीरामचन्द्रजी पर ही

प्रेम किया हो और यदि वास्तव में यह बात सत्य हो कि मुझे श्रीरामजी के अतिरिक्त अन्य किसी भी मनुष्य से परिचय नहीं है, तो मुझे पृथ्वीमाता के पेट में अवश्य ही स्थान मिलेगा।" इस प्रकार सीताजी के तीन वार शपथ लेते ही पृथ्वी एकाएक फट गई और उसमें से एक दिव्य सिंहासन बाहर निकल आया। उस रत्नजटित सिंहासन पर प्रत्यक्ष भूमाता ही विराज रही थीं। उन्होंने अपनी प्रिय कन्या को अपने सिंहासन पर बैठा लिया और सहस्रों लोगों के देखते हुए वह सिंहासन पृथ्वी के भीतर अदृश्य हो गया! उस चमत्कार को देख करके तो सभी लोग मोहित हो कर अपने आपको तक को तक भूल गये! मुनि, राजा, बन्दर और राक्षस आश्चर्यचकित होकर सीताजी की ओर टक-टकी लगाए देखते ही रह गये। एक पल तक वह सारी सभा चित्र की नाईं तटस्थ हो गई। कुछ देर में सचेत हो कर सीताजी के पृथ्वी के भीतर अदृश्य हो जाने का पूर्ण ज्ञान हो जाने पर सभी बन्दरों के मुँह से 'धन्य-धन्य' उद्गार निकल पड़े और सारे सभाजनों के मुख से भी वे ही शब्द निकले। जब ऋषियों के मुख भी वे ही उद्गार निकले, तब वे श्रीरामचन्द्रजी को सुनाई दिये। उस समय श्रीरामजी भी अपने आपको भूल गये थे। उन धन्योद्गारों को सुन कर वे सचेत हो अपना मुँह नीचे करके दीन मन से अश्रु-प्रवाह करते हुए शोक सागर में डूब गये। इस प्रकार कुछ समय वीत जाने पर उनके क्रोध और शोक का आवेग असहनीय हो गया और वे बोले:—"मैंने आज दिन तक ऐसे कठिन दुख का कभी अनुभव नहीं किया; इसीसे यह आवेग आज मेरे मन को विचलित कर रहा है। मेरे सामने और

देखते ही देखते मेरी प्रत्यक्ष लक्ष्मी-रूपी स्त्री अदृश्य हो गई है। सीताजी एकबार पहले भी मेरी दृष्टि की ओट में हो गई थीं और उन्हें रावण ने समुद्र के पार लंका में ले जा कर रक्खा था। पर, मैं उन्हें वहाँ से भी छुड़ा लाया तो फिर पृथ्वी के भीतर से उन्हें ले आना क्या मेरे लिये कठिन है ?" यह कहते ही उनकी आंखें क्रोध से लाल हो गईं और वे अपने आपको भूल कर बोले:—"देवी वसुधा, मेरी सीताजी को मुझे वापिस दे दो; अन्यथा मैं अपने क्रोध का बदला तुमसे लूँगा। माता वसुधा, या तो मेरी सीताजी मुझे वापिस दे दो या मुझे भी अपने पेट में समा लो। उसके सहवास में मुझे पाताल में भी स्वर्ग सुख मिलेगा। पृथ्वीमाता, यदि तुम मेरी सीता को वापिस न दोगी तो मैं नदी, पर्वत और समुद्र सहित तुम्हारा नाश कर डालूंगा। और सारी पृथ्वी का नाश करके सर्वत्र जलमय कर दूंगा।?" यों कह कर वे धनुष बाण लेने के लिए उठ खड़े हुए। तब सभी ऋषियों और देवताओं ने उनके क्रोध को शान्त किया और कहा:—"अभी जो कुछ हुआ उसका कारण तो आपको भली-भांति ज्ञात ही है; अतः आप स्वयं ही विचारिए कि आप कौन हैं ?" आदि बातें कह कर उन्होंने श्रीरामचन्द्रजी को समझाया, तब श्रीरामजी सभा समाप्त करके, दीन मन से पर्णकुटि में जा बैठे और उस दिन और रात भर सीतादेवी के उस अद्भुत दिव्य-कार्य का स्मरण करते रहे। दूसरे दिन पुनः वे यज्ञमंडप में गये। और, सभी राजाओं को बुला कर अपने पुत्रों से; भविष्य रामायण अर्थात् इस घटना के बाद होने वाली सारी बातों को महर्षि वाल्मीकि ने जिस तरह वर्णन किया हो, ठीक वैसा ही निःशंक हो कर गानेकी

आज्ञा दी। वह भविष्य-कथा इस प्रकार है। (उ० स ८३-५८)

यज्ञ-कार्य समाप्त हो जाने पर श्रीरामचन्द्रजी ने सुग्रीव सहित बन्दरों और विभीषण सहित सारे राक्षसों को अपने अपने घर बिदा कर दिया। फिर वे सीताजी के विरह-दुःख को, अपने दोनों पुत्रों की ओर देखकर भूल गये और अपना सारा समय प्रजा का कल्याण-साधन करने ही में बिताने लगे। इस प्रकार सहस्रों वर्ष बीत गये। रामराज्य में प्रजा अत्यन्त सुख का अनुभव करने लगी। योग्य समय पर वर्षा हो कर लोग धनधान्यादि से संपन्न हो गये। किसी की भी अकाल-मृत्यु नहीं होती थी और न कोई स्त्री विधवा होती थी। श्रीरामचन्द्रजी ने अनेक वाजपेय, अग्निष्टोम, अतिरात्र आदि यज्ञ किये। उन यज्ञों में सीताजी की सुवर्णमयी प्रतिमा पत्नी के स्थान पर रख दी जाती थी; क्योंकि श्रीरामचन्द्रजी ने दूसरा विवाह नहीं किया था। कुछ वर्षों के अनन्तर राज-माता कौशल्याजी भी स्वर्गवासिनी हुईं, उस समय श्रीरामजी ने अनेक धार्मिक कार्य किये। कौशल्याजी के अनन्तर सुमित्रा और कैकेयी की भी मृत्यु हो गई और उनके श्राद्धादि कर्म भी राजा रामचन्द्रजी ने अपने वैभव के अनुसार कर दिये। इस प्रकार अनेक वर्ष बीत जाने पर भरतजी के मामा युधाजित् ने अपने गुरु गार्ग्यजी के साथ घोड़े, हाथी, रत्न आदि श्रीरामजी को भेंट करने के लिये भेजे और कहला भेजा कि "सिंधु नदी के दोनों तट पर के प्रदेशों को गंधर्व दबा बैठे हैं; अतः यदि आप उस प्रदेश को जीत लेंगे तो अच्छा होगा। आपके बिना और कोई उस कठिन कार्य को नहीं कर सकता।" तब श्रीरामजी अगुवानी करके गार्ग्य गुरु को

अयोध्याजी लिवा ले गये और युधाजित के संदेश को सुनकर उन्होंने शीघ्र ही भरतजी से सेना को साथ ले जाकर उस देश को जीत लेने की आज्ञा दी; तथा यह भी कहा कि:—"अपने तक्ष और पुष्कल नामक दो पुत्रों को उस देश के सम-विभाग देकर उनकी राजधानियों के लिए नये नगर भी बसा देना और फिर वापिस चले आना"। श्रीरामजी ने शीघ्र ही अपने दोनों भतीजों का राज्याभिषेक भी कर दिया और उनको प्रचंड सेना सहित भरतजी के साथ भेज दिया। भरतजी डेढ़मास में कैकेय नगर को जा पहुँचे और फिर अपने मामा को साथ लेकर उन्होंने गंधर्वों पर चढ़ाई कर दी तथा उनका पराभव करके उस देश को छुड़ा लिया। अनंतर सिंधु के पूर्व की ओर के देश में तक्ष को राज देकर तक्ष-शिला नगरी बसा दी और पश्चिम की ओर के देश में पुष्कलावती नगरी बसा कर वहाँ का राज्य पुष्कल को सौंप दिया। इस प्रकार उस प्रदेश का प्रबन्ध करके जब भरतजी पुनः अयोध्या को वापिस लौट आये, तब श्रीरामजी को अत्यन्त आनन्द हुआ। फिर श्रीरामचन्द्रजी ने लक्ष्मणजी के दो पुत्रों—अंगद और चन्द्रसेन के लिये वायव्य दिशा के कारुपथ प्रदेश में और मलदभूमि में अंगदिया और चन्द्रकांता नामक दो नगर बसा कर वहाँ के राज्य उन दोनों को सौंप दिये। तब लक्ष्मण और भरतजी उनके साथ चले गये और उन दोनों राजपुत्रों को नये राज्य पर स्थापित करके वे अयोध्या लौट आये। श्रीरामजी ने शत्रुघ्न को तो पहले ही से मथुरा का राज्य सौंप दिया था। इस प्रकार उन्होंने अपने बंधुओं के पुत्रों को भी नये राज्य सौंप करके सुखी बना दिया। (उत्तर० सर्ग० ९९-१०२)

एक दिन सारे जगत का संहार करनेवाला स्वयं काल मुनि का रूप बनाकर श्रीरामजी से मिलने के लिए गया। उस समय, ब्रह्मदेव के किसी अत्यन्त तेजस्वी दूत के आने की खबर मालूम होते ही, श्रीरामचन्द्रजी ने सत्कार-पूर्वक उसे आसन पर बैठाया और पूछा कि ब्रह्मदेवजी की क्या आज्ञा है? तब मुनि ने प्रार्थना की कि:—"आपके और हमारे संभाषण को और कोई न सुनने पावे और यदि कोई सुने तो उसे प्राण-दंड दिया जावे।" यह सुनकर श्रीरामजी ने लक्ष्मणजी उक्त आज्ञा सुना कर उन्हें द्वार पर बैठा दिया। तब काल ने ब्रह्माजी का संदेश सुनाया कि,—"आप स्वयं विष्णु के अवतार हैं। जिस कार्य के लिये आपने अवतार धारण किया था वह पूर्ण हो गया है; इसलिए अब देवतागण आपकी राह देख रहे हैं; अतः आप शीघ्र ही यहाँ से चल दीजिये और यदि अपनी प्रजा की और भी अधिक सेवा करने की इच्छा हो तो आप और कुछ दिनों तक यहाँ और रहिये।" उस समय श्रीरामजी ने उत्तर दिया कि 'ठीक है।' इतने में बाहर दुर्वासा ऋषि आ गये और वे लक्ष्मणजी से बोले:—"मैं श्रीरामचन्द्रजी से अभी मिलना चाहता हूँ; अतः मुझे तुम अभी उनसे मिला दो।" पर, जब लक्ष्मणजी टाल-मटोल करने लगे, तब ऋषि बिगड़ कर बोले:—"सुनो लक्ष्मण, यदि तुम विलम्ब करोगे तो तुम्हें, भरत को, रामचन्द्र को और सारे राज्य को शाप दे दूंगा। इस समय मैं अपने क्रोध को नहीं रोक सकता।" उनके यह वचन सुनकर के तो लक्ष्मणजी बड़े पशोपेश में पड़ गये। अन्त में उन्होंने यह सोच कर कि—सभी पर विपत्ति आने की अपेक्षा यदि मुझ अकेले पर ही आवे तो कोई

देखता नहीं, वे भीतर घुस गये और उन्होंने श्रीरामजी से प्रार्थना की कि ऋषि दुर्वासाजी आपसे मिलना चाहते हैं। तब श्रीरामजी, मुनि का भेष बनाये हुए काल को विदा करके, ऋषि दुर्वासाजी से मिले और हाथ जोड़ कर पूंछा कि 'आपकी क्या इच्छा है ?' यह सुनकर ऋषि ने कहा कि "सहस्र वर्ष की तपस्या आज मैंने पूरी की है। इस समय मुझे बहुत भूख लगी है; अतः जो अन्न हो वही मुझे दो।" तब श्रीरामजी ने बड़े प्रेम और आदर से उन्हें भर पेट भोजन कराया। भोजन करते ही ऋषि दुर्वासा उन्हें आशीर्वाद देकर वहाँ से चल दिये।

ऋषि दुर्वासाजी के वहाँ से चले जाते ही श्रीरामजी का आनन्द नष्ट हो गया और अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार लक्ष्मणजी को प्राण-दंड देने के विचार से उनका चित्त अत्यन्त दुःखित हो उठा तथा वे अपना शिर नीचा कर के बहुत देर तक आँसू बहाते हुए चुपचाप बैठे रहे। तब लक्ष्मणजी ने रामचन्द्रजी के मन की स्थिति को शीघ्र ही मालूम कर लिया और वे हाथ जोड़ कर बोले:—"महाराज, आपको तो अपनी प्रतिज्ञा का पालन करना ही चाहिये। आप निःशंक हो कर मेरा शिरच्छेद करिये। इस भावी परिणाम के विषय में सोच-विचार कर के ही मैं आपके एकान्त स्थान पर आया था। अब इस जगत में मुझे किसी बात की इच्छा नहीं है। यदि आपके हाथ से मेरी मृत्यु होगी तो मैं अपना अहोभाग्य जानूँगा। आप जरा भी दुखी न होइएगा।" पर, श्रीरामजी ने अपने सारे मंत्रियों और महर्षि वसिष्ठजी को बुला कर उनसे सारी घटना कही और पूँछा कि अब मुझे क्या करना चाहिये ? तब ऋषि वसिष्ठजी बोले:—

"श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण का त्याग कर देना ही तुम्हें उचित है; अतः तुम उनका त्याग कर के तपस्वी के सामने की हुई अपनी प्रतिज्ञा का पालन करो। यदि तुम्हारी प्रतिज्ञा नष्ट हो जावेगी तो तुम्हारा धर्म भी नष्ट हो जावेगा और धर्म के नष्ट हो जाने पर सारी प्रजा का अकल्याण होगा; अतः तुम लक्ष्मणजी का त्याग कर के धर्म का पालन करो। तब वशिष्ठजी के उक्त परामर्श को सुन कर श्रीरामचन्द्रजी भरी सभा में बोले:—"लक्ष्मण, धर्म की रक्षा के लिए मैं तुम्हारा त्याग करता हूँ। सज्जनों के लिए त्याग तो वध की नाईं होता है।" तब उक्त आज्ञा को सुन कर लक्ष्मणजी श्रीरामचन्द्रजी को प्रणाम कर के सभा से चल दिये। वे पुनः घर पर नहीं गये और उन्होंने शरयू नदी पर स्नान कर के शुचिर्भूत हो दर्भासन पर बैठ कर अपनी साँस को रोक लिया और प्रायोपवेशन कर के अपने प्राण त्याग दिये।

श्रीरामचरित्र का सब में अधिक उदात्त सार तो यह है कि, अपने को चाहे कितना ही अधिक दुःख क्यों न हो, तो भी धर्मपालन के लिए प्राण से अधिक प्रिय वस्तु का भी त्याग कर देना चाहिए। केवल इसी तत्व के अनुसार श्रीरामचन्द्रजी ने पहले सीताजी का त्याग किया और बाद में लक्ष्मणजी को भी त्याग दिया था। लक्ष्मणजी का त्याग कर देने पर वे दुःख से व्याकुल हो कर महर्षि वसिष्ठ, एवं सभी मंत्रियों और अन्य सभाजनों से बोले:— "मैं आज ही भरत को अयोध्या का राज्याभिषेक करा के वन को चला जाता हूँ। लक्ष्मणजी की जो स्थिति हुई है उसीका स्वीकार किये बिना मैं नहीं रह सकता; अतः शीघ्र ही भरतजी के राज्याभिषेक की तैयारी करो। मैं आज ही महाप्रस्थान

करूँगा।" तब उनके इन दुःखोद्गारों को सुन कर भरतजी सहित सारी प्रजा शोक में डूब गई। भरतजी ने तो शपथ ले कर कहा:—"श्रीरामचन्द्रजी, मुझे राज करने की तनिक भी इच्छा नहीं है; अतः मुझे भी आप अपने साथ ले चलिये और कोशल देश का राज कुश को सौंप कर उत्तरीय कोशल लव को सौंप दीजिये।" तब सभी मंत्रियों ने भी हाथ जोड़ कर वही प्रार्थना की और श्रीरामचन्द्रजी के साथ ही स्वर्ग को जाने की इच्छा प्रकट की। महर्षि वसिष्ठजी ने भी उन्हींके कथन की पुष्टि की। इधर सारे प्रजाजनों ने भी हाथ जोड़ कर श्रीरामजी से कहा:—"महाराज, यदि आपका हम पर प्रेम हो तो हमें भी अपने साथ ले चलिये।" इस प्रकार उन सबके प्रेम से पगे और दुःखदायी वचन सुन कर श्रीरामजी भी उन्हें इनकार नहीं कर सकते थे। अतः शीघ्र ही उन्होंने दक्षिणीय कोशल के कुशावती नगर में कुश को और उत्तरीय कौशल के श्रावस्ती नगर में लव को राजगद्दी पर बैठा दिया और प्रत्येक को सहस्रों रथ, हाथी, घोड़े, धन और रत्न दिये तथा दास दासी, मनुष्य और सेना उनके साथ भेज कर उन्हें अपनी-अपनी राजधानियों को रवाना कर दिया। अनन्तर शत्रुघ्न को बुला लाने के लिए दूतों को मधुरा को भेजा। वे तीन दिन में मधुरा को पहुँचे। जब उन्होंने शत्रुघ्न से सारा हाल कहा तब वे भी कुलक्षय के घोर समाचार सुन कर अत्यन्त दुःखित हुए और उन्होंने भी अपने दोनों पुत्रों को राज्य सौंप दिया। सुबाहु को तो मधुरा दे दी और शत्रुघाती को वैदिश नगरी। उसी प्रकार संपत्ति, सेवक आदि सब कुछ उन दोनों को बाँट दिये और आप अकेले ही रथ पर चढ़ कर शीघ्र ही अयोध्याजी

को जा पहुँचे तथा श्रीरामचन्द्रजी के दर्शन कर के उन्हें सौगंध दे कर कहा कि "आप अपने साथ मुझे भी ले चलियेगा। मेरी इच्छा को न टालिये।" उनका निश्चय देख कर श्रीरामचन्द्रजी ने उनका भी कहना मान लिया। इतने में सहस्रों बंदर, रीछ और राक्षस भी वहाँ पर आ पहुँचे। और सुग्रीव ने हाथ जोड़ कर कहा:—"आपके स्वर्ग को जाने के समाचार पा कर मैं अंगद को राज्याभिषेक कर, आपके साथ ही चलने का निश्चय कर के ही यहाँ पर आया हूँ; अतः आप मुझे भी अपने साथ ले चलियेगा।" सुग्रीव की तरह दूसरों ने भी प्रार्थना की और इस बात का आग्रह किया कि यदि आप हमारी प्रार्थना का स्वीकार न करेंगे तो हम यही समझेंगे कि हमें मृत्यु का ही दंड दिया गया है। तब श्रीरामजन्द्रजी ने उन सबका कहना मान्य कर लिया। फिर उन्होंने विभीषण से कहा:—"जब तक सूर्य और चंद्र स्थित हैं, तब तक तुम लंका का राज्य करना।" और हनुमानजी से भी कहा कि, "जब तक इस जगत में श्रीराम-कथा प्रचलित रहेगी, तब तक तुम्हें जीवित रहने की इच्छा है; तदनुसार तुमको रहना होगा।" अनन्तर जाम्बवान् से कलियुग का आरंभ होने तक रहने के लिए कह कर शेष सभी को अपने साथ चलने की आज्ञा दी।

दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही श्रीरामचन्द्रजी के वसिष्ठ महर्षि से अग्निहोत्र को आगे ले कर वाजपेय के छत्र सहित चलने के लिए प्रार्थना करते ही वे दैदीप्यवान् अग्नि और यज्ञ के छत्र को ले कर आगे की ओर चलने लगे। पीछे से श्रीरामचन्द्रजी महा प्रस्थान का कर्म कर के, मुख से एक शब्द भी न निकाल

कर शरयू-तीर की ओर चल दिये। उनके आस-पास दिव्य अस्त्र, वेद और गायत्री मनुष्य के भेष बना कर जा रहे थे। पीछे से अन्तःपुर के स्त्री, बालक और परिजनों सहित सारे मनुष्य भी चल दिये। उनके पीछे अपने-अपने अन्तःपुर सहित भरत और शत्रुघ्न; उनके पीछे सारे मंत्री, प्रधान आदि; फिर पुत्रदारादि सहित सारे पौरजन और फिर सारे बंदर, रीछ और राक्षस मिल कर लाखों मनुष्यों का झुंड चल दिया। सभी के हृदयों में अवर्णनीय आनंद और उत्साह भरा हुआ था और वे सभी अपनी इच्छा के अनुसार ही अपने प्राण त्यागने के लिए तैयार हो गये थे। श्रीरामजी के महाप्रस्थान को देखने के लिए जो लोग बाहर से आये हुए थे, वे भी आनंदपूर्वक उस समूह में सम्मिलित हो गये। केवल वे ही नहीं वरन् पशु पक्षी भी अयोध्या से निकल कर श्रीरामजी के पीछे हो लिए। अयोध्या में जितने जीवित प्राणी थे, वे सभी वहाँ से चल दिये। नगर में तो केवल सूने घर ही शेष रह गये थे। इस प्रकार उन सबके डेढ़ योजन दूर चले जाने पर श्रीरामचंद्रजी शरयू नदी के पश्चिम वाहिनी होने वाले स्थान पर पहुँचे। तब उस प्रचंड जन-समूह पर आकाश से पुष्पों की वर्षा होने लगी; लाखों दिव्य विमान आकाश में दिखाई देने लगे और उत्तम सुगंधित वायु बहने लगी। श्रीरामचंद्रजी के शरयू में स्नान करते ही वे दिव्य वैष्णव शरीर में मिल गये। उसी प्रकार भरत शत्रुघ्न भी वैष्णव शरीर में मिल गये। अनंतर जो कोई शरयू में स्नान करता था, वह दिव्य देह धारण कर के विमान में बैठ कर स्वर्गलोक को चला जाता था। उस समय उन लाखों लोगों के लिए ब्रह्माजी ने 'संतानार्क' नामक एक स्वतंत्र

स्वर्ग उत्पन्न किया और असंख्य जीवों ने श्रीरामचंद्रजी की भ
से उस तीर्थ में स्नान कर के मुक्ति पायी। इस प्रकार श्रीरा
चंद्रजी के उनकी अमर्यादित भक्ति से अयोध्याजी के स
प्राणियों को उत्तम लोक को पहुँचा देने पर सैकड़ों वर्षों त
अयोध्या नगरी सूनी पड़ी रही। बाद में ऋषभ राज के राज
काल में पुनः बस गई। (उत्तर० सर्ग०—१०२)

उपसंहार

ऐसा कौन भारतवासी होगा, जिसका हृदय वाल्मीकि विरचित श्रीरामचन्द्रजी के इस उदात्त चरित्र को पढ़ कर प्रेम, आल्हाद और आनन्द से न उमड़ उठे? ऐसा कौन आर्य पुरुष होगा, जिसका हृदय इस काल में अपनी सीमा को पहुँची हुई इस आर्य-भूमि की नीति और वैभव को देख कर आनन्द से परिपूर्ण न हो जायगा? यह सत्य है कि हमारे देश का प्राचीन इतिहास बहुत ही कम प्राप्य है, तथापि उस अंधकार-मय प्राचीन काल में भी श्रीरामचन्द्रजी का समय मानों शरद् पूर्णिमा की रात की नाईं शुभ्र और आल्हाद जनक प्रकाश से परिपूर्ण है। उस समय की श्रीरामजी की मनोमोहिनी मूर्ति इस काल में भी पूर्णचन्द्रमा की तरह भव्य दिखाई देती है और श्रीराम-चन्द्रजी से एक पल भर भी अलग न होनेवाली सीताजी, चंद्रमा की चांदनी की भांति अपने पति के साथ शोभा देती हैं। तेजस्वी और शीघ्र-कोपी लक्ष्मण, मंगल के तारे के समान लाल रंगवाले दिखाई देते हैं तथा शांत और प्रेमी भरत, गुरु के तारे की तरह, शुभ्र और कोमल तेज से तत्कालीन भारतीय-गगन को सुशोभित करते हैं। वसिष्ठ-विश्वामित्र, दशरथ-जनक, भरद्वाज-अगस्त्य, कौशल्या-अनसूया आदि अनेक वन्दनीय स्त्री-पुरुषों की विभूतियां भी अपने-अपने तेज से चमकने वाले तारागणों की तरह चमक रहे हैं। अतः यदि, उस उत्कृष्ट समय के लिए हम भारतवासी

आर्यों को सानन्द अभिमान हो तो उसमें आश्चर्य की कौन बात है ? इसलिए यदि हम उस अपूर्व काल के उस चित्र को जो प्रत्येक मनुष्य की आंखों के सामने खड़ा रहता है, शब्द रेखाओं द्वारा इस उपसंहार में अंकित कर दें, तो कहना न होगा कि उससे इस ग्रन्थ की पूर्ति ही होगी।

उस समय हमारे आर्य देश की सीमा, सिन्धु नदी से पूर्वीय गंडकी के उस पार तक और हिमालय से दक्षिणी प्रयाग तक थी। उस देश में कोशल, विदेह आदि अनेक आर्य-राजा थे। उसी प्रदेश में सिन्धु, वितस्ता (जेलम), विपाशा (बियास), शतद्रु (सतलज) आदि पश्चिम की ओर बहने वाली और यमुना, गंगा, शरयू, गण्डकी आदि पूर्व की ओर बहनेवाली नदियाँ थीं। बीच में कुरुक्षेत्र से सरस्वती नदी भी दक्षिण की ओर बहती थी। उन नदियों में हिमालय के हिम (बर्फ) का ठण्डा और मीठा पानी बहता था। उनमें गंगा नदी सब से अधिक विशाल थी और उसका जल अत्यंत शीतल, मधुर, स्वच्छ और पाचक था। लोगों के हृदय में भी उसके लिए इतना पूज्य भाव था कि वे उसे स्वर्णदी अर्थात् स्वर्ग की नदी कहते थे। उस प्रदेश की भूमि समथल और सुफला थी तथा वहां की वायु भी नीरोग, बलवर्धक और समशीतोष्ण थी। इस कारण तथा उस प्रदेश का राज्यप्रबन्ध भी अच्छा होने से वहां के सबलोग बड़े सुखी और प्रसन्न थे। वन को जाते समय राह में कोशल देश को बलवान् और सुखी मनुष्यों से परिपूरित देख कर श्रीरामजी को बड़ा आनन्द हुआ और, वास्तव में देहात के लोगों का हृष्ट-पुष्ट होना ही प्रत्येक देश की सुस्थिति का चिन्ह है। वाल्मीकिजी

ने लिखा है कि श्रीरामचन्द्रजी के रथ के चलने में गौओं के झुण्ड के कारण, बारबार असुविधा होती थी, जिससे ज्ञात होता है कि उस समय छोटे-छोटे ग्रामों में भी सहस्रों गौओं के झुण्ड थे और वे लोगों के लिए विपुल दूध-घी और खेती के लिए सैकड़ों बैलों की पूर्ति करते थे। इस प्रकार आर्यों के उन छोटे-छोटे ग्रामों के वैश्यादि सर्वसाधारण लोग भी गोधन और धान्यादि संपत्ति से युक्त और पूर्ण सुखी थे।

इसमें कोई संदेह नहीं कि किसी भी देश के सर्व-साधारण जन-समाज की सुस्थिति उच्च वर्ग के लोगों की कर्तव्य-परायणता और नैतिक बल पर ही अवलंबित होती है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय के उच्च वर्ग अर्थात् ब्राह्मण और क्षत्रिय कर्तव्यनिष्ठ और तेजस्वी थे, जिससे उस समय आर्यों का तेज और नैतिक बल दोनों वर्णों में पूर्णतया दिखाई देता था! जिस प्रकार आर्य लोग अनार्यों की अपेक्षा बलवान्, सुस्वरूप और सभ्य थे, उसी प्रकार वे उनसे नीति में भी बढ़े-चढ़े थे। इससे ज्ञात होता है कि वे अपनी उच्च नीतिमत्ता के अनुसार ही अपने आपको आर्य कहलवाते थे। आर्य शब्द में उन्होंने तमाम उच्च कल्पना और उदात्त आचरण का समावेश कर दिया था। किसी भी बुरी बात को 'अनार्यजुष्ट' अर्थात् आर्यों में अनादृत कहने की प्रथा चल पड़ी थी। सारांश, लोगों का विश्वास था कि आर्यों का आर्यत्व, उनकी उदात्त-नीतिमत्ता पर ही अवलम्बित है। तद-नुसार ब्राह्मण और क्षत्रिय, अपना आचरण शुद्ध और उच्च रखने के लिए बहुत सावधान भी रहते थे। अतः जिस समाज

के उच्चवर्ग के लोग ऐसे श्रेष्ठ हों, उसमें क्या कभी सुख और आनन्द की कमी हो सकती है ?

पहिले हम ब्राह्मणों की स्थिति का ही निरीक्षण करें। स्वयं विद्या पढ़ कर दूसरों को पढ़ाना तथा स्वयं यज्ञ-यागादि करना यही उनका मुख्य कर्तव्य था। उस समय के ब्राह्मण अपने कर्तव्य में तत्पर और मग्न रहते थे। वे स्वयं पढ़ना और दूसरों को पढ़ाना ही अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य समझते थे और अपने इस कर्तव्य का पालन भली प्रकार हो सके, इसी ख्याल से वे प्रायः नगरों में नहीं बल्कि शहरों के बाहर अथवा अरण्य में आश्रय बना कर रहते थे। वसिष्ठजी का आश्रम अयोध्या के पास ही था। वाल्मीकि तमसा और गंगा के संगम पर रहते थे। और विश्वामित्र गंगा के पार सिद्धाश्रम में रहते थे। राजा-जनक के पुरोहित गौतम भी मिथिला के पास ही एक सुन्दर वन में रहते थे। इस प्रकार ब्राह्मण केवल निर्भीक स्थानों पर ही आश्रम बना कर नहीं रहते थे वरन् बड़े-बड़े भयंकर अरण्यों में भी रहा करते थे। दंडकारण्य में भी अनेक ऋषि स्थान-स्थान पर आश्रम बना कर रहते थे। अत्रि, सुचक्षु, अगस्त्य आदि ऋषियों के आश्रम उसी भयंकर अरण्य में थे और वे कभी-कभी अपनी रक्षा के लिए शस्त्र धारण भी कर लिया करते थे। ब्राह्मणों के मुख्य कर्तव्य विद्यार्जन और विद्यादान से वे कभी विमुख नहीं हुए।

उस समय के विद्यालयों के वर्णन पढ़ कर के भी अत्यन्त आनन्द होता है। प्रायः वे आश्रम नगर के कोलाहल और अशान्ति से दूर किसी नदी के तट पर शांत और रमणीय स्थानों में ही हुआ करते थे। आश्रमों के आस-पास सुंदर बगीचे

और खेत होते थे। आश्रमों में रहने वाले ऋषि और विद्यार्थी अपना निर्वाह प्रायः स्वयं परिश्रम कर के कर लिया करते थे। विद्यार्थी वन में से लकड़ियाँ चुन कर आश्रमों के पास एकत्रित कर देते तथा वन से कंद, मूल और फल भी लाया करते थे, इस प्रकार विद्यार्थियों पर केवल विद्याभ्यास का ही भार नहीं पड़ता था वरन् वे अरण्यों और वनों में घूम कर शारीरिक-परिश्रम भी किया करते थे। इन आश्रमों के भीतर शांत और रमणीय दृश्य दिखाई देता था। उनमें सुंदर-सुंदर पक्षी और मृग आनंद से निर्भयतापूर्वक इधर-उधर घूमते रहते थे। इन्द्र, वरुण, यम आदि वैदिक देवताओं के मंदिर तथा अग्नि की होमशाला भी आश्रमों में होती थी। वहां विद्यार्थियों के रहने के लिए अलग स्थान हुआ करते थे। इस प्रकार के शांत और आनंदमय स्थानों पर विद्यार्थियों का विद्याध्ययन बिना किसी असुविधा के होता था। सांसारिक दुःख और मोह का उन्हें आभास तक नहीं हो पाता था। फिर यदि ऐसे पवित्र वायुमण्डल में ऋष्यश्रृंग के सदृश तेजस्वी और पुण्यशील विद्यार्थी उत्पन्न हों तो उसमें कौन आश्चर्य की बात है ?

उन आश्रमों की पाठशालाओं में केवल ब्राह्मण ही नहीं वरन् तीनों वर्णों के विद्यार्थी अध्ययन के लिए जाया करते थे और उन्हें धार्मिक-शिक्षा के अतिरिक्त अपने-अपने कर्तव्य के योग्य, अन्य प्रकार की शिक्षा भी ब्राह्मण ही दिया करते थे। तीनों वर्णों को पढ़ाने का उत्तरदायित्व ब्राह्मणों ही ने अपने सिर पर ले लिया था और अन्य वर्णों के लोग उनके निर्वाह की व्यवस्था करना अपना कर्तव्य समझते थे। ऊपर कहा जा चुका है कि

आश्रमों में रहनेवाले ऋषि अपने निर्वाह के लिए दूसरों पर अवलम्बित नहीं होते थे, तो भी राजा लोग उन्हें कभी-कभी द्रव्य दे दिया करते थे। श्रीरामचन्द्रजी ने वन को जाते समय अपना सारा द्रव्य ब्राह्मणों को बाँट कर कहा था:—"लक्ष्मण, हमेशा स्वाध्याय-निरत होने के कारण ब्राह्मण कभी अपने निर्वाह की चिंता नहीं करते; अतः ब्राह्मणों को दान देना हमारा परम कर्तव्य है।" इस प्रकार विद्यार्जन और विद्यादान में मग्न रहने वाले ब्राह्मणों को दान देना लोग अपना मुख्य कर्तव्य-धर्म समझते थे। ब्राह्मण भी निर्वाह की चिंता से मुक्त हो जाने पर अपने विद्यादान के कर्तव्य का पालन भलीभांति करते थे।

विद्यार्जन के अनन्तर भजन करना भी ब्राह्मणों का दूसरा कर्तव्य था। जिस प्रकार ब्राह्मणों का मुख्य कार्य दूसरों को विद्याध्ययन कराना था, उसी प्रकार दूसरों के द्वारा यज्ञ कराना भी उन्हीं का काम था। अश्वमेव जैसे यज्ञ करने का अधिकार केवल क्षत्रियों को ही था; अतः वे उस कार्य को उन्हींके द्वारा कराते थे, पर उस ओर उनका अधिक ध्यान नहीं था। स्वयं यज्ञ करना ही उनका ध्येय था। रामायण में लिखा है कि विश्वामित्र ने स्वयं यज्ञ किया था। ब्राह्मणों के करने के योग्य भी अनेक यज्ञ थे। भगवद्‌गीता के अनुसार 'यज्ञानां जप यज्ञोस्मि' अर्थात् सभी प्रकार के यज्ञों में मुख्य-यज्ञ जप ही है, अतः उस समय के ब्राह्मण तो अपनी शेष आयु और शेष समय तप करने ही में बिताते थे। इस प्रकार विद्या और तप करने वाले ब्राह्मण स्वभावतः ही दूसरों को सर्वथा पूज्य और वंदनीय होते थे; क्योंकि विद्या और तप का सामर्थ्य अलौकिक और विलक्षण होता है।

विश्वामित्र के कथनानुसार "धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्" विद्या और तप की ही उन्होंने प्रशंसा की थी।

जिस प्रकार उस समय के ब्राह्मण कर्तव्य-निष्ठ होते थे, उसी प्रकार क्षत्रिय भी अपना धर्म-पालन करते थे। पठन और भजन तो ब्राह्मणों के साथ उनके सामान्य कर्तव्य थे, पर युद्ध और प्रजापालन उनके विशिष्ट कर्तव्य थे; अतः उस समय के क्षत्रिय उन सभी कर्तव्यों में चतुर और प्रसिद्ध थे। विद्या संपादन करने के कार्य में भी ब्राह्मणों से वे किसी प्रकार कम नहीं थे। "यथा-वत्सांग वेदवित्" शब्दों से दशरथजी के सामने उनकी प्रजा ने श्रीरामचन्द्रजी की प्रशंसा की थी। कहना न होगा कि श्रीराम-चन्द्रजी ने वसिष्ठजी के पास ही उनके आश्रम में रह कर वेदों का अध्ययन किया था। अस्तु, उस समय के क्षत्रिय केवल वेद-विद्या ही सीख कर नहीं रह जाते थे, वरन् यथावत् वैदिक-कर्म भी किया करते थे। इसलिए श्रीरामचन्द्रजी के यथासमय संध्यादि कर्म करने का वर्णन करना वाल्मीकि नहीं भूले। केवल इतना ही नहीं वरन् उन्होंने श्रीरामजी के वास्तुशमन आदि कार्य यथावत् करने का भी वर्णन किया है। सारांश, उस समय के क्षत्रिय पठन और भजन-कार्य में ब्राह्मणों की तरह विद्वान् और कुशल थे।

शत्रुओं के साथ युद्ध करना क्षत्रियों का विशिष्ट कर्तव्य होने से वेद-विद्या का अध्ययन करने के अनंतर वे युद्धोपयोगी सारी विद्याएँ भी सीखते थे। तलवार घुमाना, घोड़े पर बैठना, हाथियों के साथ खेलना आदि विद्या भी वे बड़े परिश्रम से सीखते थे। तैरना आदि उपयोगी कलाओं में भी वे चतुर होते थे। श्रीराम-

लक्ष्मणजी के सीताजी को प्लव पर बैठा कर उस प्लव को तैरते हुए यमुना के दूसरे तट पर ले जाने की बात पढ़ कर उनकी चातुरी के विषय में आश्चर्य होता है। क्षत्रियों का सब से अधिक ध्यान धनुर्विद्या की ओर था; क्योंकि उस समय आयुधों में धनुष ही श्रेष्ठ था। वे धनुर्विद्या में इतने चतुर थे कि शब्दवेधी शर-संधान किया करते थे। मृगया भी एक तरह से युद्ध की शिक्षा होने के कारण क्षत्रिय लोग मृगया किया करते थे और बाघ, सिंह, हाथी आदि भयंकर पशुओं को भी वे बाणों से मारते थे। केवल इतना ही नहीं वरन् क्षत्रियों ने तो अपने सामर्थ्य को यहां तक बढ़ा लिया था कि हम पढ़ते हैं कि केवल "अपनी भुजाओं के ही बल पर व्याघ्रों से युद्ध कर के उन्हें मार डालने वाले सैकड़ों "क्षत्रिय" राजा दशरथ के आश्रम में थे। अस्तु, शरीर में चाहे कितना ही अधिक बल हो और आदमी शस्त्र-विद्या में भी चतुर हो; तौ भी यदि उसमें धैर्य न हो तो सारी बातें व्यर्थ हैं। पर, उस समय के क्षत्रियों ने अपने धैर्य को भी इतना बढ़ा लिया था कि युद्ध से मुँह मोड़ कर लौट आना तो वे बिलकुल जानते तक नहीं थे। उस समय के क्षत्रिय 'युद्धेचाप्यपलायनं' अपना विशिष्ट गुण मानते थे। उनका विश्वास था कि युद्ध-भूमि से भागते हुए, पीठ पर घाव लगने के सदृश कोई महा पाप नहीं होता। भरतजी ने अपने मन की शुद्धता के विषय में जितनी शपथें ली थीं, उनमें उन्होंने एक यह शपथ भी ली थी कि 'युद्ध से भागते हुए मेरी पीठ पर घाव लगे। सारांश; शस्त्र-कौशल्य, शरीर-सामर्थ्य और शौर्य में उस समय के क्षत्रिय अग्रणी थे। अतः वे अपने शत्रुओं को भयभीत करने वाले और अजेय मालूम होते थे।

शत्रु को जीत लेना शायद आसान होगा, पर, अपने आप-को जीतना अत्यन्त कठिन है। और अपने मन को जीते बिना प्रजा का यथान्याय पालन भी नहीं हो सकता। जैसा कि दश-रथजी ने श्रीरामचन्द्रजी को यौवराज्य पद देते समय अपने उप-देश में कहा था, राजा को विनयशील बनना चाहिए और काम-क्रोधादिकों को तो अपने पैरों तले रौंद डालना चाहिए। यह तो स्पष्ट ही है कि जिनमें शस्त्र-सामर्थ्य और शारीरिक बल अधिक होता है, उनके लिए यह बात अत्यन्त कठिन होती है। पर, वह ज्ञान और सुशिक्षा से साध्य हो सकता है। जिस प्रकार उस समय के क्षत्रिय युद्ध करने योग्य हुआ करते थे, उसी प्रकार सुशिक्षा के कारण वे प्रजा का योग्य रीति से पालन भी कर सकते थे। उनका वेदाध्ययन गुरु-गृह पर ही होने के कारण उन्हें सहज ही में विद्या और विनय दोनों प्राप्त हो जाते थे। इसके अतिरिक्त प्रायः सबको गुरु-गृह पर राजधर्म की शिक्षा भी मिल जाया करती थी। मनुजी के समय से राजधर्म निश्चित किया जा चुका था, अतः राजाओं को कभी इस बात के जानने में कोई कठिनाई नहीं होती थी कि अपनी प्रजा के प्रति हमारा क्या कर्तव्य है। सारांश; उस समय के क्षत्रिय प्रजा-पालन धर्म को भी योग्य रीति से निबाहते थे।

वाल्मीकिजी ने तो राजा के प्रजा के प्रति कर्तव्यों और राजा के आचरण का अत्यन्त उदात्त चित्र अंकित किया है। इसी लिए हम अपनी कल्पना में राम-राज्य को सर्वोत्कृष्ट राज्य मानते हैं। और सर्वोत्कृष्ट राजा के तमाम मुख्य लक्षण हमें श्रीराम-चरित्र में दिखाई देते हैं। उस समय यह सिद्धान्त सर्व-

असम्भव हो गया कि राजा जो ज़मीन के उत्पन्न का छठा हिस्सा लेता था, वह इसीलिए लेता है कि उसपर प्रजा की रक्षा और पालन का भार है। भरतजी की पूर्वोक्त शपथों में एक यह थी कि षड्यंत्र से यदि मेरी सहानुभूति भी हो मैं उसी पाप का भाजन होऊँ जो छठा भाग लेने पर भी प्रजा की रक्षा न करने वाले राजा को लगता है। इसके अतिरिक्त उस समय के लोगों का भी यह दृढ़ विश्वास था कि राज्य-रूपी भवन सत्य की नींव पर ही खड़ा रह सकता है। जब जाबालि ने श्रीरामचन्द्रजी से कहा कि यदि चौदह वर्ष तक वन में रहने के विषय में राजा दशरथ को दिये हुए वचन का पालन न भी करो तो कोई हानि नहीं है; तब उन्होंने सत्य की बड़ी प्रशंसा की और खास कर यह बताया कि राजा को सत्य-पालन क्यों करना चाहिए। लोगों का भी यही विश्वास था कि प्रजा को सुखी रखना ही राजा का मुख्य तथा श्रेष्ठ कर्तव्य है।' अतः राजा भी अपना सर्वस्व खर्च करके भी प्रजा को सन्तुष्ट रखते थे। लोग यह भी मानते थे कि अधर्म से कोई राज्य कभी टिक ही नहीं सकता, और यदि धर्म का पालन नहीं किया जावेगा तो प्रजा का अकल्याण होगा; इसीसे राजा लोग धर्म-पालन को अपना पवित्र कर्तव्य समझते थे। अस्तु। इन चार तत्वों का जिस रामराज्य में पूर्णतया पालन होता था उसकी उत्तमता के विषय में तो कहना ही क्या है? इसीसे यदि हम यह कहें कि राम-राज्य में सभी प्रकार के सुख थे तो आश्चर्य मानने की कोई बात नहीं है।

यहाँ पर यह भी लिखने की आवश्यता नहीं है कि उस आदर्श राज्य में प्रजा भी धर्म और न्याय के अनुसार अपना

आचरण रखती थी। धर्म और नीति के अहिंसा, अस्तेय आदि जिन अंगों का वर्णन मनुजी ने किया है, उनका पूर्णतया पालन उस समय, किया जाता था। बड़ों को, अर्थात् माता-पिता गुरु, बड़े भाई आदि को लोग बड़ी पूज्य दृष्टि से देखते थे। श्रीरामचन्द्रजीने भी कहा था कि माता-पिता की सेवा करना और उनकी आज्ञा का पालन ही मेरा परमधर्म है। जिस प्रकार लोग बड़ों के विषय में आदर-भाव रखते थे, उसी प्रकार वे सज्जनों का भी बड़ा आदर करते थे। तथा सज्जनों के आचरण के अनुसार अपना बर्ताव रखने का लोगों को बड़ा चाव था। बड़ों के विषय में भक्ति, तृष्णा का नियमन और सज्जनों का अनुकरण ही, भरद्वाजजी के कथनानुसार, आर्यनीति के मुख्य लक्षण हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि बिना तृष्णा का नियमन किये सन्मार्ग का अवलंब नहीं किया जा सकता। लोभ ही पाप का मूल कारण है; अतः उसे अपने वश में किये बिना धर्म और नीति का पालन नहीं किया जा सकता। अस्तु। लोग सत्य को भी बहुत पसंद करते थे। उनका विश्वास था कि सत्य बोलना और सत्याचरण रखना ही परमश्रेष्ठ साधन है। उसके विषय में ब्राह्मण तो और भी अधिक सावधान रहा करते थे। "उत्क्रान्तमृषिं यथा" 'असत्य बोलने वाले ऋषि की नाईं, तेज रहित हो जाने की उपमा रामायण में पढ़ कर किस ब्राह्मण को अभिमान और खेद एक साथ नहीं होगा? उस समय के लोग यह यह भी मानते थे कि परदाराभिलाष के समान कोई घोर पाप नहीं है तथा वे पर-द्रव्य का अपहार करने को भी बड़ा भारी पाप मानते थे। ब्राह्मणों और पीड़ितों को दान देना अच्छा समझा

जाता था और बिना किसी कारण के भिक्षा मांगना भी अनुचित समझा जाता था बरन् भरतजी की एक शपथ से तो यह भी ज्ञात होता है कि भिक्षा माँगने को वे घोर पाप समझते थे। लोगों को मद्यपान से बड़ी घृणा थी और विशेष करके समाज को धार्मिक शिक्षा देने के अधिकारी ब्राह्मण ही जब मद्यपान करने लगते थे तब तो लोग अत्यन्त चिढ़ जाते थे। और, यदि ऐसा कोई ब्राह्मण होता तो उस पर मार्गों में कूड़ा-कर्कट फेंका जाता था। सारांश; धर्म के विषय में उनका अत्यन्त पूज्य भाव था। यहाँ तक कि वे धर्म पालन के लिए अपनी प्रिय वस्तु का भी त्याग कर देते थे। उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य अपनी कीर्ति को निष्कलंक बनाये रखने का प्रयत्न करता था। उनका विश्वास था कि लोग जिस मनुष्य की अपकीर्ति गाते हैं, उसकी बहुत ही बुरी गति होती है। प्रत्येक मनुष्य अपने शील को भी कायम रखने के लिए प्रयत्न करता रहता था; क्योंकि लोग जानते थे कि अच्छा शील ही सज्जनों के लिए भूषणावह होता है। इस प्रकार उस समय प्रायः सभी लोग धर्म; सदाचरण और नीति के मार्ग का अनुकरण करते थे।

उस समय स्त्रियों के कर्तव्य की कल्पना भी अत्यन्त उदात्त थी। आर्य-स्त्रियाँ अर्थात् आर्य-स्वभाव की स्त्रियाँ तो पति को ही देवता, गुरु और बन्धु मानती थीं। वे बड़े आनन्द से पति के साथ बन को जाने के लिए तैयार हो जाती थीं और पति के सभी संकटों में साथ देना भी अपना कर्तव्य मानती थीं। उनका विश्वास था कि पिता ने जिसको एक बार अपनी कन्या दे दी, बस तब से वह उसकी हो गई। पति के सहवास के सुख के

आगे वे स्वर्गीय-सुख को भी तुच्छ जानतीं और उसके विरह में राज-वैभव भी उनके लिए नर्क से अधिक दुःखदायी होता था। पति की सेवा करने में वे बड़ा आनन्द मानती थीं। राज-वैभव के होते हुए, सेवकों की कमी न होने पर भी, जब श्रीरामचन्द्रजी बैठते थे, तब सीताजी खड़ी रह कर उनपर पंखा झलती रहती थीं! अतः केवल इस बात से ही ज्ञात हो सकता है कि उक्त भावनाओं और आचरण वाली स्त्रियाँ कितनी तेजस्वी होंगी? यदि यह भी कहा जावे तो अत्युक्ति नहीं होगी कि वैसी स्त्रियों के आसपास सद्‌गुण रूपी एक अभेद्य कवच ही रहता था। लोगों का विश्वास था कि पतिव्रता स्त्रियों का किसी प्रकार से अपमान करना मानों ईश्वरीय क्षोभ को निमन्त्रित करना ही है। वे यह भी मानते थे कि पतिव्रता स्त्री के आंसू पृथ्वी पर कभी व्यर्थ नहीं गिरते।' सारांश, उस समय की स्त्रियां पतिव्रता रूपी सद्‌गुणों के कारण स्वयं, पति और समाज के लिए भूषणा-वह थीं। अन्य बातों में भी उस समय की स्त्रियाँ विशेष कर ब्राह्मण और क्षत्रिय स्त्रियाँ बड़ी योग्य मानी जाती थीं। वे अपने घर पर—गुरु-गृह पर नहीं—वेदों का अध्ययन करतीं और उन्हें संध्या, होम आदि वैदिक कर्म करने के अधिकार प्राप्त थे। क्षत्रिय स्त्रियों को तो क्षत्रोपयोगी विद्या भी सिखलाई जाती थीं। रणभूमि पर कैकेयी की, राजा दशरथ का सारथ्य करने की बात को पढ़ कर कौन आश्चर्य-चकित नहीं होगा? प्रायः स्त्रियाँ समाज के बाहर नहीं निकलती थीं; तो भी किसी उत्सव में वा यज्ञ के समय अथवा विवाह के शुभ समय पर बाहर समाज वे जाती-आतीं और इसमें कोई आपत्ति भी नहीं

थी। इस प्रकार स्त्रियों के—योग्य शिक्षा मिलती थी। उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता भी प्राप्त थी और वे अपने गृहकार्यों में भी हर प्रकार से चतुर थीं।

पर इससे हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि उस समय के सभी लोग धर्मशील और नीतिमान् थे अथवा सारी स्त्रियाँ सद्‌गुण संपन्न और सुगृहिणियाँ होती थीं; तो भी "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरेजनाः" इस गीता-वाक्य के अनुसार समाज के नेता, यदि धर्म और नीति युक्त आचरण रक्खें, तो यह कहा जा सकता है बहुजन समाज भी प्रायः नीति और धर्म के मार्ग पर ही चलता है। इतने पर भी यदि समाज में कुछ पापाचरणी मनुष्य हों तो उसमें कोई आश्चर्य भी नहीं है। पर, उनका झुकाव भी सन्मार्ग की ओर ही रहता था; क्योंकि उस समय के लोगों का यह विश्वास था कि पापी मनुष्य को राज-दंड मिल जाने पर वह उस पाप से मुक्त हो जाता है, उसी तरह जैसे आग में तपने पर सोना। इस दृढ़ मान्यता के कारण पापी लोग अक्सर राजा के सामने अपना अपराध कुबूल कर लेते; बल्कि कभी कभी तो वे स्वयं ही राजसभा में उपस्थित हो कर अपने अपराध के बदले राजाओं से दंड मांग लेते थे। उनका यह विश्वास था कि यदि राजा अपराधियों को दंड न दे तो वह दंड स्वयं उसे भोगना पड़ता है। निरपराधी को दण्ड देना और अपराधियों को दण्ड न देना राजाओं के लिए बड़ा पाप-कर्म समझा जाता था। इस प्रकार के दण्ड से राजपुत्र भी नहीं बच सकते थे। यदि राजपुत्र उन्मत्त बनकर प्रजाओं के प्राण लेते अथवा पर-स्त्री की ओर बुरी दृष्टि से देखते, तो वे राज से निकाल दिये जाते थे।

सारांश, उस समय प्रजा को योग्य न्याय मिलता था और प्रत्येक अपराधी को दंड भी योग्य दिया जाता था।

प्रजा का योग्य न्याय करना ही राजा का श्रेष्ठ और मुख्य कर्तव्य समझा जाता था। लोगों के दिल में हमेशा यह डर बना रहता था कि यदि न्याय-अन्याय, साधु-असाधु आदि बातों का निर्णय करने वाला राजा देश में न होगा तो चारों ओर अशांति फैल जावेगी। लोग अराजक स्थिति को बड़ी भयंकर समझते थे, इसीलिए वे राष्ट्र के लिए राजा को आवश्यक मानते थे। यदि राज्य में कोई वैसा अधिकारी पुरुष न होता, तो वे सभा करके न्याय करने के लिए स्वयं ही किसी को अपना राजा चुन लेते थे। प्रतिदिन राजसभा में जाकर लोगों का न्याय करने के लिए राजा बाध्य किया जाता था। यदि राजा भोग विलास में मस्त हो कर न्याय करने में सुस्ती करते तो ब्राह्मण कभी-कभी उन्हें शाप भी दे दिया करते थे। राजा राजसभा अर्थात् अपने अष्ट प्रधानों के परामर्श ही से प्रजा को फैसला सुनाया करते थे। और महत्वपूर्ण राजकीय कार्यों में वे सब की सलाह भी ले लिया करते थे। उस प्रकार की लोक-सभा में चारों वर्णों के लोग और मांडलिक (आधीन) राजा भी बुलाये जाते थे। राजा के वृद्ध हो जाने पर उसकी सहायता करने के लिये बड़े पुत्र को युवराज बना दिया जाता था। और उसको निर्णय करने तथा अन्य कुछ अधिकार भी दे दिये जाते थे। दुंदुभि और श्वेत छत्र राज-चिन्ह माने जाते थे। राजा के रथ को आठ घोड़े जोते जाते थे। उसी प्रकार, समय-समय पर सूत, मागध आदि बंदीजन राजा और राजवंश के गुणों और यश का वर्णन करते और उन्हें केवल

नियत समय की याद ही दिला कर नहीं रह जाते वरन् अपने यश को क़ायम रखने के लिए उत्साहित भी किया करते थे। इस प्रकार न्यायानुसार प्रजा का पालन करके, राज्य का उपभोग करते-करते, विशेष वृद्ध होने पर सांसारिक मोह-बन्धनों को तोड़ कर अपने राज्य का त्याग करके राजा वन को चले जाते अथवा किसी तरह से मोक्ष के मार्ग का अनुगमन करते थे।

इस प्रकार उस समय भारतीय आर्यों की सामाजिक, नैतिक और राजकीय स्थिति सभी प्रकार से उन्नति के शिखर पर पहुँच चुकी थी। यह बात स्पष्ट है कि जिस समाज में प्रवृत्ति और निवृत्ति का यथायोग्य सेवन हुआ हो, उस समाज की उन्नति हुए बिना कभी नहीं रह सकती। मनुजी का 'कामात्मता न प्रशस्ता नचैवेहास्त्यकामता' यह अमूल्य वचन ध्यान में रखने योग्य है। विलास-प्रिय मनुष्य या समाज की अवश्य ही अवनति होती है। हाँ, अत्यंत निरीह अथवा निराश वृत्ति से भी मनुष्य-समाज नहीं जीता रह सकता। सारांश, प्रवृत्ति और निवृत्ति का यथा-योग्य सेवन करने ही में सच्चा सुख और उन्नति है और भारतीय आर्य उस उन्नत दशा को पहुँच गये थे। उस समय के आर्य ऊँचे, गोरे, सुंदर, बलवान् और बुद्धिमान् होते थे। उनका उत्साह और तप एकसा चमकता था। उनका विश्वास था कि संसार में उत्साह ही मनुष्य का मुख्य बल है तथा ऐसे लोगों के पौरुष को वे व्यर्थ मानते थे, जो अपने तेज से अपमान का परिमार्जन नहीं करते थे। वे उद्योग करने के विषय में तो बड़े प्रसिद्ध थे। बार बार असुविधाएँ अथवा निराशा के धर दबाने पर भी वे अपने उद्योग को नहीं छोड़ते थे। दीर्घ उद्योग के लिए भगीरथ का नाम तो

इतना प्रसिद्ध है कि आर्य भाषाओं में उनका नाम ही अथक महान् उद्योग का पर्यायवाचक हो गया है। आर्यों में उद्योग के साथ-साथ साहस की भी कमी नहीं थी। बड़े-बड़े अरण्यों में घुसने अथवा विदेशी क्रूर लोगों में सम्मिलित होने से, वे भयभीत नहीं होते थे। सारांश, उत्साह, तेज, उद्योग, साहस, आदि भौतिक उन्नति करने के योग्य गुण भी उनमें पूर्णतया विराजते थे। तिस पर भी उनमें यह एक विशेषता थी कि धर्म, नीति, तप, अनासक्ति आदि गुण भी उनमें थे। इसीसे उस समय उनकी सभी प्रकार से उन्नति हुई थी। केवल इतना ही नहीं वरन् राक्षसों के बलवान् राज्य को भी जीतने में उन्हें किसी प्रकार की असुविधा नहीं हुई।

यह तो ऊपर लिखा ही जा चुका है कि उस समय आर्यों के राज्य हिमालय से लगा कर प्रयाग तक फैले हुए थे। उस समय यमुना के दक्षिण में गोदावरी तक निर्जन और भीषण अरण्य था और वह दण्डकारण्य कहलाता था। वर्तमान मध्यप्रदेश की सीमा प्रायः दंडकारण्य से मिलती जुलती है। इस समय भी उस प्रांत में बड़े-बड़े अरण्य तथा विन्ध्यादि और सतपुड़ा पर्वतों के विस्तृत और दुर्गम श्रेणियां हैं। उस समय आर्यों ने उस दंड-कारण्य में भी बहुत से आश्रम अच्छे-अच्छे स्थानों पर बनाये थे। दक्षिण में गोदावरी के पार लंका तक अनार्यों की घनी बस्ती थी। उनमें राक्षस अत्यंत बलवान् थे और लंका में उनका एक अत्यन्त सुख-संपन्न प्रबल राज्य था। ये राक्षस शरीर से दृढ़, कृष्णवर्ण क्रूर और कपटी थे। यहाँ पर राक्षस और असुर के भेद को भी ध्यान में रखना योग्य है। असुर तो आर्यों के ही

भाई बंद थे, और वे उत्तर में सिंधु नदी के पार रहते थे, पर राक्षस अनार्य थे और वे दक्षिणीय समुद्र-तट पर रहते थे। अस्तु, राक्षसों में सब से भयंकर दुर्गुण यह था कि वे नर-मांस भी खाते थे। दंडकारण्य में बस्ती करने वालों को उनसे बहुत कष्ट हुआ करता था। केवल यही नहीं बल्कि अनेकों मनुष्यों को मार कर के भी वे खा जाते थे। इसके अतिरिक्त पर-स्त्री अथवा कन्या को बल-पूर्वक चुरा कर उसके साथ विवाह करने की भी उनमें प्रथा थी। हमारे धर्मशास्त्रों में ऐसे विवाह को राक्षस विवाह कहा भी तो है। राक्षसों के उक्त दोनों अवगुणों ही के कारण आर्यों का उनसे बारम्बार विरोध हुआ करता था। उसी समय से प्राय: देश निकाले की सजा पाने वाले राजपुत्रों को दंडकारण्य में भेजने की प्रथा चल पड़ी थी। इस प्रथा का यह भी एक उद्देश्य हो सकता है कि वे क्षत्रिय-कुमार दंडकारण्य के आश्रमों में रहने वाले ब्राह्मणों को राक्षसों के विरुद्ध सहायता दे सकें। अस्तु, केवल इसी कारण से श्रीरामचन्द्रजी का राक्षसों से विरोध उत्पन्न होने तथा उनके अलौकिक पराक्रम के बल पर राक्षसों के बलाढ्य राज्य का नाश हो जाने का सारा हाल इस चरित्र में लिखा गया है। सारांश; भारतवर्ष के एक छोर से ले कर दूसरी छोर तक के नरमांस भक्षण करने वाले राक्षसों का नाश करना ही श्रीरामचन्द्रजी के अवतार का मुख्य कार्य था। पर, उस कार्य को करते हुए भी अपने अत्यन्त उदात्त चरित्र के द्वारा उन्होंने लोगों के सामने नीति का अत्युच्च आदर्श खड़ा कर दिया है। "लक्ष्मण, अपराधियों और निरपराधियों को एकसा ही दंड नहीं देना चाहिये; यह कह कर भयंकर संकट के

समय भी उन्होंने नीति का मार्ग नहीं छोड़ा, और अन्त में सुवर्ण तट से घिरी हुई तथा रत्नों से भरी हुई लंका को हस्तगत कर लेने पर भी उसका बिलकुल लोभ छोड़ कर सुवर्ण रत्नों सहित लंका का राज्य विभीषण को सौंप दिया। सारांश, श्रीरामचंद्रजी ने अपने अलौकिक आदर्श से, अपने समय के भारतीय आर्यों को तो वैभव और नीति के उच्चतर शिखर पर बैठा ही दिया पर, हमारे अहोभाग्य हैं कि उन्होंने हम सभी भावी भारतीयों के सामने भी—सांसारिक मनुष्यों के सामने भी इस बात का एक उज्वल उदात्त और उच्च आदर्श उपस्थित कर दिया कि संसार में मनुष्य को कैसा नीतियुक्त और उदात्त आचरण रखना चाहिए।

सस्ता-साहित्य-मंडल, अजमेर.

स्थापना सन् १९२५ ई०; मूलधन ४५०००)

उद्देश्य—सस्ते से सस्ते मूल्य में ऐसे धार्मिक, नैतिक, समाज सुधार सम्बन्धी और राजनैतिक साहित्य को प्रकाशित करना जो देश को स्वराज्य के लिए तैय्यार बनाने में सहायक हो, नवयुवकों में नवजीवन का संचार करे, स्त्रीस्वातंत्र्य और अछूतोद्धार आन्दोलन को बल मिले।

संस्थापक—सेठ घनश्यामदासजी बिड़ला (सभापति) सेठ जमनालालजी बजाज आदि सात सज्जन।

मंडल से—राष्ट्र-निर्माणमाला और राष्ट्र-जागृतिमाला ये दो मालाएँ प्रकाशित होती हैं। पहले इनका नाम सस्तीमाला और प्रकीर्णमाला था।

राष्ट्र निर्माणमाला (सस्तीमाला) में प्रौढ़ और सुशिक्षित लोगों के लिए गंभीर साहित्य की पुस्तकें निकलती हैं।

राष्ट्र-जागृतिमाला (प्रकीर्णमाला) में समाज सुधार, ग्राम-संगठन, अछूतोद्धार और राजनैतिक जागृति उत्पन्न करनेवाली पुस्तकें निकलती हैं।

स्थाई ग्राहक होने के नियम

(१) उपर्युक्त प्रत्येक माला में वर्ष भर में कम से कम सोलह सौ पृष्ठों की पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। (२) प्रत्येक माला की पुस्तकों का मूल्य डाक व्यय सहित ४) वार्षिक है। अर्थात् दोनों मालाओं का ८) वार्षिक। (३) स्थाई ग्राहक बनने के लिए केवल एक बार ॥) प्रत्येक माला की प्रवेश फ़ीस ली जाती है। अर्थात् दोनों मालाओं का एक रुपिया। (४) किसी माला का स्थायी ग्राहक बन जाने पर उसी माला की पिछले वर्षों में प्रकाशित सभी या चुनी हुई पुस्तकों की एक एक प्रति ग्राहकों को लागत मूल्य पर मिल सकती है। (५) माला का वर्ष जनवरी मास से शुरू होता है। (६) जिस वर्ष से जो ग्राहक बनते हैं उस वर्ष की सभी पुस्तकें उन्हें लेनी होती हैं। यदि उस वर्ष की कुछ पुस्तकें उन्होंने पहले से ही ले रखी हों तो उनका नाम व मूल्य कार्य्यालय में लिख भेजना चाहिए। उस वर्ष की शेष पुस्तकों के लिए कितना रुपिया भेजना चाहिये, यह कार्य्यालय से सूचना मिल जायगी।

सस्ती-साहित्य-माला के प्रथम वर्ष की पुस्तकें

(१) दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह—प्रथम भाग (महात्मा गांधी) पृष्ठ सं० २७२, मूल्य स्थायी ग्राहकों से ।≋) सर्वसाधारण से ॥।)

(२) शिवाजी की योग्यता—(ले० गोपाल दामोदर तामस्कर एम० ए० एल० टी०) पृष्ठ १३२ मूल्य ।=) ग्राहकों से ।)

(३) दिव्य जीवन—पुस्तक दिव्य विचारों की खान है। पृष्ठ-संख्या १३६, मूल्य ।=) ग्राहकों से ।) चौथी बार छपी है।

(४) भारत के स्त्री रत्न—(पाँच भाग) इस में वैदिक काल से लगाकर आज तक की प्रायः सब धर्मों की आदर्श, पतिव्रता, विदुषी और भक्त कोई ५०० स्त्रियों की जीवनी होगी। प्रथम भाग पृष्ठ ४१० मू० १) ग्राहकों से ॥।) दूसरा भाग दूसरे वर्ष में छपा है। पृष्ठ ३२० मू० ॥-)

(५) व्यावहारिक सभ्यता—छोटे बड़े सब के उपयोगी व्यावहारिक शिक्षाएँ। पृष्ठ १२८, मूल्य ।)॥ ग्राहकों से ≡)॥

(६) आत्मोपदेश—पृष्ठ १०४, मू० ।) ग्राहकों से ≡)

(७) क्या करें ? (टॉलस्टॉय) महात्मा गांधी जी लिखते हैं—"इस पुस्तक ने मेरे मन पर बड़ी गहरी छाप डाली है। विश्व-प्रेम मनुष्य को कहाँ तक ले जा सकता है, यह मैं अधिकाधिक समझने लगा" प्रथम भाग पृष्ठ २३६ मू० ॥=) ग्राहकों से ।≋)

(८) कलवार की करतूत—(नाटक) (ले० टाल्सटाय) अर्थात् शराबखोरी के दुष्परिणाम; पृष्ठ ४० मू० -)॥। ग्राहकों से -)।

(९) जीवन साहित्य—(भू० ले० बाबू राजेन्द्रप्रसादजी) काका कालेलकर के धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक विषयों पर मौलिक और मननीय लेख—प्रथम भाग-पृष्ठ २१८ मू० ॥) ग्राहकों से ।=)

प्रथम वर्ष में उपरोक्त नौ पुस्तकें १६६८ पृष्ठों की निकली हैं

सस्ती-साहित्य-माला के द्वितीय वर्ष की पुस्तकें

(१) तामिल वेद—[ले० अछूत संत ऋषि तिरुवल्लुवर] धर्म और नीति पर अमृतमय उपदेश—पृष्ठ २४८ मू० ॥=) ग्राहकों से ।≋)॥

(२) स्त्री और पुरुष [म० टाल्सटाय] स्त्री और पुरुषों के पारस्परिक सम्बन्ध पर आदर्श विचार—पृष्ठ १५४ मू० ।=) ग्राहकों से ।)

(३) हाथ की कताई बुनाई [अनु० श्रीरामदास गौड़ एम० ए०] पृष्ठ २६७ मू० ॥=) ग्राहकों से ।≶)॥ इस विषय पर आई हुई ६६ पुस्तकों में से इसको पसंद कर म० गांधीजी ने इसके लेखकों को १०००) दिया है।

(४) हमारे ज़माने की गुलामी (टालसटाय) पृष्ठ १०० मू० ।)

(५) चीन की आवाज़—पृष्ठ १३० मू० ।-) ग्राहकों से ≶)॥

(६) द० अफ्रिका का सत्याग्रह—(दूसरा भाग) ले० म० गांधी पृष्ठ २२८ मू०॥) ग्राहकों से ।=) प्रथम भाग पहले वर्ष में निकल चुका है।

(७) भारत के स्त्रीरत्न (दूसरा भाग] पृष्ठ लगभग ३२० मू० ॥।-) ग्राहकों से ॥≶) प्रथम भाग पहले वर्ष में निकल चुका है।

(८) जीवन साहित्य [दूसरा भाग] पृष्ठ २०० मू० ॥) ग्राहकों से ।≶) इसका पहला भाग पहले वर्ष में निकल चुका है।

दूसरे वर्ष में लगभग १६५० पृष्ठों की ये ८ पुस्तकें निकली हैं

सस्ती-प्रकीर्ण-माला के प्रथम वर्ष की पुस्तकें

(१) कर्मयोग—पृष्ठ १५२, मू० ।=) ग्राहकों से ।)

(२) सीताजी की अग्नि-परीक्षा—पृष्ठ १२४ मू० ।-) ग्राहकों से ≶)॥

(३) कन्या-शिक्षा—पृष्ठ सं० ९४, मू० केवल ।) स्थायी ग्राहकों से ≶)

(४) यथार्थ आदर्श जीवन—पृष्ठ २६४, मू० ॥-) ग्राहकों से ।=)॥

(५) स्वाधीनता के सिद्धान्त—पृष्ठ २०८ मू० ॥) ग्राहकों से ।-)॥

(६) तरंगित हृदय—(ले० पं० देवशर्म्मा विद्यालंकार) भू० ले० पं० पद्मसिंहजी शर्मा पृष्ठ १७६, मू० ।≶) ग्राहकों से ।-)

(७) गंगा गोविन्दसिंह (ले० चण्डीचरणसेन) ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारियों और उनके कारिन्दों की काली करतूतें और देश की विनाशोन्मुख स्वाधीनता को बचाने के लिए लड़ने वाली आत्माओं की वीर गाथाओं का उपन्यास के रूप में वर्णन—पृष्ठ २८० मू० ॥=) ग्राहकों से ।≶)॥

(८) स्वामीजी [श्रद्धानंदजी] का बलिदान और हमारा कर्तव्य [ले० पं० हरिभाऊ उपाध्याय] पृष्ठ १२८ मू० ।-) ग्राहकों से ।)

(९) यूरोप का सम्पूर्ण इतिहास [प्रथम भाग] यूरोप का इतिहास स्वाधीनता का तथा जागृत जातियों की प्रगति का इतिहास है। प्रत्येक भारत-वासी को यह ग्रन्थ रत्न पढ़ना चाहिये। पृष्ठ २६६ मू०॥=) ग्राहकों से ॥-)

प्रथम वर्ष में १७१२ पृष्ठों की ये ९ पुस्तकें निकली हैं